A VARIETY OF THINGS

A VARIETY OF THINGS

BY

MAX BEERBOHM

WILLIAM HEINEMANN LTD
MELBOURNE LONDON TORONTO

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	रुपए १०.००
द्वितीय संस्करण	:	१ ९ ६ १
मुद्रक	:	सैंट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, दिल्ली

CONTENTS

NOTE

"A Variety of Things" was published in 1928 as one of the volumes in a limited edition of my writings. (From the present edition one item, "The Happy Hypocrite" is omitted)

I should mention that "The Guerdon" was written when Henry James was given the Order of Merit, and that "The Dreadful Dragon of Hay Hill" was conceived in the course of the 1914–1918 war, and that "A Social Success" was produced in 1913 by George Alexander

M. B

1953

THE DREADFUL DRAGON OF HAY HILL

राज्य के अन्त के साथ ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापन और संगठन का कार्य भी पूरा हो गया। विदेशी शासन की छाया इस विस्तृत प्रायद्वीप के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसरित हो गई। वस्तुतः अंग्रेजों की भारत विजय एक मंद, अव्यवस्थित और खंडशः सम्पन्न प्रक्रिया थी। यह विजय केवल सामरिक विजय ही नहीं थी। भारत में अपने राज्य-विस्तार के लिए अंग्रेजों ने कई उपायों का प्रयोग किया। इनमें सबसे प्रभावशाली उपाय देशी नरेशों की पारस्परिक ईर्ष्या से लाभ उठाना था। इस चाल में अंग्रेज अपने विपक्षी फ्रांसीसियों से बाजी मार ले गए। पहले पहल उन्होंने दीवानी के रूप में भारतीय प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, तत्पश्चात् दुहरे शासन का छद्मवेश उतार फेंका और अन्त में वे स्वयं शासक ही बन बैठे। इंगलैण्ड के अधिपति चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई को १० पौंड प्रति वर्ष के पट्टे पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हवाले कर दिया। कम्पनी ने निजाम के शासनाधीन प्रदेश में ब्रिटिश सैन्यदल के प्रतिपालन हेतु बरार को निजाम से नकद वेतन के बदले में ले लिया। लॉर्ड डलहौजी की बेदखली की नीति भी बहुत से देशी राज्यों को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत लाने में सफल हुई। पंजाब को तलवार की नोक के बल पर जीता गया। इस प्रकार, अंग्रेजों ने कूट-नीति, सैनिक-विजय और अनैतिक उपायों का अवलम्बन लेकर भारत में अपने साम्राज्य का निर्माण किया।

क्या अंग्रेजों ने भारत, मस्तिष्क की अर्द्ध-चेतन अवस्था में जीता ?—अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आए थे और यहाँ शासक बन कर रहे। कतिपय कहा करते हैं कि यह परिवर्तन आकस्मिक ही हो गया। माना कि भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विस्तार करते समय किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम नहीं हुआ। फिर भी इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि सत्रहवीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रधान सर जोशिया चाइल्ड ने "भारत में सदैव के लिए एक विशाल और सुदृढ़ अंग्रेजी राज्य की नींव डालने" का उद्देश्य अपने सम्मुख रक्खा था। लेकिन सर जोशीया के उत्तराधिकारी इस नीति से सहमत नहीं थे और उन्होंने साधारणतया साम्राज्य-स्थापन को नहीं, प्रत्युत वाणिज्य-विस्तार की ही नीति का पालन किया। १७४६ ई० में कर्नल जेम्स मिल्स नामक एक व्यक्ति ने बंगाल की विजय के लिए एक योजना तैयार की थी। परन्तु चूंकि ब्रिटिश अधिकारी ऐसी किसी योजना के प्रति उदासीन थे, अतः उसने अपनी योजना आस्ट्रिया के सम्राट् के सम्मुख रखी। यह ठीक है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने राज्य-विस्तार सम्बन्धी नीति का बहुधा विरोध भी किया, परन्तु फिर भी यह तर्क बिल्कुल निराधार है कि अंग्रेजों ने भारत, मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था में जीता। हो सकता है कि सुदूर ब्रिटेन में स्थित कम्पनी के संचालकों ने भारतीय प्रदेशों में सत्वर बढ़ते हुए अंग्रेजी

THE DREADFUL DRAGON OF HAY HILL

I

In the faint early dawn of a day in the midst of a golden summer, a column of smoke was seen rising from Hay Hill, rising thickly, not without sparks in it. Danger to the lives of the dressmakers in Dover Street was not apprehended. The fire-brigade was not called out. The fire-brigade had not been called into existence. Dover Street had not yet been built. I tell of a time that was thirty-nine thousand years before the birth of Christ.

To imagine Hay Hill as it then was, you must forget much of what, as you approach it from Berkeley Square or from Piccadilly, it is now. You knew it in better days, as I did?—days when its seemly old Georgian charm had not vanished under the superimposition of two vast high barracks for the wealthier sort of bachelors to live in? You remember how, in frosty weather, the horse of your hansom used to skate hopelessly down the slope of it and collapse, pitching you out, at the foot of it? Such memories will not serve. They are far too recent. You must imagine just a green hill, with some trees and bushes on it. You must imagine it far higher than it is nowadays, tapering to a summit not yet planed off for the purpose of Dover Street; and steeper; and with two caves aloft in it; and bright, bright green.

And conceive that its smiling wildness made no contrast with aught that was around. Berkeley Square smiled wildly

भारत का आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दासत्व—राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण तो अंग्रेजों की भारत-विजय का एक ऐसा परिणाम था, जो बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता था। लेकिन इस राजनीतिक पराधीनता के साथ-ही-साथ कुछ और भी नतीजे हुए जो यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो दिखाई नहीं दिए परन्तु जिन्होंने भीतर ही भीतर भारत की आर्थिक समृद्धि की जड़ें काट डालीं तथा देश के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पतन का पथ प्रशस्त किया।

जब अंग्रेज भारत में आए, देश समृद्ध था। वस्तुतः भारत के धन और ऐश्वर्य ने ही अंग्रेजों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। लेकिन अंग्रेजी राज्य की स्थापना देश के आर्थिक ह्रास का कारण बन गई। भारत के श्रेष्ठ हस्त-कला-कौशल एवं उद्योग-धन्धे सभी कुछ धीरे-धीरे चौपट हो गए क्योंकि उन्हें विदेशी उद्योग-धन्धों से अत्यन्त प्रतिकूल एवं विषम परिस्थितियों में टक्कर लेनी पड़ी।

यातायात के साधनों के शीघ्र विकास ने अंग्रेजों को भारतवर्ष में अपनी शक्ति सबल करने में सहायता दी। इसी समय इंगलैण्ड से मशीनों की बनी वस्तुओं का भारत में आना और बिकना शुरू हो गया। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि भारत की शिल्पकलाओं और घरेलू उद्योग-धन्धों को अपार क्षति पहुँची। अंग्रेजों ने गिर रहे भारतीय उद्योग-धन्धों को तनिक भी सहारा नहीं दिया। उन्होंने तो भारतवर्ष को ब्रिटिश यन्त्रोद्योगों के वास्ते कच्चे माल का प्रदाता और अपने माल का ग्राहक बनाने की निर्धारित नीति का पूर्णरूप से अनुसरण किया। ब्रिटिश सरकार की इस नीति ने भारत के विश्वविश्रुत जुलाहों के मुँह की रोटी छीनने के लिए लंकाशायर और मानचेस्टर के विशाल यन्त्रोद्योगों का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। दूसरी कोई सदय सरकार इस विनाश को रोक सकती थी। अंग्रेज सब कुछ थे, न थे, तो केवल भारत के हितैषी। इसका घातक परिणाम यह हुआ कि सहस्रों शिल्पियों की जीविका का अन्त हो गया और उन्हें कृषि का आश्रय लेना पड़ा। जब भूमि पर अधिक दबाव पड़ना प्रारम्भ हुआ, उसकी उर्वरा शक्ति जवाब देने लगी। ऐसी स्थिति में जनता दुःख-दैन्य से कराह उठी। इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है ब्रिटिश राज्य के कारण भारत को न केवल राजनीतिक पराधीनता ही भोगनी पड़ी, प्रत्युत उसके पैरों में आर्थिक दासता की बेड़ियाँ भी पड़ गईं।

विदेशी शासन की छाया में भारत के आर्थिक और राजनीतिक पतन के साथ ही साथ, यहाँ के गाँवों में सहस्रों वर्षों से जो स्व-शासन चला आ रहा था, उसकी भी नींवें हिल गईं। भारतीय ग्रामों की पंचायती शासन-व्यवस्था में मुगल सम्राटों ने भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। उन्होंने अपनी सत्ता के प्रयोग को लगान-वसूली और सेना की भरती तक ही सीमित रखा था। लोकप्रिय पंचायतें अधिकांशतः उन समस्त

voices of choristers and the golden voices of senators. Westminster is firm underfoot nowadays; yet, even so, as you come away from it up the Duke of York's steps, you feel that you are mounting into a drier, brisker air; and this sensation is powerfully repeated when anon you climb St. James's Street. Not lower, you feel, not lower than Piccadilly would you have your home. And this, it would seem, was just what the average man felt forty-one thousand years ago. Nature had placed in the steep chalky slopes from the marshes a fair number of commodious caves; but these were almost always vacant. Only on the higher levels did human creatures abound.

And scant enough, by our present standards, that abundance was. In all the space which the forest had left free—not merely all Mayfair, remember: all Soho, too, and all that lies between them—the population was hardly more than three hundred souls. So low a figure is hard to grasp. So few people, in a place so teeming now, are almost beneath our notice. Almost, but not quite. What there was of them was not bad.

Nature, as a Roman truly said, does not work by leaps. What we call Evolution is a quite exasperatingly slow process. We should like to compare favourably with even the latest of our predecessors We wince whenever we read a declaration by some eminent biologist that the skull of the prehistoric man whose bones have just been unearthed in this or that district differs but slightly from the skull of the average man in the twentieth century. I hate having to tell you that the persons in this narrative had well shaped heads, and that if their jaws were more prominent, their teeth sharper, their backs less upright, their arms longer and hairier, and their feet suppler than

नहीं कि विद्रोह उस स्वतन्त्रता-आन्दोलन से सर्वथा भिन्न था जिसका सूत्रपात १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् हुआ। विद्रोह के संगठन में शिथिलता थी एवं उसे जनता की वास्तविक तथा अनवरत सहायता भी नहीं मिली। इसके अतिरिक्त विद्रोह एक प्रजातांत्रिक और प्रगतिशील आन्दोलन होने की अपेक्षा एक प्रतिगामी आन्दोलन ही अधिक था। लेकिन फिर भी, वह भारत की स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध था, ब्रिटिश शासन को जड़ से उखाड़ कर फेंक देने का एक प्रचंड और गौरवपूर्ण प्रयास था। उसने विदेशी शासन के प्रति भारत की निष्क्रिय आधीनता के युग का अन्त कर दिया। इसके उपरान्त राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का संघर्ष, यद्यपि अब उसका रूप दूसरा था, बराबर आगे बढ़ता गया और वह १५ अगस्त, १९४७ तक जबकि भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त की, जारी रहा।

असन्तोष का प्रचण्ड विस्फोट—सन सत्तावन का विद्रोह ब्रिटिश शासन के प्रभाव से उत्पन्न हुए भारतीय जनता के अतुल असन्तोष का आकस्मिक विस्फोट था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोलुप नौकरों के दुष्टतापूर्ण कृत्यों, देश के निर्मम आर्थिक शोषण और जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता, क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रसार ने भारत में व्यापक असन्तोष की भावना को उत्पन्न कर दिया था। भारत से विदा लेते समय लॉर्ड डलहौजी का यह दृढ़ विश्वास था कि मैं अपने पीछे शान्त भारत को छोड़े जा रहा हूँ। लेकिन वास्तव में उस समय भारत एक ऐसे ज्वालामुखी के तुल्य था जो अब फटने ही वाला था। सेना में चरबी लगे कारतूसों के प्रयोग ने तो बारूद में दियासलाई लगाने भर का काम किया। अवध सतारा, बीदर और नागपुर के पदच्युत शासकों तथा झांसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई ने उस घनीभूत असन्तोष को नेतृत्व एवं दिशा प्रदान की।

सन् सत्तावन का विद्रोह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। अंग्रेज उसका दमन करने में सफल हुए, लेकिन विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों ने जिस निर्दय और प्रति-हिंसात्मक नीति का आचरण किया, हिंसा का सामना करते समय जिस पशुता और बर्बरता को अपनाया, चारों ओर जिस भय और आतंक की सृष्टि की, वह उनके जातीय जीवन पर कलंक का टीका है। गैरेट ने "एन इण्डियन कमेण्ट्री" में उसका निम्न-लिखित शब्दों में वर्णन किया है; "अंग्रेजों ने अपने सहस्रों बन्दियों को बिना किसी अभियोग की सुनवाई के मौत के घाट उतार दिया; यह सभी भारतीयों की दृष्टि में बर्बरता की चरम सीमा थी। मुसलमानों को मारने से पहले सूअर की खालों में सी दिया जाता था, उनपर सूअर की चरबी मल दी जाती थी, फिर उनके शरीर जला दिए जाते थे और हिन्दुओं को बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट किया जाता था। हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बालकों को न केवल दिल्ली में प्रत्युत देहातों में जा-जा कर कत्ल

eyed nomad, passed this way, blinking from the forest or soaked from the river; and glad always was such an one to rest awhile here, and tell to his good hosts tales of the outlying world. Tales very marvellous to the dwellers in this sleek safe homeland!—tales of rugged places where no men are, or few, and these in peril by night and by day; tales of the lion, a creature with yellow eyes and a great mop of yellow hair to his head, a swift and strong creature, without pity; and of the tusked mastodon, taller than the oldest oak, and shaking the ground he walks on; and of the winged dragon, that huge beast, poising so high in the air that he looks no bigger than a hawk, yet reaching his prey on earth as instantly as a hawk his; and of the huge crawling dragon, that breathes fire through his nostrils and scorches black the grass as he goes hunting, hunting; of the elephant, who fears nothing but mastodons and dragons; of the hyena and the tiger, and of beasts beside whom these seem not dreadful.

Wide-eyed, open-mouthed, the homelanders would sit listening. 'O wanderer,' would say one, 'tell us more of the mastodon, that is taller than the oldest oak.' And another would say, 'Make again for us, O wanderer, the noise that a lion makes.' And another, 'Tell us more of the dragon that scorches black the grass as he goes hunting, hunting.' And another, 'O you that have so much wandered, surely you will abide here always? Here is not hardship nor danger. We go not in fear of the beasts whose roast flesh you have tasted and have praised. Rather go they in great fear of us. The savoury deer flees from us, and has swifter feet than we have, yet escapes not the point of the thrown spear, and falls, and is ours. The hare is not often luckier, such is our skill. Our goats and our

अपनी बर्बर इच्छाओं की पूर्ति की थी। अंग्रेज भी इसी लकीर के फकीर बने।"[1] ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों को जरा-ज़रा सी बात के लिए, अणुमात्र अपराध होने पर भी भयंकर दण्ड दिए। इसके विपरीत यदि कोई यूरोपीय किसी भारतीय के प्राण तक ले लेता, तब भी उसे बहुत हल्का दण्ड दिया जाता था। संक्षेप में महारानी विक्टोरिया की वह नीति जिसमें कहा गया था कि "प्रजा की प्रसन्नता में ही हमारा बल है, उसके संतोष में ही हमारी सुरक्षा है और उसकी कृतज्ञता ही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ पारितोषिक है" व्यवहार में किंचिन्मात्र भी प्रयुक्त न की गई।

नीति का परिणाम—"रक्त और लोहे की नीति" भारतीयों के लिए असह्य थी; इसने उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति भयंकर विद्वेष की अग्नि को प्रज्वलित कर दिया। कोई भी दास अपने स्वामी से स्नेह नहीं कर सकता। वह स्वामी जो बर्बर पशु के तुल्य आचरण करता है, निश्चय ही घृणा का पात्र बन जाता है, चाहे यह घृणा प्रकट न हो सके। भारतीयों के साथ भी यही हुआ। अंग्रेजों को अपना "छिपा शत्रु" समझने लगे। यदा-कदा घृणा की इस अधोमुखी धारा ने १८७२ के "मालेरकोटला विद्रोह" जैसी हिंसक चेष्टाओं में अपना निकास पाया। अंग्रेजों ने इन घटनाओं का भयंकर प्रतिशोध लिया। उन्होंने "मालेर कोटला विद्रोह" के प्रश्न को लेकर ४९ सिक्खों को बिना किसी अभियोग की सुनवाई के फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया था। यद्यपि इस प्रकार के विस्फोट अधिक तो नहीं हुए परन्तु घृणा की आग लोगों के दिलों में बराबर सुलगती रही। अंग्रेजों के दर्प और अत्याचार ने घृणा की इस आग को, जिसने धीरे-धीरे परन्तु असंदिग्ध रूप से भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ों को दुर्बल कर दिया, और भी भड़काया।

भारतीयों का शासन से निष्कासन—भारतीयों के प्रति अविश्वास की नीति पर आचरण करने का फल यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों ने उन्हें शासन के समस्त महत्वपूर्ण पदों से वंचित कर दिया। प्रजा में से जो बहुत ही स्वामिभक्त थे, शासकों की दृष्टि में वे भी सन्देह के पात्र थे। महारानी विक्टोरिया के इस वचन को कि वंश, जाति और धर्म के आधार पर किसी भी भारतीय को कोई भी पद धारण करने से वंचित नहीं किया जायगा, पग-पग पर अवहेलना की गई। विदेशी शासकों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के फौलादी ढाँचे—आई० सी० एस०—में भारतीयों का प्रवेश कठिन कर देने के उद्देश्य से परीक्षा में बैठने की अवस्था २१ वर्ष से घटा कर २० वर्ष और २० वर्ष से घटा कर १९ वर्ष कर दी। चूँकि ये परीक्षाएँ इंगलैण्ड में होती थीं,

---

१. जी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—"लैंड मार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट, पृ० १०८।"

wattles. Such huts were already numerous, dotted about in all directions. Elder folk thought them very ugly, and said that they spoilt the landscape. Yet what was to be done? It is well that a people should multiply. Though these homelanders now deemed themselves very many indeed (their number, you see, being so much higher than they ever could count up to, even incorrectly), yet not even the eldest of them denied that there was plenty of room and plenty of food for more. And plenty of employment, you ask? They did not worry about that. The more babies there were, the more children and grown folk would there be anon to take turns in minding the ample flocks and herds, and the more leisure for all to walk or sit around, talking about the weather or about one another. They made no fetish of employment.

I have said that they were not bad. Had you heard them talked about by one another, you might rather doubt this estimate. You would have heard little good of any one. No family seemed to approve of its neighbours. Even between brothers and sisters mutual trust was rare. Even husbands and wives bickered. To strangers, as you have seen, these people could be charming. I do not say they were ever violent among themselves. That was not their way. But they lacked kindness

Happiness is said to beget kindness. Were these people not happy? They deemed themselves so. Nay, there was to come a time when, looking back, they felt that they had been marvellously happy. This time began on the day in whose dawn smoke was seen rising from Hay Hill.

देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों को लड़ा देने की इस नीति में उस साम्प्रदायिकता के बीज छिपे हुए हैं जिसने कालान्तर में भारत के राजनीतिक जीवन को इतना प्रभावित, विषाक्त और कलुषित किया। विद्रोह के पश्चात् मुसलमान अंग्रेजों के विशेष रूप से कोपभाजन हो गए थे क्योंकि उन्होंने अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह के झण्डे के नीचे खड़े होने और विदेशी शासकों के विरुद्ध शस्त्र उठाने का अक्षम्य अपराध किया था। एक जाति के तौर पर मुसलमान सरकारी अनुग्रह से हाथ धो बैठे। शासन ने मुसलमानों के प्रति तिरस्कार एवं हिन्दुओं के प्रति पक्षपात का भाव प्रदर्शित किया। यह भारत की दो विशिष्ट जातियों के बीच भेदभाव की सृष्टि करने और उन्हें जान-बूझकर एक दूसरे से अलग करने की नीति का स्पष्ट प्रमाण था। अंग्रेज लोग एक-दूसरे को आपस में लड़ाकर अपनी स्थिति सुरक्षित कर लेने की कला में अत्यन्त निपुण थे। बाद में सर सय्यद अहमदखां जैसे उत्साही मुस्लिम नेता ही अपनी जाति के प्रति अँग्रेजों के अविश्वास-भाव को दूर करने में सफल हुए। आगे चलकर परिस्थिति ने पलटा खाया। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई, अंग्रेजों ने हिन्दुओं के प्रति विरक्ति एवं मुसलमानों के प्रति अनुरक्ति का भाव प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। ऐसा करने में अंग्रेजों का स्वार्थ यही था कि मुसलमानों को प्रोत्साहित करके, उन्हें कतिपय रियायतें देकर राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई तरंगिणी को रोकने के लिए दृढ़ चट्टान की तरह प्रयुक्त किया जाए।

४. विद्रोह के पश्चात् वैधानिक परिवर्तन

विद्रोह के पूर्व का भारतीय शासन—१८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह किन्हीं वैधानिक कारणों का फल था, तथापि उसने भारत की शासन-प्रणाली में कई मौलिक परिवर्तन उपस्थित किए। विद्रोह के पूर्व भारतीय शासन का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' के हाथों में था। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की स्थिति १८५३ के अधिनियम के फलस्वरूप परामर्शदात्री समिति के तुल्य ही रह गई थी। भारत में कार्यपालिका-शक्ति स-परिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थी। प्रान्तीय शासन स-परिषद् गवर्नरों के कन्धों पर था। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि-निर्माण का कार्य स-परिषद् गवर्नर-जनरल अपने छः विधायी सदस्यों की सहायता से करता था। विधायी सदस्यों में से दो तो कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा शेष चार सदस्य मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरे की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त सरकारी कर्मचारी होते थे।

कम्पनी के शासन का अन्त—१८५७ के विद्रोह ने कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया। वैसे तो कम्पनी के शासन को विद्रोह के पूर्व भी वांछनीय नहीं समझा

slipped, tumbled head over heels, rolled, picked himself up, saw Thia, and rushed weeping towards her.

'What ails you, O child?' asked Thia, than whom Thol was indeed a year younger and much smaller.

'O!' was all that the child vouchsafed between his sobs, 'O!'

Thia thought ill of tears. Scorn for Thol fought the maternal instinct in her. But scorn had the worst of it. She put her arms about Thol. Quaveringly he told her what he had just seen, and what he believed it to be, and how it lay there asleep, with just its head and tail outside Gra's cave, snoring. Then he broke down utterly. Thia looked at the hill. Maternal instinct was now worsted by wonder and curiosity and the desire to be very brave—to show how much braver than boys girls are. Thia went to the hill, shaking off Thol's wild clutches and leaving him behind. Thia went up the hill, quickly but warily, on tiptoe, wide-eyed, with her tongue out upon her underlip. She took a sidelong course, and she noticed a sort of black path through the grass, winding from the mouth of Gra's cave, down one side of the hill, and away, away till it was lost in the white mists over the marshes. She climbed nearly level with the cave's mouth, and then, peering through a bush which hid her, saw what lay behind the veil of smoke.

Much worse the sleeping thing was than she had feared it would be, much huger and more hideous. Its face was as long as a man's body, and lay flat out along the ground Had Thia ever seen a crocodile's face, that is of what she would have been reminded—a crocodile, but with great pricked-up ears, and snuffling forth fiery murk in deep, rhythmic, luxurious exhalations. The tip of the creature's

था। परिषद् के आधे से अधिक सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे कम-से-कम दस वर्ष तक भारत में रह चुके हों और उन्हें अपने नए पद को सम्हालते समय अर्थात् परिषद् के सदस्य बनते समय भारत छोड़े दस वर्ष से अधिक समय न बीता हो। परिषद् के सदस्य सदाचारपर्यन्त अपने पद पर स्थित रहते थे यद्यपि संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर उन्हें अपदस्थ किया जा सकता था। परिषद् के प्रत्येक सदस्य का वेतन १२,००० पौंड प्रतिवर्ष था। यह वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाता था। परिषद् का अध्यक्ष भारत-मन्त्री था और उसे मताधिकार प्राप्त था। बराबर मत होने की स्थिति में वह अपने एक निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। यदि परिषद् का बहुमत भारत-मन्त्री के किसी प्रस्ताव से सहमत न होता तो भारत-मन्त्री परिषद् की सम्मति का उल्लंघन कर सकता था। लेकिन ऐसा करते समय उसे कारणों का निर्देश करना पड़ता था। भारतीय राजस्व के अनुदान और विनियोग के सम्बन्ध में भारत-मन्त्री के लिए परिषद् के बहुमत का निर्णय स्वीकार करना आवश्यक था। भारत के विभिन्न अधिकारियों के नाम-निर्देशन, अथवा पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार के विभाजन और वितरण सम्बन्धी विनियम बनाने में भी भारत-मन्त्री परिषद् के बहुमत का निर्णय मानने के लिए वाध्य था। इसके अतिरिक्त क्रय, विक्रय सौदा करने और भारत-सरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति के मामले में भी परिषद् के बहुमत की ही चलती थी। भारत-मन्त्री को गवर्नर जनरल से गुप्त पत्र-व्यवहार करने की अनुमति थी। भारत-मन्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने गुप्त पत्र-व्यवहार को परिषद् के सामने रखे।

१८५८ के अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि उसने पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को 'क्राउन', स-परिषद भारत-मन्त्री और भारतीय अधिकारियों के बीच बाँट दिया। अधिनियम ने निश्चित किया कि वे समस्त नियुक्तियाँ और पदोन्नति जो इस समय भारत-स्थित अधिकारियों के हाथों में हैं, भविष्य में भी उन्हीं के हाथों में बनी रहेंगी। सिविल सर्विस की नियुक्तियाँ प्रतियोगी परिक्षाओं द्वारा होंगी। इन परीक्षाओं के नियम लोक-सेवा-आयोगों की सहायता से स-परिषद भारत-मन्त्री बनाएगा। अधिनियम का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपबन्ध यह था कि उसने भारत-मन्त्री के लिए प्रति वर्ष संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति का लेखा उपस्थित करना अनिवार्य कर दिया। अधिनियम ने यह भी निश्चित किया कि भारत का राजस्व ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओं के बाहर किन्हीं सैनिक कार्यों के लिए प्रयुक्त नहीं होगा। अंशतः, १८५८ के अधिनियम ने स-परिषद् भारत-मन्त्री को एक संयुक्त निकाय घोषित किया जो इंगलैण्ड और भारत में अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

his mother had died in giving him birth; and one day, when he was but seven years old, his father, who was a shepherd, had been attacked and killed by an angry ram. In the sleek safe homeland this death by violence had made a very painful impression. There was a general desire to hush it up, to forget it. Thol was a reminder of it. Thol was ignored, as much as possible. He was allowed to have the cave that had been his father's, but even the widow Gra, in the cave so near to his, disregarded him, and forbade her children to play with him However, there dwelt hard by in the valley a certain shepherd, named Brud, and he, being childless, saw use for Thol as helping-boy, and to that use put him. Every morning, it was Thol's first duty to wake his master. It was easy for Thol himself to wake early, for his cave faced eastwards. To-day in his great excitement about the dragon he had forgotten his duty to Brud. He went running now to perform it.

Brud and his dog, awakened, came out and listened to Thol's tale. Truthfulness was regarded by all the home landers as a very important thing, especially for the young. Brud took his staff, and 'Now, O Thol,' he said, 'will I beat you for saying the thing that is not.' But the boy protested that there was indeed a dragon in Gra's cave; so Brud said sagely, 'Choose then one of two things: either to run hence into Gra's cave, or to be beaten.' Thol so unhesitatingly chose to be beaten that it was clear he did believe his own story. Thia, moreover, came running up to say that there truly was a dragon. So Brud did not beat Thol very much, and went away with his dog towards the hill, curious to know what really was amiss up there.

Perhaps Thia was already sorry she had called Thol a coward, for, though he was now crying again loudly, she

उसकी सदस्य-संख्या २४ से घटाकर १८ ही रहने दी गई थी। इन १८ डायरेक्टरों में से भी ६ को 'क्राउन' नियुक्त करता था। १८५३ के पूर्व संसद ने जितने भी चार्टर-अधिनियम पास किए थे उनका कार्यकाल २० वर्ष ही रहता था। १८५३ के अधिनियम ने कम्पनी के चार्टर को २० वर्ष के लिए संशोधित नहीं किया था। उसने केवल यही कहा कि कम्पनी 'क्राउन' की ओर से उस समय तक, जब तक संसद कोई अन्य व्यवस्था न करे, भारतीय प्रदेशों पर धरोहर के रूप में शासन कर सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५३ के अधिनियम ने भारतीय शासन को कम्पनी के हाथों से लेकर 'क्राउन' के हाथों में सौंप देने का पथ प्रशस्त कर दिया था। १८५८ के अधिनियम ने तो पूर्वकाल से ही प्रारम्भ की गई प्रक्रिया को पूर्णाभर किया। १८५८ के पश्चात् भारत-मन्त्री ने बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष तथा भारत-परिषद् ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का स्थान ग्रहण किया।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा—'क्राउन' द्वारा भारतीय सत्ता के ग्रहण के समाचार से भारतीय जनता को महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने परिचित कराया। इस सम्बन्ध में लॉर्ड कैनिंग ने जो 'क्राउन' की ओर से भारत के प्रथम वायसराय और गवर्नर जनरल नियुक्त हुए थे, पहली नवम्बर, १८५८ को इलाहाबाद में एक शानदार दरबार किया और उसमें महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को स्वयं पढ़कर सुनाया। यह घोषणा-पत्र 'सदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता' की भावनाओं से परिपूर्ण था। इसमें देशी नरेशों को यह विश्वास दिलाया गया था कि 'क्राउन' उनके स्वत्वों एवं अधिकारों की रक्षा करेगा। घोषणा-पत्र ने भारत-स्थित अधिकारियों को यह आदेश दिया था कि वे जनता के धार्मिक मामलों में रंचमात्र भी हस्तक्षेप न करें और उसे पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने दें। घोषणा-पत्र ने यह भी निर्धारित किया था कि भारत के लिए विधि-निर्माण करते समय देश के रीति-रिवाजों, परम्पराओं और लोकाचारों का निरन्तर ध्यान रखा जाएगा। उसमें यह भी विश्वास दिलाया गया था कि 'हर मैजिस्टी' की भारतीय प्रजा को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों की प्रजाओं के समकक्ष ही मान्यता प्राप्त होगी। घोषणा-पत्र ने समस्त भारतीयों को बिना किसी भेद-भाव और पक्षपात के योग्यतानुसार शासन के उच्च-से-उच्च पद देने और समान अधिकार व अवसर प्रदान करने का वचन दिया। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया था कि विद्रोहियों के साथ दया का व्यवहार किया जाएगा और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय की समस्त सन्धियाँ जारी रहेंगी। घोषणा-पत्र के अन्त में भारतीयों को यह विश्वास दिलाया गया था कि ब्रिटिश सरकार उनकी भौतिक तथा नैतिक उन्नति करने में कुछ उठा न रखेगी।

घोषणा-पत्र का महत्त्व—महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का भारत के

she love parents whom she did not remember? She was full of love for the homelanders; and naturally she hated the thought they hated: that some day two wanderers might come and whisk her away.* She loved this people and this place the more deeply perhaps because she was not of them. Forget the harsh things she has just said to Thol. He surely was to blame. And belike she would even have begged his pardon had she not been preoccupied with thoughts for the whole homeland, with great fears of what the dreadful dragon might be going to do when he woke up.

IV

And a wonder it was that he did not wake forthwith, so loud a bellow of terror did Brud and his dog utter at the glimpse they had of him. The glimpse sufficed them: both bounded to the foot of the hill with incredible speed, still howling. From the mouths of caves and huts people darted and stood agape. Responsive sheep, goats, geese, what not, made great noises of their own. Brud stood waving his arms wildly towards the hill. People stared from him to the column of smoke, and from it to him. They were still heavy with sleep. Unusual behaviour at any time annoyed them, they deeply resented behaviour so unusual as this so early in the morning. Little by little, disapproval merged into anxiety. Brud became the centre

* Lest the reader assume that in the course of this narrative one or both of Thia's parents will return to claim her, let me at once state that within a few months of her being left in the homeland her father was killed by a lion, and her mother by a lioness, in what has since become Shropshire

आवश्यकताओं के सम्बन्ध में एक जोरदार पत्र लिखा। ६ जून, १८६१ को सर चार्ल्स वुड ने भारत-परिषद्-अधिनियम कामन-सभा (House of Commons) के सामने प्रस्तुत किया।

प्रमुख उपबन्ध—१८६१ के भारत-परिषद्-अधिनियम ने पहला काम तो यह किया कि गवर्नर जनरल की कार्यपालिका-परिषद् में एक और—पाँचवाँ—सदस्य बढ़ाया। यह सदस्य कानूनी पेशे से सम्बन्ध रखता था। अधिनियम ने दूसरी बात यह की कि गवर्नर जनरल को परिषद् का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम और आदेश बनाने का अधिकार दिया। गवर्नर जनरल अपनी अनुपस्थिति में परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करने के लिए परिषद् में से ही किसी एक सदस्य को मनोनीत कर सकता था। अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी थी कि वह भारत में विभाग-व्यवस्था चला सकता है अर्थात् अपनी कार्यपालिका-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को शासन का कोई एक महत्त्वपूर्ण विभाग सौंप सकता है। विभाग-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक विभागाध्यक्ष अपने विभाग के छोटे-छोटे प्रश्नों का स्वयं ही निर्णय करे और बड़े-बड़े प्रश्नों का अन्य विभागाध्यक्षों से विचार-विनिमय करके तथा गवर्नर जनरल से परामर्श लेकर निर्णय करे। १८६१ के अधिनियम ने तीसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया कि उसने विधि और विनिमय बनाने के लिए गवर्नर जनरल की परिषद् का विस्तार किया। अधिनियम ने निश्चित किया कि परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम-से-कम ६ और अधिक-से-अधिक १२ रहनी चाहिए। यह आवश्यक था कि इन अतिरिक्त सदस्यों में कम-से-कम आधे सदस्य गैर-सरकारी हों। अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष था। परिषद् के कार्य और अधिकार विधि और विनिमय बनाने तक ही सीमित थे। उसे कार्यपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी। परिषद् के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। सार्वजनिक ऋण और राजस्व, धर्म और सेना आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व-स्वीकृति के बिना उपस्थित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर जनरल परिषद् द्वारा पास किए गए किसी भी कानून पर न केवल विशेषाधिकार का ही प्रयोग कर सकता था, प्रत्युत उसे आपात-काल में अध्यादेश निकालने की भी शक्ति थी। गवर्नर जनरल के अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होता था जो कि परिषद् द्वारा पास किए गए किसी कानून का।

अधिनियम ने प्रान्तीय विधि-निर्माण के लिए प्रत्येक प्रेसीडेन्सी के गवर्नर को यह अधिकार दिया था कि वह अपनी परिषद् में एक तो प्रेसीडेन्सी के महाधिवक्ता को तथा कम-से-कम चार और अधिक-से-अधिक आठ अतिरिक्त सदस्यों को नियुक्त कर सकता है। परिषद् का कार्य विशुद्ध रूप से विधायी था। प्रान्तीय परिषद् द्वारा

far and near. Up, straight up through the windless air went the column of smoke steadfastly, horribly, up higher than the eyes of the homelanders could follow it.

What was to be done? Could nothing be done? Could not some one, at any rate, say something? People who did not know each other, or had for years not been on speaking terms, found themselves eagerly conversing, in face of the common peril. Solemn parties were formed to go and view the dragon's track, its odious scorched track from the marshes. People remembered having been told by wanderers that when a dragon swam a river he held high his head, lest his flames should be quenched. The river that had been crossed last night by this monster was a great god. Why had he not drowned the monster? Well, fire was a great god also, and he deigned to dwell in dragons. One god would not destroy another. But again, would even a small god deign to dwell in a dragon? The homelanders revised their theology. Fire was not a god at all.

Then, why, asked some, had the river not done his duty? The more rigid logicians answered that neither was the river a god. But this doctrine was not well received. People felt they had gone quite far enough as it was. Besides, now was a time rather for action than for thought. Some of those who were skilled in hunting went to fetch their arrows and spears, formed a sort of army, and marched round and round the lower slopes of the hill in readiness to withstand and slay the dragon so soon as he should come down into the open At first this had a cheering and heartening effect (on all but Thol, whose personal aspiration you remember) But soon there recurred to the minds of many, and were repeated broad-

परिषद्-अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य यही था कि भारत में नौकरशाही जैसे-तैसे करके अपना कार्य चलाती रही।

५. भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म-काल १८७६-१८८४

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के उद्‌भव एवं विकास के अध्ययन में १८६७ से १८८४ तक के समय की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। लार्ड लिटन एवं लार्ड रिपन के इस शासन-काल को भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मकाल के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया जाता है। हम देख चुके हैं कि विद्रोह के पश्चात् सरकार द्वारा प्रयुक्त अविश्वास एवं दमन की नीति, देशवासियों को आपस में लड़ाने के साम्राज्य-वादी दाव-पेंच और जनता के बढ़ते हुए दारिद्रय आदि तथ्य भारतीयों को विदेशी शासन के दोषों का समुचित परिज्ञान करा रहे थे। यद्यपि भारतीयों ने अभी तक ब्रिटिश शासन का विरोध स्पष्ट एवं संगठित रूप से तो नहीं किया था परन्तु उनके हृदय में विदेशी राज्य के प्रति विरक्ति की भावना दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उस समय राष्ट्रीयता का वातावरण होने के लिए भूमि तैयार हो रही थी। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन ऑफ बंगाल, मद्रास नेटिव एसोसिएशन, ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन, बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन और पूना सार्वजनिक सभा आदि राजनीतिक संस्थाएँ भारत के राजनीतिक रंगमंच पर पहले से ही प्रकट हो चुकी थीं तथा शासन सुधार सम्बन्धी आन्दोलन करने में संलग्न थीं। तथापि इन संस्थाओं का एक निर्धारित क्षेत्र था। राष्ट्रीय अभ्युदय, एवं राज-नीतिक स्वाधीनता के किसी सांगोपांग प्रोग्राम का उनके पास अभाव था। लार्ड लिटन के शासनकाल में कतिपय ऐसे अन्याय एवं दमन के कार्य किए गए जिनके फलस्वरूप जन-साधारण और शिक्षित भारतीयों, दोनों के हृदयों में समान रूप से, विदेशी शासन के प्रति रोष की वह भावना जागृत हो गई जिसने १८८५ में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के संस्थापक का मार्ग साफ कर दिया।

देहली दरबार—लिटन डिजरैली की विचारधारा का साम्राज्यवादी था एवं राजकीय शक्ति-सामर्थ्य के प्रदर्शन में उसकी दृढ़ आस्था थी। राजनीतिक दूरदर्शिता का उसमें अभाव था और भारतीय जनता की भावनाओं एवं उच्चाकांक्षाओं के प्रति उसके हृदय में तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उसके शासन काल में महारानी विक्टोरिया की नई उपाधि, "कैसरे-हिन्द" (भारत साम्राज्ञी) की घोषणा करने के लिए १८७७ में शानदार देहली दरबार किया। इसी दरबार में ब्रिटिश नौकरशाही, भार-तीय नरेशों, सामन्तों मुखियों और अन्य राजभक्तों ने भाग लिया, परन्तु यह 'व्यय-साध्य एवं विराट् प्रदर्शन' अत्यन्त अनुपयुक्त अवसर पर किया गया। उस समय दक्षिण

But Thia answered them, 'My heart is too sad. We are all in peril. For myself I am not afraid. But how should I dance, who love you? Not again, O dear ones, shall I dance, until the dragon be slain or gone back across the water. Neither shall I put flowers in my hair nor sing'

She went her way, and was presently guiding a flock of geese to a pond that does not exist now.

V

She sat watching the geese gravely, fondly, as they swam and dived and cackled She was filled with a sense of duty to them. They too were homelanders and dear ones She wished that all the others could be so unknowing and so happy.

A breeze sprang up, swaying the column of smoke and driving it across the valley, on which it cast a long, wide, dark shadow.

Thia felt very old She remembered a happy and careless child who woke—how long ago!—and went looking for mushrooms. And this memory gave her another feeling. You see, she had eaten nothing all day.

Near the pond was a cherry tree. She looked at it She tried not to This was no day for eating. The sight of the red cherries jarred on her. They were so very red She went to the tree unwillingly She hoped no one would see her. In your impatience at the general slowness of man's evolution, you will be glad to learn that Thia, climbing that tree and swinging among the branches, had notably more of assurance and nimble ease than any modern child

आलोचनाओं में जनता का रोष व्यक्त होता था। वे राष्ट्रीय चेतना के विकास में एवं जनता के क्रोध को तीव्रता देने में सहायता पहुँचा रहे थे। वर्नाक्युलर प्रेस के नित्यप्रति बढ़ते प्रभाव को देखकर नौकरशाही के सिर में दर्द होने लगा। लॉर्ड लिटन ने भारत-मन्त्री को 'देशी प्रेस के' इस बढ़ते हुए प्रभाव के सम्बन्ध में जो अब प्रत्यक्ष विद्रोह का सूचक था, लिखा। वायसराय इस बात को अच्छी तरह समझता था कि समाचार-पत्रों की स्वाधीनता और विदेशी शासन का साथ-साथ निभ सकना असंभव है। परिणामतः वर्नाक्युलर प्रेस-विधेयक अथवा 'गलाघोंट कानून'—जैसा कि वह उस समय विख्यात था—अति शीघ्रता से, भारतीय व्यवस्थापिका-सभा द्वारा, एक ही बैठक में पास किया गया। यह भारतीय पत्रों की स्वाधीनता पर प्रत्यक्ष आक्रमण था। इस विधेयक के द्वारा जिलाधीशों के हाथों में यह अधिकार आ गया कि वे समाचार-पत्रों के मुद्रकों और प्रकाशकों से जमानतें माँग सकते हैं और उनसे ऐसे किसी समाचार के, जो शासन के प्रति अरुचि या जातियों के बीच कटुता की भावना को उत्पन्न करे, प्रकाशित न करने की प्रतिज्ञा करवा सकते हैं। कानून भंग करने पर यह जमानत जब्त की जा सकती थी और इस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती थी। वर्नाक्युलर प्रेस-विधेयक इतना घातक था कि भारत-परिषद् के एक सदस्य सर एरस्काइन पेरी ने भी उसको 'अदूरदर्शी, असामयिक और भारत की भावी उन्नति के लिए घातक' बताया था। इस 'गलाघोंट' कानून ने और उस संकुचितता ने जिसके साथ वह कार्यान्वित किया गया, विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया। सारे देश में असंतोष की एक लहर दौड़ गई। भारत के लोक-नेताओं ने इस विधेयक के विरोध में एक देशव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। पाँच वर्षों के अविराम प्रयत्नों के पश्चात् १८८२ में यह विधेयक रद्द हुआ। इस विधेयक के निर्माण ने भारतीयों को पराधीनता के पाश से अवगत करा दिया और उनके हृदय में राष्ट्रीय जागरण की ज्योति प्रज्ज्वलित की।

कपास आयात-कर—लार्ड लिटन ने कपास की बनी वस्तुओं पर से आयात-कर हटा कर भी भारतीयों के हृदय में अंग्रेजी शासन के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न की। भारत में पहली कपास टैक्सटाइल मिल १८५१ में चालू हुई थी और प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी धीरे-धीरे उन्नति कर रही थी। लंकाशायर और मानचेस्टर के व्यापारियों ने इसका विरोध किया। क्योंकि भारतीय टैक्सटाइल उद्योग के विकास को उन्होंने अपने एकाधिकार के लिए एक चुनौती समझा, उन्होंने गृह-सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वह भारत सरकार को, बाहर से आए हुए कपास के कपड़े पर लगाए गए ५ प्रतिशत कर को उठा देने के लिए विवश करे। भारत-मन्त्री ने इस थोथी दलील के आधार पर कि, इस कर से भारतीय व्यापारियों को अनुचित प्रोत्सा-

forward, flush with the ground, but the tail, which was longer still, swung its barbed tip slowly from side to side, and sometimes rose, threshing the air. Neck, body and tail were surmounted by a ridge of upstanding spurs. In fact, the dragon was just what I have called him : dreadful.

Spears flew in the twilight. Ringing noises testified that many of them hit the mark. They rang as they glanced off the scales that completely sheathed the brute, who, now and again, coiled his neck round to have a look at them, as though they rather interested and amused him. One of them struck him full on the brow (if brow it can be called) without giving him an instant's pause.

Anon, however, he halted, rearing his neck straight up, turning his head slowly this way and that, and seemed to take, between his great puffs of fiery smoke, a general survey of the valley. Twilight was not fading into darkness, for a young moon rode the sky, preserving a good view for, and of, the dragon. Most of the homelanders had with one accord retired to the further side of the valley, across the dividing stream. Only the spearmen remained on the dragon's side, and some sheep that were in a fold there. One of the spearmen, taking aim, ventured rather near to the dragon—so near that the dragon's neck, shoot ing down, all but covered the distance. The clash of the dragon's jaws resounded. The spearman had escaped only by a hair's breadth. The homelanders made a faint noise, something between a sigh and a groan.

The dragon looked at them for a long time. He seemed to be in no hurry. He glanced at the moon, as though saying, 'The night is young.' He glanced at the sheep fold and slowly went to it. Wanderers had often said of dragons that they devoured no kind of beast in any land

एक स्मृतिपत्र भेजा गया और अन्त में, जिस उत्साह के साथ आन्दोलन का संगठन किया गया था, उसके फलस्वरूप वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ। इण्डियन सिविल सर्विस में बैठने की अवस्था दुबारा १९ वर्ष से बढ़ाकर २१ वर्ष की कर दी गई।

इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद-विवाद ने जो लार्ड लिटन के अनुवर्ती लार्ड रिपन के उदार शासनकाल में उठ खड़ा हुआ था, भारत के राष्ट्रीय जागरण को और भी उत्तेजना दी। लार्ड रिपन के दृष्टिकोण, चरित्र एवं व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर था। लार्ड रिपन अत्यन्त सहृदय एवं उदाराशय वायसराय थे। इंगलैण्ड में ग्लैडस्टन के नेतृत्व में उदारवादी शासन की स्थापना हो चुकने के पश्चात् वह भारतवर्ष में आए थे। भारतीयों की भावनाओं के प्रति उनके हृदय में आदर का भाव था। वर्नाक्युलर प्रेस-विधेयक रद्द करके उन्होंने भारतीयों को सान्त्वना देने का प्रयास किया। उन्होंने अफगानिस्तान से ऐसी शर्तों पर सन्धि की, जिससे कि ब्रिटिश सरकार के सम्मान में वृद्धि हुई। परिणामतः सेना के व्यय में अपने आप कमी हो गई। उन्होंने स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन दिया और १८८२ में अपनी सुविख्यात रिपोर्ट लिखी। इस प्रकार लार्ड रिपन की नीति जनहित की भावनाओं से प्रेरित थी। इसलिए भारत के शिक्षित समाज में वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। 'हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रत्येक अंग्रेजी भाषाभाषी परिवार में उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया जाने लगा।

इल्बर्ट बिल—स्वाभाविक रूप से, लार्ड रिपन के उक्त सुधार, जहाँ भारतीयों के सर्वथा मनोनुकूल थे, भारत में रहने वाले यूरोपियनों की दृष्टि में वे काँटे की तरह खटकते थे। रिपन यूरोपीय समाज के कोपभाजन बन गए। १८८३ में सर इल्बर्ट कोर्टनी ने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक बिल उपस्थित किया जिसका उद्देश्य यह था कि भारतीय एवं यूरोपीय न्यायाधीशों के बीच विद्यमान भेदभाव को हटा दिया जाए। इससे पूर्व भारतीय न्यायाधीशों को, चाहे वे कितने ही ऊँचे पदों पर क्यों न प्रतिष्ठित हों, किसी यूरोपीय के विरुद्ध अभियोग सुनने का अधिकार नहीं था।

अपने मौलिक रूप में इल्बर्ट बिल ने सभी जिलाधीशों एवं सेशन जजों को यूरोपीय अपराधियों के अभियोगों के निर्णय करने का अधिकार प्रदान किया। इस बिल में किसी को हानि पहुँचाने वाली कोई बात नहीं थी। किन्तु भारत स्थित यूरोपीय समाज इसे सहन न कर सका। लार्ड रिपन ने भारतीयों के सम्बन्ध जो उदार नीति अपनाई थी, यूरोपीय समाज उससे बहुत ही रुष्ट हो गया और इल्बर्ट बिल ने तो उसके रोषानल में घृत का काम किया। यह बिल उनको अपने विशेषाधिकारों पर कुठाराघात प्रतीत हुआ और उन्होंने इसके विरोध में प्रचण्ड आन्दोलन खड़ा कर दिया। यूरोपियनों ने अपने हितों के रक्षार्थ एक सुरक्षा-संघ का निर्माण किया और यथेष्ट धन एक-

never achieved; but he had cunning, and had power to bewilder with fear. Before the night was out he was back again in his cave upon the hill. And the sleepless homelanders, forgathering in the dawn to hear and tell what things had befallen, gradually knew themselves to be the fewer by five souls.

VII

It is often said that no ills are so hard to suffer as to anticipate. I do not know that this is true. But it does seem to be a fact that people comport themselves better under the incidence of an ill than under the menace of it; better also in their fear of an ill's recurrence than when the ill is first feared. Some of the homelanders, you will have felt, had been rather ridiculous on the first day of the dragon's presence among them They had not been so in the watches of the night. Even Brud and his dog had shown signs of courage and endurance. Even Thol had not cried much. Thia had behaved perfectly. But this is no more than you would expect of Thia. The point is that after their panic at the dragon's first quick onset, the generality of the homelanders had behaved well. And now, haggard though they were in the dawn, wan, dishevelled, they were not without a certain collective dignity.

When everything had been told and heard, they stood for a while in silent mourning. The sun rose from the hills over the water, and with a common impulse they knelt to this great god, beseeching him that he would straightway call the dragon back beyond those hills, never to return.

शासन का सफल विरोध तभी संभव है जब कि कोई देशव्यापी संगठन ऐसे कामों को अपने हाथों में ले ले और उसे जनता का सक्रिय सहयोग मिल सके। समय की यह पुकार व्यर्थ नहीं गई। इल्बर्ट बिल के सम्बन्ध में यूरोपियनों का जो दृष्टिकोण रहा था, उसे भारतीय नेताओं ने विस्मृत नहीं किया। दिसम्बर, १८८३ में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के पथप्रदर्शन में प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन कलकत्ते में तीन दिन होता रहा। इसमें, विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन अपार उत्साह के वातावरण में सम्पन्न हुआ और उससे भारत की उदीयमान राष्ट्रीयता का अच्छी तरह से परिचय मिलता था। १८८५ में बम्बई में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) की स्थापना हुई। वास्तव में उक्त सम्मेलन को राष्ट्रीय महासभा का अगुवा, पथप्रदर्शक अथवा निर्माता कहना उचित होगा। सम्मेलन ने अपने को राष्ट्रीय महासभा में विलीन कर दिया। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि १८७६ से १८८५ तक के ८ वर्षों का, भारत के राष्ट्रीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल की घटनाओं ने ही उस संघर्ष की नींव डाली जिसका अन्त भारत में ब्रिटिश राज के अन्त के साथ हुआ।

सारांश

अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर धीरे-धीरे बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के साथ काम करते हुए अधिकार किया था। १८५२ तक सम्पूर्ण देश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधीन हो गया। यह बात बिल्कुल गलत है कि भारत में, अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य का निर्माण, मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था में किया। १८वीं शताब्दी में भारत की राजनीतिक दशा अत्यन्त अव्यवस्थित एवं शोचनीय थी, अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाया; और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना से भारत की आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अवनति हुई। प्रतिगामी ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप देश के पुराने उद्योग-धन्धे चौपट हो गए और जनता दरिद्रता के दल-दल में फंस गई। केन्द्रित शासन की स्थापना के कारण पंचायतें नष्ट हो गईं। ईसाई पादरियों के धर्म प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारत को सांस्कृतिक दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया।

सन् ५७ का विद्रोह ब्रिटिश शासन की बुराइयों के कारण जनता में बढ़ते हुए असन्तोष का भयंकर विस्फोट था। भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता का यह प्रथम युद्ध असफल हुआ और अंग्रेजों ने अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक इसका दमन किया। विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने अविश्वास तथा 'फूट डालो और राज करो' की नीति का आश्रय लिया जिसका फल यह हुआ कि भारतीयों और अंग्रेजों के बीच भेद की खाई बढ़ती

crawling down the hill he is more beautiful than Thia dancing.'

Shib's ideas about beauty were academic. Thia dancing, with a rose-bush on one side of her and a sunset on the other, was beautiful. The dragon was ugly. But Shib was not going to waste breath in argument with his absurd brother. What mattered was not that the dragon was ugly, but that the dragon was a public nuisance, to be abated if it could not be suppressed. The spearmen had failed to suppress it, and would continue to fail. But Shib thought he saw a way to abatement. He had carefully watched throughout the night the dragon's demeanour. He had noted how, despite so many wanderers' clear testimony as to the taste of all dragons, this creature had seemed to palter in choice between the penned sheep near to him and the mobile people across the stream; noted that despite the great talons on his feet he did not attempt to climb any of the trees; noted the long rests he took here and there. On these observations Shib had formed a theory, and on this theory a scheme. And during the family meal in the cave he recited the speech he was going to make at the council. His parents were filled with admiration. Veo, however, did not listen to a word. Nor did he even attend the council. He stayed in the cave, making with a charred stick, on all vacant spaces, stark but spirited pictures of the dragon.

VIII

I will not report in even an abridged form the early proceedings of the council. For they were tedious. The

अध्याय २

भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म

६. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण

बहुत से कारणों का परिणाम—भारत में राजनीतिक चेतना के मन्द जागरण १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के रूप में मूर्त आकार धारण कर लिया। यह स्मरणीय है कि कांग्रेस, जो देशभक्ति का आकर्षण केन्द्र और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष की अग्रणी बन गई उसका जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। सच तो यह है कि वह उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय नवजागरण का ही एक भाग थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह उस अपार आर्थिक और राजनीतिक असंतोष की अभिव्यक्ति थी जो ब्रिटिश शासन के अन्यायों के कारण पनप रहा था। इसके साथ ही साथ वह उन राष्ट्रवादी शक्तियों की संश्लेषण थी जो पहले से ही धार्मिक-समाजिक सुधार-क्षेत्र में सक्रिय थी। बंगाल में रामगोपाल घोष, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और आनन्दमोहन बोस ने, बम्बई में दादाभाई नौरोजी और जगन्नाथ शंकर सेठ ने, मद्रास में जी० सुब्रह्मण्य अय्यर और महाराष्ट्र में राव बहादुर के० एल० नेल्कर तथा एस० एच० चिपलोन्कर ने राष्ट्रीयता के बीज वपन के लिए भूमि अच्छी तरह तैयार कर दी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोप के राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्रवाद की प्रचण्ड लहर उठी थी जिसके फलस्वरूप विशृंखलित जर्मनी और इटली का एकीकरण हुआ, यूनान और बेल्जियम को विदेशी शासन से मुक्ति मिली। मध्यकालीन अधोगति की दशा से जापान के अभूतपूर्व आकस्मिक उत्कर्ष ने भी भारत की राष्ट्रीयता को पर्याप्त प्रभावित किया। संक्षेपतः भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन कई शक्तियों और कारणों के संयोग का परिणाम था। नीचे हम उनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणों पर विचार करते हैं।

भारत का राजनीतिक एकीकरण—यद्यपि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का स्वरूप प्रतिगामी ही था, फिर भी उसने भारत को राजनीतिक एकता प्रदान कर, जो उसके पास पहले कभी नहीं थी, भारतीय राष्ट्रयता के विकास को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः भारतवर्ष में, विंसेट स्मिथ के शब्दों में, "रक्त, रंग, भाषा, वेष, रीति-रिवाज और सम्प्रदाय आदि की असंख्य विभिन्नताएँ रहते हुए भी एक मौलिक एकता रही है।" भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष सदैव एक इकाई रहा है। इससे भी कहीं

should any one of them be wanting to do work that others could do? and willing to take a risk that others would take? Really they did not know. It was a strange foible. But there it was. A child can carry the largest of ducks; but as many as four men were lending a hand in porterage of a duck to-day. Not one of the porters enjoyed this work. But somehow they all wanted to do it, and did it with energy and good humour.

Very soon, up yonder on the flat shelf of ground in front of the cave's mouth, lay temptingly ranged in a semicircular pattern two goats, three ducks, two deer, three geese and two sheep. All had been done that was to be done. The homelanders suddenly began to feel the *effects of their sleepless night. They would have denied* that they were sleepy, but they felt a desire to lie down and think. The valley soon had a coverlet of sleeping figures, prone and supine. But, as you know, the mind has a way of waking us when it should; and the home landers were all wide awake when the shadows began to lengthen.

Very still the air was; and very still stood those men and women and children, on the other side of the dividing stream The sun, setting red behind them, sent their shadows across the stream, on and on slowly, to the very foot of the hill up to which they were so intently looking The column of smoke, little by little, lost its flush. But anon it showed fitful glimpses of a brighter red at the base of it, making known that the dragon's head was not inside the cave. And now it seemed to the homelanders, in these long moments, that their hearts ceased beating, and all hope died in them Suddenly—clash! the dragon's jaws echoed all over the valley; and then what silence!

थे। परन्तु इसका परिणाम सर्वथा उनके मनोनुकूल नहीं हुआ। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता "सामान्य अधीनता की एकता थी, लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया।"[१] अखण्ड और स्वतन्त्र भारत का विचार राजनीतिक एकीकरण का अनिवार्य परिणाम था। उसने लोगों के दिमागों में घर कर लिया। इस समय एकता का विचार कहीं ऊपर से नहीं लादा गया था, वह स्वतःप्रेरित था। इस विचार ने प्रत्येक देश-भक्त भारतीय को नई प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान की और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य समर को आगे बढ़ाया। आगे चलकर एकता की इस बढ़ती हुई भावना ने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया। अब उन्होंने इस एकता को भंग करने की चेष्टा की। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की उन्मुक्त शक्ति को रोकने के लिए "देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों के सन्तुलन" का सिद्धान्त प्रयुक्त किया तथा धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य के बीज बोए। अपनी इस चेष्टा में अंग्रेजों को कुछ सफलता भी मिली, परन्तु राष्ट्रीयता की वेगवती मन्दाकिनी जो एक बार वह निकली उसे न अंग्रेजों की कूटनीति ही और न उनका दमन ही रोकने में सफल हो सका।

पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति—भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म और विकास में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने भी बड़ी सहायता दी। अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप भारत-वर्ष का पश्चिम के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके सुदूरव्यापी परिणाम हुए, सुशिक्षित भारतीय अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के अमृत का आपानक पान किया। शिक्षित भारतीयों ने इटली की राष्ट्रीयता के मन्त्रद्रष्टा मैजिनी; फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के प्रस्तता रूसो और वाल्टेयर; व्यक्तिगत स्वाधीनता, उदारवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अग्रदूत थॉमस पेन, लॉकबर्क, मैकाले और मिल, आदि लेखकों की रचनाओं का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अनुशीलन किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए थे, उनसे भारतीय नवयुवकों को बड़ी प्रेरणा मिली। इन राष्ट्रीय आन्दोलनों का ही यह फल था कि तुर्की से यूनान की और हालैण्ड से बेल्जियम को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। अपने देश की अधोगति देखकर भारतीय युवकों का हृदय ग्लानि से भर गया। दादाभाई नौरोजी के अनुसार जो

---

१. "हिन्दुस्तान की राजनीतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के घुणाक्षर न्याय से प्राप्त हुई थी। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता को जानबूझ कर बढ़ाए जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में जबरदस्त रोड़े बने।" जवाहर लाल नेहरू "ऑटोबाइग्राफी" पृ० ४३७

there now, and saw no prospect of sleeping there at all until he had slain the dragon. But he bethought him of the many empty caves on the way down to the marshes. And he moved into that less fashionable quarter—sulkily indeed, but without tears, and sustained by a great faith in the future.

IX

On the morning of next day the homelanders prayed again to the sun that he would call the dragon away from them. He did not so. Therefore they besought him that he would forbid the dragon to come further than the cave's mouth, and would cause him to be well pleased with a feast like yesterday's.

Such a feast, in the afternoon, was duly laid at the cave's mouth; and again, when the sun was setting, the dragon did not come down the hill, but ate aloft there, and at the twelfth clash drew back his glowing jaws into the cave.

Day followed day, each with the same ritual and result.

Shib did not join in the prayers. He regarded them as inefficacious, and also as rather a slight to himself. The homelanders, be it said, intended no slight. They thought Shib wonderfully clever, and were most grateful to him, but it never occurred to them to rank him among gods.

Veo always prayed heartily that the dragon should be called away forthwith. He wanted to see the dragon by daylight. But he did not pray that the dragon should not come forth in the evening Better a twilit dragon than none at all.

Little Thol, though he prayed earnestly enough that the

पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात करने में अंग्रेजों का ध्येय भारत में अपने साम्राज्य की जड़ों को मजबूत करना था, लेकिन उसने इन जड़ों को उखाड़ने में सहायता दी। भारतीयों को अपने विदेशी शासकों के प्रति राजभक्ति का पाठ पढ़ाने के बजाय अंग्रेजी शिक्षा ने उन्हें स्वतन्त्रता और स्वशासन का पाठ पढ़ाया। "शिक्षित भारतीयों ने अमेरिका, इटली और आयरलैण्ड के स्वातन्त्र्य संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन किया, जिन्होंने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। ये शिक्षित भारतीय, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गए।"[1] यह स्मरणीय है कि सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, दादा भाई नौरोजी, गोखले तथा भारत की राष्ट्रीयता के अन्यान्य ज्योति वाहक अंग्रेजी शिक्षा की ही देन थे। मैकाले ने कहा था कि उस दिन को जब यूरोपियन ज्ञान में निष्णात भारतीय यूरोपियन संस्थाओं की मांग करेंगे, मैं "ब्रिटिश इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिवस" समझूंगा। मैकाले का यह स्वप्न बहुत शीघ्र सार्थक हो गया, इतना शीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।

अंग्रेजी भाषा से भारत की राष्ट्रीयता को प्रभूत बल प्राप्त हुआ। प्रान्तीय सीमाओं के ऊपर उठकर उसने अखिल भारतीय भाषा का रूप धारण कर लिया। शिक्षित भारतीयों की लोक-भाषा (Lingua Franca) के रूप में वह देश के विभिन्न भागों के निवासियों के बीच विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम बन गई। इसने उन्हें एक मंच पर मिलने, सामान्य समस्याओं पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। दूसरे शब्दों में अंग्रेजों ने भारत की राजनीतिक दृढ़ता और राष्ट्रीयता के अभ्युत्थान में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

भारतीय प्रेस और वर्नाक्यूलर साहित्य—अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारत में पत्रकारिता का जन्म और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों का विकास हुआ। विद्रोह के पश्चात् भारतीय समाचार पत्रों की आशातीत वृद्धि हुई। जब राष्ट्रीय महासभा का जन्म भी नहीं हुआ था, और भारतीयों के पास कोई सामान्य मंच नहीं था, समाचार-पत्रों ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बहुत सहायता दी। उन्होंने जनता की शिकायतों को निर्भीक भाषा में व्यक्त किया और वे सरकारी कामों की तीक्ष्ण आलोचना करने से पीछे नहीं हटे। भारतीय प्रेसों ने अंग्रेजी और देशी भाषाओं, दोनों में राष्ट्रीयता के शिशु-पादप का सिंचन किया और एंग्लोइण्डियन समाचार पत्रों का मुँह-तोड़ उत्तर दिया।

---

१. ए० आर० देसाई—"सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज़्म" पृ० २६०।

man recently wedded. From the hut's mouth crept forth clouds of smoke, and, as the dragon withdrew his head, the goat-herd, finding voice, raised such a cry as instantly woke many sleepers. That day lived long in the memory of the homelanders. The dragon was very active. He did not plod through the snow. He walked at his full speed upon the ground, the snow melting before him at the approach of his fiery breath. It was the homelanders that plodded. Some of them stumbled head foremost into snowdrifts and did not escape their pursuer. There was nothing slothful in the dragon's conduct that day. Hour after hour in the keen frosty air he went his way, and not before nightfall did he go home.

Thus was inaugurated what we may call the Time of Greater Stress. No one could know at what hour of night or day the dragon might again raid the homeland Relays of guards had to watch the hill always No one, lying down to sleep, knew that the dragon might not forthcome before sunrise ; no one, throughout the day, knew that the brute might not be forthcoming at any moment. True, he forthcame seldom. The daily offerings of slain beasts and birds sufficed him, mostly. But he was never to be depended on—never.

Shib's name somewhat fell in the general esteem. Nor was it raised again by the execution of a scheme that he conceived. The roe and buck stuffed with poisonous herbs were swallowed by the dragon duly, but the column of smoke from the cave's mouth did not cease that evening, as had been hoped And on the following afternoon—a sign that the stratagem had not been unnoticed—one of the men who were placing the food in front of the cave perished miserably in the dragon's jaws.

व्रतों को सम्पन्न करना पड़ता था, 'नीलदर्पण' नामक एक बंगाली नाटक में उनका सफल-चित्रण किया गया। इस नाटक को पढ़कर देशभक्त भारतीयों की भावनाओं को उत्तेजना मिली। राष्ट्रवादी आदर्शों का प्रसार करने में, बंगाल में, प्रेस, थियेटर और गुप्त क्रान्तिकारी समितियाँ विशेष रूप से सक्रिय थीं। गैरीबाल्डी और मैजिनी के जीवन चरित्रों का अनुवाद किया गया और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के ध्येय को 'स्वप्न में हस्तगत भारत का इतिहास' (History of India gained in a Dream) जैसे शब्दों में घोषित किया गया।[1]

धार्मिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को उस युग के सुधार-आन्दोलनों ने अपूर्व बल प्रदान किया। शताब्दियों तक विदेशियों के पराधीनता पाश में फँसे रहने के कारण हिन्दू अपने सांस्कृतिक वैभव को भूल चुके थे। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ-साथ ईसाई धर्म का भी आगमन हुआ और वह हिन्दू धर्म के अस्तित्व तक को चुनौती देता प्रतीत होने लगा। यह स्पष्ट था कि उस समय हिन्दू धर्म शनैः-शनैः विनाश की ओर बढ़ रहा था और उसकी रक्षा तभी हो सकती थी जब कि वह अपनी सामाजिक कुरीतियों को दूर कर देता। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी ज्ञान के आलोक से आँखें खुलने पर तथा पराधीनता की पीड़ा अनुभव करने पर दूरदर्शी भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी। उन्हें उसमें संशोधन की आवश्यकता जान पड़ी। इसी के परिणाम आधुनिक धार्मिक सुधार आन्दोलन थे। इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने देश में जिस पुनर्जागरण का सृजन किया वह भारत की विकासोन्मुख राष्ट्रीयता का एक अविभाज्य अंग तथा उसके लिए अपार शक्ति का स्रोत बन गया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इन धर्म-सुधार आन्दोलनों का विशेष महत्त्व है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के उद्भव में इन सुधार-आन्दोलनों का निर्णायक हाथ रहा है। नीचे हम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधार-आन्दोलनों तथा भारतीय जनता के राष्ट्रीय जागरण पर पड़ा उनके प्रभाव का विवेचन करेंगे।

ब्रह्मसमाज और राजा राममोहनराय—ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२—१८३३) गत शताब्दी के अग्रगण्य सुधारकों में से थे। डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में "उनका दर्शन बड़ा विस्तृत और दृष्टि-बिन्दु व्यापक था।"[2] उन्होंने २० अगस्त, १८२८ को ब्रह्मसमाज की स्थापना की। ब्रह्मसमाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे :—(१) ईश्वर एक है। वह संसार का स्रष्टा, पालक और

१. हंस कोहन—"ए हिस्ट्री ऑफ नेशनलिज्म इन दी ईस्ट" पृ० ३६०।
२. डॉ० पट्टाभि सीतारामैया—"दि हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस" पृ० १७।

In the preceding years he had thought of little else than this, and as he never had said a word about it he was not accounted good company. Nor had he any desire to shine —in any light but that of a hero. The homelanders would have been cordial enough to him, throughout those years, if he had wished them to be so. But he never was able to forget how cold and unkind they had been to him in his early childhood. It was not for their sake that he had so constantly nursed and brooded over his great wish It was for his own sake only.

An unsympathetic character? Stay!—let me tell you that since the dawn of his adolescence another sake had come in to join his own: Thia's sake.

From the moment when she, in childhood, had called him a coward, it always had been Thia especially that he wished to impress. But in recent times his feeling had changed. How should such a lout as he ever hope to impress Thia, who was a goddess? Thol hoped only to make Thia happy, to see her go dancing and singing once more, with flowers in her hair. Thol did not even dare hope that Thia would thank him Thol was not an unsympathetic character at all

As for Thia, she was more fascinating than ever. Do not be misled by her seeming to Thol a goddess Remember that the homelanders worshipped cherry trees and rain and fire and running water and all such things. There was nothing of the statuesque Hellenic ideal about Thia She had not grown tall, she was as lissom and almost as slight as ever; and her alien dark hair had not lost its wildness. on windy days it flew out far behind her, like a thunder cloud, and on calm days hid her as in a bush She had never changed the task that she chose on the day of the

आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया। शिक्षा के प्रश्न पर आर्यसमाज में कालिज तथा गुरुकुल नामक दो दल हो गए। कालिज दल ने डी० ए० वी० कालिज की स्थापना करके शिक्षा का प्रसार तथा वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। गुरुकुल दल के नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०२ में हरिद्वार के पास गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की। आर्य समाज ने शिक्षा, हिन्दी-प्रचार, दलितोद्धार, जातिभेद के उच्छेदन, लोक-सेवा तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

आर्यसमाज के दो परस्पर विरोधी पहलू रहे हैं—एक प्रतिगामी, दूसरा प्रगतिशील। वेदों की निर्भ्रान्तता पर अत्यधिक बल, व्यक्तिगत निर्णय की उपेक्षा, अन्य धर्मों के प्रति निषेधात्मक तथा कतिपय अंशों में प्रतिकूल दृष्टिकोण ने उसको सार्वजनीन अथवा सच्चा राष्ट्रीय धर्म नहीं बनने दिया। लेकिन दूसरी ओर जहाँ आर्यसमाज ने ब्राह्मणों की प्रभुता, मूर्तिपूजा और बहुदेववाद विषयक अंधविश्वासों का विरोध किया है, नारी जाति के अभ्युत्थान और शिक्षा-प्रसार के लिए प्रयत्न किया है, वह एक प्रगतिशील आन्दोलन रहा है। आर्यसमाज राष्ट्रीय जागरण का वैतालिक था। एक समय राजनीतिक दृष्टि से आर्यसमाज सरकार की दृष्टि में क्रान्तिकारी आन्दोलन था और उसके दमन का प्रभूत प्रयास किया गया। सर वैलेण्टाइन शिरोल ने इसे भारत में ब्रिटिश प्रभुता के लिए बहुत बड़ा खतरा बताया था।[1]

रामकृष्ण मिशन और विवेकानन्द—श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म १८३४ में हुगली परगने के एक अकिंचन ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाल्यकाल से ही उनका विश्वास था कि परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं, इसलिए उन्होंने कठोर साधना की और भक्ति का जीवन बिताया। श्री रामकृष्ण का विचार था कि सब धर्म सच्चे हैं और वे ईश्वर तक पहुँचाने के भिन्न-भिन्न साधन मात्र हैं।

श्री रामकृष्ण के शिष्यों में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। गुरु की मृत्यु के बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और वे ६ वर्ष तक तिब्बत में बौद्ध धर्म के अध्ययनार्थ भ्रमण करते रहे। १८९३ के सितम्बर मास में शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक भाषण दिया जिससे अमरीका को भारत के धार्मिक महत्त्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इंगलैण्ड में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के बाद वे भारत वापस लौटे। विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव की शिक्षा के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

विवेकानन्द महान् धार्मिक नेता ही नहीं थे, वे महान् राष्ट्र-निर्माता भी थे। यद्यपि उन्होंने राजनीति में पदार्पण नहीं किया, परन्तु उनकी रचनाओं में उत्कृष्ट देश-

१. हंस कोहन—"ए हिस्ट्री ऑफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" पृ० ६८।

mossy from the marshes, an aged wanderer. He turned his dark eyes on Thol and said with a smile, pointing towards the thick smoke on the hill, 'A dragon is here now?'

'Yea, O wanderer,' Thol answered

'There was none aforetime,' said the old man. 'A dragon was what your folk needed.'

'They need him not. But tell me, O you that have so much wandered, and have seen many dragons, tell me how a dragon may be slain!'

'Mind your sheep, young shepherd. Let the dragon be. Let not your sheep mourn you.'

'They shall not. I shall slay the dragon. Only tell me how! Surely there is a way?'

'It is a way that would lead you into his jaws, O fool, and not hurt him. Only through the roof of his mouth can a dragon be pierced and wounded. He opens not his jaws save when they are falling upon his prey. Do they not fall swiftly, O fool?'

'O wanderer, yea But'——

'Could you deftly spear the roof of that great mouth, O prey, in that little time?'

'Yea, surely, if so the dragon would perish.'

The old man laughed 'So would the dragon perish, truly; but so only. So would be heard what few ears have heard—the cry that a dragon utters as he is slain But so only' And the old man went his way northward

From that day on, Thol did not watch his sheep very much. They, on the other hand, spent most of their time in watching him. They rather thought he was mad, stand ing in that odd attitude and ever lunging his crook up at one of the nodding boughs of that ash tree.

ने हमें बताया कि हमारे धर्म में कौन-सी बातें अच्छी हैं, जिन्हें हम स्वीकार करें और कौन-सी बातें बुरी हैं, जिन्हें हम त्यागें। यह धार्मिक सुधार आन्दोलनों का ही फल था कि भारत अन्ध-विश्वासों के घने कुहरे से बहुत कुछ बाहर निकला और उसने प्रत्येक वस्तु को तर्क, विज्ञान और विवेक के प्रकाश में देखना प्रारम्भ किया।

प्रायः समस्त धर्म-सुधार-आन्दोलनों ने भारत के अतीत वैभव का चित्र उपस्थित किया। भारतीय जनता ने जब इस चित्र से अपनी वर्तमान स्थिति का मिलान किया तो उसे अपार वेदना हुई। कहाँ तो भूतकाल का जगद्गुरु भारतवर्ष और कहाँ वर्तमान काल का पराधीन, निर्धन और अशिक्षित भारतवर्ष। स्वभावतः धार्मिक आन्दोलनों ने भारतीय जनता के अन्तस्तल में अपनी वर्तमान दुरवस्था से छुटकारा पाने की अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी। इस प्रकार धर्म-सुधार-आन्दोलनों ने राष्ट्रवाद की भावना को धार्मिक क्षेत्र में व्यक्त किया।

यह स्मर्तव्य है कि राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द प्रभृति सुधारक उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को देशभक्ति का पुनीत पाठ पढ़ाया। राजा राममोहनराय को आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। यद्यपि वे ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे, फिर भी वे उन अन्यायों से अवगत थे जिनसे भारतवर्ष पीड़ित था। दयानन्दजी का तो राष्ट्रप्रेम असन्दिग्ध है। उन्होंने अपने सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" स्वामी विवेकानन्द का हृदय जहाँ वेदान्त की शिक्षाओं से आप्लावित था वहाँ उनके हृदय में देशभक्ति की लाल तरंगें भी हिलोरें लेती रहती थीं। नवयुवकों के लिए उनका संदेश था, "मेरे तरुण मित्रो! बलवान् बनो! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पट्ठे अधिक दृढ़ होंगे, तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकोगे। गीता का उपदेश कायरों को नहीं प्रत्युत अर्जुन को दिया गया था, जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था।"

आर्थिक कारण—शुरू में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल मात्र वाणिज्य संस्था ही थी; विदेशों से कुछ सामान लाती और उसे भारत के वस्त्र, दस्तकारियों तथा अन्यान्य विलास की चीजों से बदल लेती, तब भारतीय उद्योगों को बड़ा बल मिला और कारीगरी की चीजों में भारत निर्यात वाणिज्य बहुत बढ़ गया। लेकिन उस समय हालत बिल्कुल बदल गई जब कि इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप शिल्पकारों

with one accord the throng had moved from the western to the eastern foot of the hill, and stayed there gazing in reverence up to the home of a god greater than the sun

When at length the god showed himself, there arose from the throng a great roar of adoration The throng went down on its knees to him, flung up its arms to him, half closed its eyes so as not to be blinded by the sight of him His little mortal mate, knowing not that he was a god, thinking only that he was a brave man and her own, was astonished at the doings of her dear ones The god himself, sharing her ignorance, was deeply embarrassed, and he blushed to the roots of his hair

'Laugh, O Thol,' she whispered to him 'It were well for them that you should laugh' But he never had laughed in all his life, and was much too uncomfortable to begin doing so just now He backed into the cave The religious throng heaved a deep moan of disappointment as he did so Thia urged him to come forth and laugh as she herself was doing 'Nay,' he said, 'but do you, whom they love, dance a little for them and sing Then will they go away happy'

It seemed to Thia that really this was the next best plan, and so, still laughing, she turned round and danced and sang with great animation and good will The audience, however, was cold It gave her its attention, but even this, she began to feel, was not its kind attention Indeed, the audience was jarred After a while—for Thia's pride forbade her to stop her performance—the audience began to drift away

There were tears in her eyes when she danced back into the cave But these she brushed away, these she forgot instantly in her lover's presence

जिनकी संख्या एक करोड़ तक पहुंचती थी जीविका से वंचित हो गए। इसके साथ ही साथ तीन करोड़ सूत कातने वाले जिनकी वजह से बीस लाख करघे चलते थे, अपनी रोजी से हाथ धो बैठे। इस प्रकार चार करोड़ व्यक्तियों की रोजी जाती रही। अन्यान्य शिल्प जीवियों का भी यही हाल हुआ। नगरों में कूड़ा हटाने वाली गाड़ी के लिए मोटर टायरों के आयात ने बढ़ई की रोटी छीन ली। बर्मिघम और एण्टवर्प से आने वाले तार, खूण्टी, कब्जे, अर्गला, ताले और तालियों आदि के कारण लोहार की आय मारी गई। जूते भी बाहर से ही आने लगे, फलतः चमार की जीविका का भी कोई ठिकाना नहीं रहा। रोगन और चीनी के समान की वजह से कुम्हार अपनी जीविका खो बैठा।"[१] अंग्रेजों ने भारत की पुरानी दस्तकारियों का अन्त करने के साथ ही साथ यहाँ के माल तैयार करने के नई उद्योग-धन्धों को भी मसल डालने की कोशिश की।"[२]

कृषि पर प्रभाव—निर्धनता और असंतोष—भारतीय कर्मियों की विपुल बेकारी और शिल्पकालओं के ह्रास के कारण नगरों की जन संख्या कम हो गई, लोग शहरों को छोड़-छोड़कर गाँवों में जा बसे और जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कृषि की शरण ली। जमीन पर बढ़ते हुए दवाव, अंग्रेजों की भूमि सम्बन्धी नीति, जमींदारी प्रथा, और भारतीय कृषि की परम्परागत दुर्बलताओं से खेती को बड़ा धक्का पहुँचा। फलतः चारों ओर दरिद्रता प्रसरित हो गई और लोगों के रहन-सहन का स्तर नीचे गिर गया। इसने स्वभाविक रूप से असन्तोष को जन्म दिया। यह स्पष्ट रूप से दीखने लगा कि भारत की दुर्दान्त आर्थिक समस्या, गरीबी को उस काल पर्यन्त नहीं सुलझाया जा सकता

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—हिस्ट्री आॉफ नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया पृ० ५-६।

२. ब्रिटेन ने भारतवर्ष के साथ कपास-वस्त्रों का जो वाणिज्य किया, उसके इतिहास को 'इंगलैण्ड की ओर से भारतवर्ष के प्रति किए गए अन्याय का एक ज्वलन्त उदाहरण' बताते हुए हारेस विल्सन ने लिखा है—'यदि इस प्रकार के निषिद्ध कर और व्यवधान न लगे होते, तो मानचेस्टर और पैस्ले के कारखाने शुरू में ही बन्द हो जाते और फिर वाष्प की शक्ति से भी उन्हें चालित करना कठिन हो जाता। भारतीय शिल्प के बलिदान के बल पर उनका निर्माण हुआ। यदि भारत स्वतन्त्र होता, तो वह प्रतिकार करता। उसे आत्म-रक्षा के इस साधन से वंचित रक्खा गया। वह विदेशियों की दया का मुखापेक्षी रहा। बिना किसी प्रकार का कर चुकाए विदेशी माल का यहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक आयात किया गया। विदेशी व्यापारी ने अपने इस प्रतिपक्षी को पछाड़ने और बाद में उसका गलाघोंट देने के लिए राजनीतिक अन्याय का आश्रय लिया जिसके सम्मुख बराबरी की मर्यादा पर वह बिल्कुल नहीं ठहर सकता था।' जे०एस० मिल द्वारा उद्धृत—"रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट,' पृ०३८५।'

Thia laughed long but tenderly. 'And your sheep, beloved, what said they?'

'How should I know?' asked Thol.

'And you left them there? Do you not love them?'

'I have never loved them.'

'But they were your task?'

'O Thia, the dragon was my task.'

She stroked his arm. 'The dragon is dead, O Thol. You have slain the dragon, O my brave dear one. That task is done. You must find some other. All men must work. Since you loved not your sheep, you shall love my geese, and I will teach you to drive them with me.'

'That,' said Thol, 'would not be a man's work, O Thia.'

'But they say you are a god! And I think a god may do as he will.'

Her flock had swum out into the pond. She called it back to her, and headed it away towards some willows From one of these she plucked for Thol a long twig such as she herself carried, and, having stripped it of its leaves, gave it to him and began to teach him her art.

XV

There was, as Thia had known there must be, a great concourse of people around and about the dragon.

There was a long line of children riding on its back, there were infants in arms being urged by their mothers never to forget that they had seen it; there were many young men and women trying to rip off some of its scales, as reminders; and there were elders exchanging reminis-

शासन ने अत्यन्त उद्धत भाव से आचरण किया, अतः उसके प्रति असंतोष की भावना शीघ्र ही जाग्रत हो गई। अंग्रेज भारतीयों को अपने से हीन नस्ल का, 'आधे वनमानुष और आधे हब्शी' समझकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार के दृष्टिकोण से भारतीयों के बीच अनिवार्य रूप से ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का विस्तार हुआ। इसकी वजह से भारतीयों और उनके श्वेत शासकों के बीच बहुत चौड़ी खाई उत्पन्न हो गई। चूंकि सभी उच्च सरकारी नौकरियों पर यूरोपियनों की ही नियुक्ति होती थी, इससे ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में और भी वृद्धि हुई। इस जातीय भेदभाव और भारतीय प्रतिभा के तिरस्कार का शिक्षित भारतीयों ने प्रचण्ड रूप से विरोध किया। गैरेट ने ठीक ही कहा है कि भारतीय राष्ट्रीयता के उदय में जातीय भेदभाव एक प्रधान कारण था।

अंग्रेजों ने जिस अविश्वास और दमन की नीति पर आचरण किया, उसके कारण असंतोष और प्रचण्ड हो उठा। लार्ड लिटन के भ्रान्तिमय शासनकाल में जो प्रतिक्रियावादी काम किए गए, उन्होंने असंतोष के ज्वालामुखी को उस स्थिति तक पहुँचा दिया कि बस उसके फूटने की ही देर रह गई थी। मूर्खतापूर्ण अफगान युद्ध के कारण भारत की आर्थिक स्थिति पर कुप्रभाव पड़ा। जबकि देश भयंकर दुर्भिक्ष के पंजों में जकड़ा हुआ था, जनता की कठिनाइयों की सर्वथा उपेक्षा कर लार्ड लिटन ने शानदार दिल्ली दरबार का आयोजन किया। उसने निरपराध भारतीयों के लिए हथियार रखना अवैध कर दिया जब कि यूरोपियनों के ऊपर ऐसा कोई अंकुश नहीं लगाया। समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाकर उसने आलोचना के स्वर को बन्द करने की चेष्टा की। इन सब कामों की वजह से 'जनता के असंतोष का पुंजीभूत ज्वाल बढ़ता ही चला गया।'[१] सर विलियम वेडरबर्न के शब्दों में 'रूसी पुलिस के दमन की विधियों से संयुक्त इन सभी प्रतिगामी कामों के कारण लार्ड लिटन के शासनकाल में भारत क्रान्तिकारी विस्फोट के अतीव समीप पहुँच गया था। मिस्टर ह्यूम का थोड़ा भी विलम्ब अत्यन्त घातक सिद्ध होता। लार्ड रिपन ने बिगड़ी हुई स्थिति को सम्भालने का भरसक प्रयास किया, परन्तु इल्बर्ट बिल को लेकर यूरोपियनों ने विरोध का जो तूफान खड़ा कर दिया, उसमें सब किया-कराया मिट्टी में मिल गया। जब भारतीयों को यह समझते देर न लगी कि यदि वे विदेशी शासन से टक्कर लेना चाहते हैं, उसके दमन और शोषण से छुटकारा पाने के आकांक्षी हैं, तो उन्हें संगठन के सूत्र में बँध जाना पड़ेगा। यह स्मरणीय है कि राष्ट्रीय महासभा का जन्म इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद-विवाद समाप्त होने के पूर्व ही हो गया था।

१. ए० आर० देसाई- 'सोशल बैक ग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म' पृ० २८६।

she cried. 'He is new to his work. He will grow in skill. These geese will find that he is no fool. And it may be that hereafter, if you are all very good, I will teach him to sing and dance for you, with flowers in his bright red hair.'

Having thus spoken, she ran to overtake her husband, and soon, guiding the flock in good order, went her way with him back to the pond.

XVI

There was a general desire that the dragon should not be buried anywhere within the confines of the homeland. Shib conceived that if the trunks of felled trees were used as rollers the carcass might be transported to the swamps and be sunk there. By its vast weight the carcass frustrated this scheme. A long deep trench must be dug beside it. All the able-bodied men of the homeland offered their services, and of course Shib was a most efficient director of the work.

You will be glad to hear that Shib was a more sympathetic character than he once was. The public spirit that had always been his was unmarred now by vanity and personal ambition. He was a quiet, disinterested, indefatigable worker for the common weal, burning always with that hard, gem-like flame which Mr. Pater discerned in the breasts of our own Civil Servants. He had forgotten, or he remembered without bitterness, the time when he was a popular hero. Thol's great deed was a source of genuine pleasure to him. Nay (for he had long ago outgrown his callow atheism), he accepted Thol as a god,

अशान्त कर दिया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह के आदि कारण अंग्रेज स्वयं ही थे, उन्होंने उसे नियन्त्रित करने के लिए दमन के साधनों का प्रयोग किया। परन्तु राष्ट्रीयता का यह अजस्र प्रवाह उनके रोके नहीं रुका। भारतीय राष्ट्रवादी विदेशी शासन का समूल उच्छेदन करने के लिए बद्ध परिकर हो गए।

८. राष्ट्रीय महासभा का जन्म।

एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम—हम देख चुके हैं कि, राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस जिसे सुविधा के विचार से कांग्रेस ही कहेंगे) आर्थिक और राजनीतिक कारणों के संयोग और 'राजनीतिक दासत्व की अनुभूति' का परिणाम थी। "साथ ही वह राष्ट्रीय पुनरुत्थान का प्रतिपादन करने वाली संस्था भी थी।"[१] इसकी स्थापना का विचार एलेन ऑक्टेवियन के मस्तिष्क में आया, जो एक अवकाश प्राप्त सिविलियन थे। वैसे इसके लिए भूमि पहले से ही तैयार की जा चुकी थी। देश के विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय संगठनों की नींव पड़ चुकी थी। ये संगठन राजनीतिक रूप से सक्रिय भी थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को राष्ट्रीय सम्मेलन (Indian National Conference) की स्थापना करने में सफलता मिल चुकी थी। परन्तु कांग्रेस ने इन सब सहायक नदियों को अपने में मिलाकर शीघ्र ही एक महान् तरंगिणी का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की एक संस्था का विचार वायु मण्डल में व्याप्त था, कांग्रेस ने एक अखिल भारतीय संस्था की उस आवश्यकता को पूर्ण किया जिसका अनुभव सभी देशभक्तों को हो रहा था।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस की स्थापना का विचार सबसे पहले किस व्यक्ति के मस्तिष्क में उदित हुआ। सामान्यतः ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। देश के अन्दर बढ़ते हुए असन्तोष के खतरे को पहचान कर तथा यह सोचकर कि यह असंतोष कहीं क्रान्ति का रूप धारण न कर ले उन्होंने १ मार्च, १८८३ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों के नाम एक पत्र लिखा, जो अत्यन्त हृदयस्पर्शी था। इसमें उन्होंने ५० ऐसे निःस्वार्थ और निर्भय आदमियों की माँग की थी जो इस सिद्धान्त पर कि "आत्म बलिदान और निःस्वार्थता सुख और स्वातन्त्र्य के अचूक पथप्रदर्शक हैं" काम करने के लिए तैयार हों। ह्यूम ने अपनी योजना के सम्बन्ध में नए वायसराय लार्ड डफरिन (Lord Dufferin) से वार्तालाप किया। लार्ड डफरिन ने उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और योजना के क्षेत्र को बढ़ा दिया। उमेशचन्द्र बैनर्जी के अनुसार ह्यूम के मस्तिष्क में सबसे पहले यह

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस" पृ० १७।

The great occasion lacked only the god's presence. Of course the god had been invited. Shib, heading a deputation on the banks of the goose pond, had besought him that he would deign to throw the first clod of earth upon the dragon; and he had diplomatically added that all the homelanders were hoping that Thia might be induced to sing and dance on the grave as soon as it had been filled. But Thia had answered that she could not give her husband leave, inasmuch as he had been idle at his work that day; he would like very much to come; but it was for that very reason that she would not let him: he must be punished. As for herself, she too would very much like to come, but she must stay and keep him to his work Thol saying nothing, the deputation had then withdrawn, not without many obeisances, which Thia, with as many curtseys, roguishly took to herself.

However, even without the light of the god's countenance on it, the festival was a great and glorious one Perhaps indeed the revellers enjoyed themselves more than would have been possible in the glare of that awful luminary The revels lasted throughout the night, and throughout the next day, and did not cease even then. Dazed with sleepiness and heavy with surfeits of meat, the home landers continued to caper around bonfires and to clap one another on the back; and only because they had not the secret of fermented liquor were there no regrettable scenes of intoxication The revels had become a habit. It seemed as though they would never cease But human strength is finite.

Thia would have liked to be in the midst of the great to do It was well that the homelanders should rejoice. And the homelanders were as dear to her as ever, though she

-वास्तविक उद्देश्य थे, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। (शुरू में संस्था का नाम 'इण्डियन नेशनल यूनियन निर्धारित किया गया था) सबसे अधिक लोकप्रिय मत लाला लाजपतराय का है जिसका उन्होंने अपनी पुस्तक 'यंग इण्डिया' (Young India) में उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'कांग्रेस का सत्वर उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था।' सर विलियम वेडरबर्न (Sir William Wedderburn) का जो कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं और ह्यूम के घनिष्टतम सहयोगियों में से एक थे, भी यही मत था।

कांग्रेस—व्यापक असन्तोष के लिए अभयदीप (Safety Valve)—लाला लाजपतराय के उक्त मत की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि ह्यूम साहब को आशा थी कि कांग्रेस के द्वारा तत्कालीन असन्तोष का पता लगाया जा सकता है। यह असन्तोष उस समय दिन प्रतिदिन प्रचण्ड होता जा रहा था। ह्यूम को सम्भाव्य खतरे का भान था। जिन कारणों का हम विश्लेषण कर चुके हैं, उनकी वजह से उस समय भारत द्वितीय क्रान्ति के मुख पर खड़ा प्रतीत होता था। लार्ड लिटन के दमनकारी शासन की समाप्ति पर "भारत क्रान्ति के अतीव समीप पहुँच चुका था।" भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और शिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोष इस बात के स्पष्ट चिन्ह थे कि क्रान्ति का ज्वालामुखी अब विस्फोट करने वाला था। दक्षिण के कृषक विद्रोह ने और बंगाल के उग्र क्रान्तिकारियों की गतिविधियों ने ब्रिटिश सरकार को आगामी खतरे के प्रति सजग कर दिया। ह्यूम को विश्वसनीय सूत्रों से इस बात के कि "राजनीतिक अशान्ति अन्दर-ही-अन्दर बढ़ रही है" अकाट्य प्रमाण प्राप्त हो गए थे। इसलिए ह्यूम को ठीक मौके पर सूझी और उन्होंने इस काम में हाथ डाला। जनता के असन्तोष रूपी क्रान्ति विस्फोट को रोकने के लिए एक अभयदीप (Safety Valve) का निर्माण किया जो कि कांग्रेस थी। सर विलियम वेडर बर्न (Sir William Wedderburn) ने लिखा है कि मि० ह्यूम ने एक बार कहा था "भारत में असन्तोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचने के लिए एक अभय दीप की आवश्यकता है और कांग्रेस आन्दोलन से बढ़कर अभय दीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती।"[१]

कांग्रेस ने ह्यूम की आशाओं को पूर्ण किया—यह स्पष्ट है कि कांग्रेस ने मि० ह्यूम और उन ब्रिटिश अधिकारियों की आशाओं को जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था पूर्ण किया। वह शिक्षित भारतीयों की बेचैनी का आकर्षण केन्द्र बन गई। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि कांग्रेस के मंच से इस बेचैनी और असन्तोष को वैधानिक रूप में व्यक्त किया जाने लगा और इस प्रकार आतंकवाद की गति रुकी। "कांग्रेस राष्ट्रीय असन्तोष को व्यक्त करने का शान्तिमय साधन बन गई।

१. सर विलियम वेडरबर्न—"एलेन आक्टेवियन ह्यूम" पृ० ७१।

larger than appetites. Eyes were duller, complexions less clear, chests narrower, stomachs more obtrusive, arms and legs less well developed, than they had been under the dragon's auspices. And prayers, of course, were not said now.

Thia in her childhood had thought the homelanders perfect; and thus after the coming of the dragon she had observed no improvement in them. But now, with maturer vision, she did see that they were growing less worthy of high esteem. This grieved her. She believed that she loved the homelanders as much as ever, she told herself truly enough that it was much her own fault that they had ceased to love her. In point of fact, their coldness to her, in course of time, cooled her feeling for them. she was human. What she did love as much as ever was the home land. What grieved her was that the homeland should have an imperfect population.

She talked constantly to Thol about her sorrow. He was not a very apt auditor. Being a native of the homeland, he could not see it, as she could, from without. It was not to him an idea, as it was to Thia's deep alien eyes. It was just the homeland. As for the homelanders themselves, he had never, as you may remember, loved them; but he liked them quite well now. He supposed he really was not a god; but it no longer embarrassed him to be thought so; indeed it pleased him to be thought so. The homelanders no longer knelt when he passed by. He had asked them not to, and they reverently obeyed his wish. He supposed Thia was right in saying that they were less good than in the days of the dragon; but in those days he had hardly known them. He was glad to know them better now His nature had, in fact, become more expansive He wished

सम्बन्ध में अपना मत-परिवर्तन करने में भी उन्हें देर न लगी। शीघ्र ही उसके खतरे का उन्हें भान हो गया। वे तुरन्त ही उसके विरोधी हो गए। उन्हीं लार्ड डफरिन ने, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था, अब उसे 'सूक्ष्म अल्पसंख्यक वर्ग' कहकर पुकारा। सर वैलेंटाइन शिरोल ने कांग्रेस के प्रति शासन की नूतन प्रतिक्रिया को इन शब्दों में संक्षिप्त रूप से व्यक्त किया 'कांग्रेस भारत की केवल शतांश जन-संख्या का ही प्रतिनिधित्व करती है।' उन्होंने कांग्रेस को साम्प्रदायिक हिन्दू नेताओं की प्रवक्ता बताया। वस्तुस्थिति यह है कि कांग्रेस शुद्ध राष्ट्रीय और स्वदेशी आन्दोलन के रूप में अवतरित हुई। इस प्रकार की देशव्यापी संस्था के लिए भारत की प्रादेशिक राजनीतिक संस्थाओं ने पहले से ही भूमि तैयार कर ली थी, किन्तु इसे एक सार्वजनिक राष्ट्रीय संस्था का रूप देने का श्रेय श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को है जिन्होंने १८८३ में इसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया था। जब कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हो रहा था; राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन कलकत्ते में हो रहा था।'[१] भारतवर्ष के महान् देशभक्त दादाभाई नौरोजी, उमेशचन्द्र बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, दिनशा वाचा, एवं बदरुद्दीन तैयब जी प्रभृति जन प्रारम्भ में ही कांग्रेस में प्रविष्ट हो गए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक मात्र नहीं थी।

सारांश

मूलरूप से तो राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप राजनीतिक था; परन्तु उसकी जड़ें आर्थिक, सांस्कृतिक, जातीय और राजनीतिक आदि विभिन्न कारणों में निहित हैं। आवागमन के साधनों की उन्नति, भारत के राजनीतिक एकीकरण और सामान्य आधीनता की भावना ने जनता को राष्ट्रीयता के सूत्र में पिरो दिया। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से नवोदित भारतीय राष्ट्रीयता को अपूर्व बल प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयों का प्रशंस्य मानसिक विकास हुआ। उनके हृदयों में व्यक्तिगत स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की उन्नति और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक विकास ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को नूतन शक्ति प्रदान की। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलनों पर विस्मयकारी प्रभाव डाला। पुरातन शिल्पकलाओं ने ह्रास, कृषि की अधोगति और जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता ने व्यापक असन्तोष को जन्म दिया था। जातीय विद्वेष की भावना और अविश्वास तथा दमन की नीति के कारण भारतीय

१. जी० एन०—"लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड डेवलपमेण्ट" पृ० ११२।

and feeble. He replied, seriously, that he was younger than she; and, as for feebleness, he asked her to remember that he, not she, had slain the dragon. He then walked away, leaving his goats to their own devices, and his wife to hers, and spent the rest of the day in company that was more appreciative of him. He returned of course before sundown, fearful of a lecture. Thia, who had already driven his goats into their pen, did but smile demurely, saying that she would always be glad to do his work for him, and that she was trustier than any lad.

But, as time went on, her temper was not always so sweet. Indeed, it ceased to be sweet. In his steady, rather bovine way, he loved her as much as ever; but his love of being with her was less great, and his pleasure in the society of others was greater, than of yore. Perhaps if Thia had borne a child, she might have been less troubled about the welfare of the homelanders. But this diversion and solace was not granted. Thia's maternal instinct had to spend itself on a community which she could not help and did not now genuinely love, and on a husband who did not understand her simplest thoughts and was moreover growing fat. Her disposition suffered under the strain. One day, when she was talking to him about the homeland, she paused with sudden suspicion and asked him what she had said last; and he could make no answer; and she asked him to tell her what he had been thinking about; and he said that he had been thinking about his having slain the dragon; and she, instead of chiding him tenderly, as she would have done in the old days, screamed. She screamed that she would go mad if ever again he spoke to her of that old dragon. She flung her arms out towards the hills across the waters and said, with no lowering of her voice,

अध्याय ३

उदार राष्ट्रीयता—कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप

१०. कांग्रेस, 'देश में एक शक्ति'

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति—वास्तव में कांग्रेस का इतिहास ही भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। यह संस्था जिसने बासठ वर्षों के अविराम और कठिन संघर्ष के उपरान्त स्वतन्त्रता प्राप्त की, प्रारम्भ में अत्यन्त नरम थी। इसके प्रथम अधिवेशन में जो १८८५ के अन्त में बम्बई में हुआ था, ७२ प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिन्होंने "अपने आपको प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया था।" परन्तु कांग्रेस की शक्ति प्रतिवर्ष बढ़ती ही गई। दूसरे अधिवेशन में प्रतिनिधियों की संख्या ४३६, तीसरे में ६०७ और चौथे में १,२४८ तक जा पहुँची। "जिस प्रकार एक बड़ी नदी का मूल एक छोटे से सोते में होता है उसी प्रकार महान् संस्थाओं का आरम्भ भी बहुत मामूली होता है। जीवन की शुरुआत में वे बड़ी तेजी के साथ दौड़ती हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापक होती जाती हैं, त्यों-त्यों उनकी गति मन्द किन्तु स्थिर होती जाती है। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों उनमें सहायक नदियाँ मिलती जाती हैं और वे उसको अधिकाधिक सम्पन्न बनाती जाती हैं। यही उदाहरण हमारी कांग्रेस पर भी लागू होता है'।[1] अपने जन्म के कुछ ही वर्षों के भीतर कांग्रेस ने एक अखिल भारतीय संगठन का रूप धारण कर लिया। पं० मदन मोहन मालवीय के शब्दों में भारत ने 'अन्त में अपनी आवाज को इस महान् कांग्रेस में पाया'। सर हैनरी कॉटन ने, जिन्होंने कांग्रेस के जन्मकाल से ही उसके विकास का निरीक्षण किया था, उसको लक्ष्य करके कहा कि इसके नेता 'देश में एक शक्ति बन गए हैं जिनकी आवाज देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निनादित होती है'।

कांग्रेस इतिहास की तीन अवस्थाएं—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को तीन विशिष्ट अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। पहली अवस्था १८८५ से १९०५ तक की है। २० वर्षों के इस काल में उदार अथवा नरम राष्ट्रीयता की प्रधानता रही। यही इस काल की विशेषता है। इस युग में कांग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी। इस काल में कांग्रेस ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी राजभक्ति की बातों को बार-बार दुहराती रही और उसने आशा की थी कि अंग्रेजों से यह

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ कांग्रेस" पृ० २९।

youths and maidens intent on making the most of their freedom. Their freedom was their religion; and, as every religion needs rites, they ritualistically danced. They danced much during the day, and then much by moonlight or starlight or firelight, in a grim and purposeful, an angular and indeflexible manner, making it very clear that they were not to be trifled with.

Thia, when first she saw them engaged thus, had been very glad; she imagined that they must be doing something useful. When she realised that they were dancing, she drew a deep breath. She remembered how she herself had danced—danced thoughtlessly and anyhow, from her heart, with every scrap of her body. She blushed at the recollection. She did not wonder that the homelanders had resented her dance on the morning after her marriage. She wondered that they had so encouraged her to dance when she was a child. And she felt that there must, after all, be in these young people a deep fund of earnestness, auguring well for their future.

Time had not confirmed this notion. The young people danced through the passing seasons and the passing years with ever greater assiduity and solemnity; but other forms of seriousness were not manifested by them. Few of them seemed to find time even for falling in love and marrying They all, however, called one another 'beloved,' and had a kind of mutual good will which their elders, among themselves, would have done well to emulate. And for those elders they had a tolerant feeling which ought to have been, yet was not, fully reciprocated.

Thol within five years of the dragon's death, Thol with his immense red beard and his stately deportment, was of course very definitely an elder; and still more so was that

करती है। मेरे लिए यह बताना सबसे अधिक प्रसन्नता की बात है कि कि उसकी उपज आरम्भ में एक अंग्रेज के मस्तिष्क में हुई। एलेन आक्टेवियन ह्यू म को कांग्रेस के पिता के रूप में हम जानते हैं। दो महान् पारसियों ने—फिरोज शाह मेहता और दादा भाई नौरोजी ने—जिन्हें सारा भारत 'वृद्ध पितामह' कहने में हर्ष अनुभव करता है, इसका पोषण किया। आरम्भ में ही कांग्रेस में मुसलमान, ईसाई, एंग्लोइण्डियन आदि शामिल थे, बल्कि मुझे यों कहना चाहिए कि इसमें सब धर्मों, सम्प्रदायों और हितों का पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व होता था'।

कांग्रेस का सामाजिक आधार—वैसे तो उपरोक्त कथनानुसार कांग्रेस का स्वरूप सदैव ही राष्ट्रीय रहा है, परन्तु शुरू-शुरू में अपनी सबसे पहली अवस्था में उसको जन संगठन मान लेना भूल होगी। यद्यपि वह देश के सभी वर्गों की कठिनाइयों को मुखरित करती थी और राजनीतिक उत्कर्ष के लिए उनके हृदय की उद्दाम लालसा को भी व्यक्त करती थी; परन्तु मुख्यतः वह बुद्धिजीवियों, शिक्षितों और उच्च मध्य वर्गों तथा व्यापारी बोरज़ुआजी का ही प्रतिनिधित्व करती थी। कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों में वकीलों, शिक्षा विशारदों, पत्रकारों, चिकित्सकों तथा व्यापारियों की ही संख्या अधिक रहती थी।

प्रारम्भ में कांग्रेस क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी— कांग्रेस के कार्यक्षेत्र एवं स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रारम्भ में वह क्रान्तिकारी संगठन नहीं था। उस समय उसकी बागडोर पूरी तरह से नरम राष्ट्रवादियों के हाथों में थी। अंग्रेजों की न्याय भावना में उनकी दृढ़ आस्था थी। उनका प्रमुख ध्येय यही था कि भारतीय शासन का प्रजातन्त्रीकरण हो तथा विधान सभाओं में भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ जाय। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने किसी प्रकार के उग्र साधनों का अवलम्बन नहीं लिया, अपितु सार्वजनिक भाषणों, प्रचार, प्रदर्शनों, आवेदनों तथा प्रतिनिधिमण्डलों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया।

१२. प्रारम्भिक कांग्रेस के कार्य का संक्षिप्त सिंहावलोकन

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन १८८५—प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के प्रोग्राम और क्रियाकलापों का संक्षिप्त विवरण हमें यह समझने में सहायता देगा कि उदार राष्ट्रवादियों के क्या ध्येय थे, उनकी क्या कार्य पद्धति थी और उनके नेतृत्व में इस संस्था का क्या दृष्टिकोण रहा। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ था। उसके अध्यक्ष उमेशचन्द्र बैनर्जी थे और मन्त्री ए० ओ० ह्यू म। इस अधिवेशन ने भारत की कई सुप्रसिद्ध विभूतियों-दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशा एदलजी वाचा, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, नारायण गणेश चन्दावरकर, पी० आनन्दाचार्लू, वी०

not, as they supposed, think that he was too old to dance: he only thought that he might not dance well and might lose his power over them. He believed that they loved him. How should they not? Thia, though she never told him so now, loved him with her whole heart, of course, and, for all the harsh words she spoke at times, thought that no man was his equal. How should not these much gentler young women not have given their hearts to him? He felt that he himself could love one of them, if he were not Thia's husband. They were not beautiful, as Thia was; and they were not wise, as she was; but he felt that if he had never seen Thia he might love one of them, or even all of them.

XX

For lack of a calendar, the homelanders had not the habit of keeping anniversaries They never knew on what day of the year a thing had happened—did not even know that there was a year. But they knew the four seasons. They remembered that the apple trees had been in blossom when Thol slew the dragon, and that since then the apple-trees had blossomed four times And it seemed good to them that at the close of a day when those blossoms were again on those branches, a feast should be held in that part of the valley where the great deed had been done. Shib, who organised the feast, was anxious that it should be preceded by a hymn in praise of the slayer god. He thought this would have a good effect on the rising generation. But Thol opposed the idea, and it was dropped. Shib had also been anxious that Thia should attend the

१८८६—कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसके अध्यक्ष दादा-भाई नौरोजी थे। इस बार प्रतिनिधि "सार्वजनिक सभाओं द्वारा निर्वाचित हुए थे।" सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय ने इसी वर्ष कांग्रेस में प्रवेश किया। दूसरे अधिवेशन में विधान-सभाओं के सुधार की माँग को दुहराया गया और कहा गया कि उनमें ५० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने चाहिए; तथापि कांग्रेस में "अप्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धान्त मान लिया गया। कहा गया कि प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों का चुनाव तो म्युनिसिपल और लोकल-बोर्डों, व्यापार-संघों तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा हो और सर्वोच्च केन्द्रीय कौंसिल (Supreme Central Council) का चुनाव प्रान्तीय कौंसिलों के द्वारा हो।" देश के विधान मण्डलों में जनता के प्रतिनिधियों को भी स्थान मिलना चाहिए, इस माँग का समर्थन करते हुए एक डेलीगेट ने स्वीकार किया "हम राष्ट्रीय शासन की छत्रछाया में नहीं, अपितु विदेशी नौकरशाही की अधीनता में रहते हैं।" आगामी कांग्रेस अधिवेशनों में यह प्रस्ताव बार-बार दुहराया गया, फलतः १८६२ का "इण्डियन कौंसिल एक्ट" पास हो गया। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग-अलग कर देना चाहिए।

१८८७—कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन १८८७ में बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता में हुआ। यह कांग्रेस के प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन में अन्य कई प्रस्तावों के साथ-साथ एक प्रस्ताव यह भी पास किया गया कि भारतीयों को शिक्षा देने के लिए सैनिक विद्यालयों की भी स्थापना होनी चाहिए। एक नए सदस्य अर्डले नोर्टन (Eardley Norton) ने कांग्रेस के ऊपर लगाए गए इस दोषारोपण का कि वह एक राजद्रोही संस्था है, इस अधिवेशन में मुँह तोड़ उत्तर दिया।[1]

---

१. उसने कहा 'सज्जनों! यदि अत्याचार का विरोध करना राजद्रोह हो, यदि यह कहना कि जनता का अपने देश के शासन में अधिकाधिक हाथ रहना चाहिए, राजद्रोह हो, यदि वर्ग अत्याचार का विरोध करना, दमन के खिलाफ अपनी आवाज उठाना, अन्यायों का मुकाबला करना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का समर्थन करना और उत्तरोत्तर किन्तु सदैव विकासशील सुधार के सामान्य अधिकार को प्रमाणित करना राजद्रोह हो तो मैं निस्संदेह राजद्रोही हूँ और मुझे राजद्रोही कहलाते समय अपूर्व प्रसन्नता होती है, जब मैं आज अपने चारों ओर विराजमान राजद्रोहियों की गौरवपूर्ण पंक्ति में स्वयं को भी सम्मिलित पाता हूँ। सी० वाई० चिन्तामणि द्वारा उद्धृत—"इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स म्युटिनी" पृष्ठ ४३।

'O Thia,' he rebuked her, 'you speak empty words. You speak as though you did not love me.'

'I have long ceased to love you, O Thol,' she said in a low voice.

He stared at her blankly in the moonlight. His slow mind strove hard. 'But you are my wife,' he said at last. 'I am your husband. O Thia, is it indeed true that you have ceased to love me?'

'O Thol, it is most true.'

Then, by stress of the great anger that rose in him, his mind worked more quickly—or rather his tongue was loosened. He told Thia that she had never loved him. She denied this coldly. He said that she had never understood him. She denied this warmly. He reminded her that even when she was a little girl she had once called him a coward; and this too she denied; but he maintained that it was so; and she reminded him that after he had been beaten by his master for seeing the dragon he said that she too ought to have been beaten for seeing the dragon, and he denied this; but she persisted that it was so; and he then said that she ought to have been beaten; and she replied that she could be now, and she challenged him to beat her; but he did not accept her challenge; and this, she said, proved that he was a coward; and he asked her to repeat this, and she repeated it, and he then reminded her that he had slain the dragon; and she, stamping her foot, said she only wished the dragon had slain him; and she made a face at him, and rushed out of the cave, and if there had been a door she would have slammed it; and really he was quite glad that she had gone; and after she had run far she lay down upon the grass and slept till dawn, and then, rising and brushing the dew off her arms

(Official Secrets Act of 1904) जैसे दमनकारी कानूनों के हटा लेने की बारम्बार विनती की। १९०५ तक कांग्रेस समतल पथ पर दौड़ती रही। सार्वजनिक महत्ता का ऐसा कोई भी विषय नहीं जिसने उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न किया हो और विभिन्न विषयों पर पास किए गए प्रस्तावों में व्यक्त विचार आन्दोलन के नेताओं की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के साक्षी थे।"[1]

१३. उदार राष्ट्रवादियों की मनोवृत्ति और कार्य-पद्धति।

ब्रिटिश शासन की प्रशंसा और राजभक्ति---इसमें कोई संदेह नहीं कि उदार राष्ट्रवादी जिन्होंने राजनीतिक उत्कर्ष के लिए लड़े गए संघर्ष के प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का सूत्र संचालन किया, उच्चकोटि के देशभक्त थे। परन्तु उनके समय और सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि कुछ ऐसी सीमाएँ थीं जिनका उल्लंघन उनके लिए शक्य नहीं था। यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक भी थी। उनमें से अधिकांश उच्चवंशीय थे और पाश्चात्य शिक्षा का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। यदि उस समय ब्रिटिश शासन का प्रचण्ड विरोध किया भी जाता तो प्रारम्भ से ही उसका दमन किया गया होता। अतएव हमें यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि राष्ट्रीय संघर्ष के प्रभात काल में भारतीय राष्ट्रीय ब्रिटिश शासन के उत्कट प्रशंसक थे; परन्तु यह भी समझ लेना भ्रम होगा कि उन्हें ब्रिटिश शासन की त्रुटियों और दुर्बलताओं का कोई ज्ञान नहीं था। ब्रिटिश राज के उपकारों के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव था। क्या ब्रिटिश शासन ने भारत का राजनीतिक एकीकरण नहीं किया था, उसे केवल मात्र भौगोलिक नाम से बढ़ कर कुछ वस्तु नहीं बनाया था और उसमें राष्ट्रीय चेतना का संचार नहीं किया था? वे ब्रिटिश-सम्बन्ध को भारत के लिए लाभकर समझते थे। वे अंग्रेजों की इस बात के लिए जी खोलकर सराहना करते थे कि उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के संस्पर्श से भारत के सामाजिक जीवन को समृद्ध किया था, नूतन राष्ट्रीयता की वाहक अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात किया था और पाश्चात्य विचारधारा और साहित्य के संसर्ग से स्वाधीनता तथा प्रजातन्त्र के प्रति भारतीय नवयुवकों में प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न किया था। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी कहा करते थे कि 'इंगलैण्ड हमारा पथप्रदर्शक है।' ब्रिटिश शासन के सूत्रपात को एक ऐसा दैवी वरदान समझा गया जो भारत को मध्य युगीन अधोगति की दशा से ऊपर उठाकर राजनीति और आर्थिक उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के लिए ही अवतीर्ण हुआ था।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उदार राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार के प्रति राज-

१. सी० वाई० चिन्तामणि---'वही' पृष्ठ ४६।

go in quest of her. He freed his goats, guided them to some long grass and, sitting down, tried to take an intelligent interest in their doings and a lively interest in their welfare, and not wonder where Thia was.

For three whole days he tried hard—tried with all that fixity of purpose which had enabled him at last to slay the dragon. It was Afa's visit that unmanned him.

Not she nor any other of those maidens had ever come to him at the pond in Thia's time. If they happened to pass that way, they would gaze straight before them, or up at the sky, greeting neither the husband nor the wife, and simpering elaborately, as much as to say, 'We are unworthy.' But now it was straight at Thol that the approaching Afa simpered. And she said, 'I am come to be the goat herd's help!'

He marvelled that there was a time when he had thought he might have loved one of these maidens. He was not even sure that he knew which of them this one was. He was sure only that he despised them all. And this sentiment so contorted his mild face that there was nothing for Afa to do but toss her head and laugh and leave him.

Presently the look of great scorn in his face was succeeded by a look of even greater love. He arose and went in search of Thia. But he did not in his quest of her throw dignity to the winds. He did not ask anybody where he should find her. He walked slowly, as though bent on no errand. It was near sunset when at length he espied his lost one near to a lonely pool at the edge of the forest.

She did not see him. She sat busily plaiting wattles. There was a great pile of these beside her. And in and around the pool were her geese.

गताध्यक्ष सरदार दयालसिंह मजीठिया ने कांग्रेस के विषय में कहा था कि 'यह भारत में ब्रिटिश शासन की कीर्ति का कलश है।' इसी प्रकार के विचार कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से स्वागत-भाषण देते हुए सर टी० माधवराव ने व्यक्त किए थे—'कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश:शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है।' यह बात नहीं थी कि कांग्रेस के उदार नेताओं को ब्रिटिश नौकरशाही की गलतियों का भान नहीं था। वे उसकी त्रुटियों और गलतियों को अच्छी तरह से जानते थे, फिर भी उनका यह विश्वास था कि यदि भारत की समस्या को स्पष्टतः और प्रबलता-पूर्वक ब्रिटेन की संसद तथा जनता के सम्मुख रख दिया जाय तो वह माँग करेगी कि भारत की परिस्थिति में परिवर्तन होना चाहिए। यह आशा की जाती थी जैसा कि सर फिरोज शाह मेहता ने १८६० में कहा था 'मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अन्त में जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे।' विश्वास की इस स्थिति में शुरू के भारतीय राष्ट्रवादी पथप्रदर्शन और प्रेरणा के लिए अंग्रेजों की ही ओर ताकते थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के निम्न शब्द उदार राष्ट्रवादियों की मनोवृत्ति को भली भाँति स्पष्ट कर देते हैं। अंग्रेजों के न्याय, बुद्धि और दयाभावना में हमारी दृढ़ आस्था है। संसार की महानतम प्रतिनिधि सभा, संसदों की जननी ब्रिटिश कॉमन सभा के प्रति हमारे हृदय में असीम श्रद्धा है। अंग्रेजों ने सर्वत्र प्रतिनिधि आदर्श पर ही शासन की रचना की है।'

उदार राष्ट्रवादियों की विचारधारा और माँगें—इस बात को उदार राष्ट्रवादियोंने गुप्त नहीं रक्खा कि कांग्रेस आन्दोलन का ध्येय स्वशासन को प्राप्त करना है। यद्यपि उन्होंने अपनी अधिकांश शक्ति और ध्यान को शासन के कभी इस ओर कभी उस पहलू में सुधार करवाने के आन्दोलन में ही लगाया था; फिर भी वे उस भविष्य की कल्पना कर सकते थे जबकि भारतीयों के हाथों में अपने भाग्य निर्माण का अधिकार आ जाएगा। १८८६ के कलकत्ता अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने कहा था, 'स्वशासन प्रकृति की व्यवस्था है, विधि का विधान है। प्रकृति ने अपनी पुस्तक में स्वयं अपने हाथों से यह सर्वोपरि व्यवस्था लिख रखी है। प्रत्येक राष्ट्र अपने भाग्य का आप ही निर्माता होना चाहिए।'[1] दादाभाई नौरोजी ने 'यूनाइटेड किंगडम अथवा उपनिवेशों के जैसे स्वशासन या स्वराज्य' का जिक्र किया था। स्वशासन अथवा स्वराज्य से प्रारम्भिक कांग्रेसियों का आशय पूर्ण स्वाधीनता नहीं था जिसको १६२६ में कांग्रेस ने अपने ध्येय की भाँति ग्रहण किया। वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य से सब सम्बन्ध विच्छेद कर लेने का विचार तो उदारवादियों के मस्तिष्क में कभी आया भी नहीं था। सम्भवतः उन्होंने यह

१. एनीबीसेंट—"हाऊ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम", पृ० २६।

somehow the homelanders had become less good because of it. Thia had often said so. Of course she had never blamed him for that. Still, perhaps she would not have ceased to love him if his deed had not done harm. Was there no deed by which the harm could be undone? Day by day, night by night, Thol went on thinking.

After the lapse of what we should call a week or so, he began to act also.

He knew that there could be no great thickness of barrier between the back of his cave and the back of the cave that had been the dragon's; for in his childhood he had often heard through it quite clearly the sound of the voices of Gra and her children. To make in it now a breach big enough to crawl through on hands and knees was the first step in the plan that he had formed. With a great sharp stone, hour after hour, daily, he knelt at work. Fortunately —for else must the whole plan have come to naught—the barrier was but of earth, with quite small stones in it. Nevertheless, much of strength and patience had been exerted before the first little chink of daylight met Thol's eyes.

It was a glad moment for him when, that same evening, at sunset, at last he was able to crawl through into the western cave; but as he rose and gazed around the soot blackened lair he did not exult His work had but begun. And his work would never end while he lived. He prayed earnestly to the sun that he might live long and always do his work rightly. Also he prayed that Thia might soon again love him.

That night, in his own cave, just as he was falling asleep, he had a doubt which greatly troubled him. He arose and went forth to a place where some ducks were. One of these

प्रियता में उनकी आस्था थी इसलिए उन्होंने सरकारी अधिकारियों के ध्यान को, सार्वजनिक भाषणों, स्मृति-पत्रों, प्रस्तावों, आवेदन पत्रों तथा शिष्टमण्डलों द्वारा जनता की उचित माँगों और कठिनाइयों की ओर आकृष्ट करना ही यथेष्ट समझा। कांग्रेस ने ब्रिटिश जनता और संसद के सामने भारत की समस्या को ठीक-ठीक उपस्थित करने के इरादे से कई शिष्टमण्डल भेजे। इन साधनों के द्वारा नरम राजनीतिज्ञों ने भारतीय जनता को ऊपर उठाने और शिक्षित करने की कोशिश की और कोशिश की कि अंग्रेज भारतवासियों की न्याययुक्त माँगों को पूरा करना अपना कर्तव्य समझें। ब्रिटिश जनता को यह सम्यक् परिज्ञान कराने के लिए कि भारत में राजनीतिक सुधारों की महती आवश्यकता है; कांग्रेस ने १८८६ में एक ब्रिटिश समिति की स्थापना की और उसके संचालन के लिए पैंतालीस हजार रुपयों की स्वीकृति भी दी। चार वर्षों के उपरान्त कॉमन-सभा में जनमत को भारत के राजनीतिक विकास के पक्ष में संगठित करने के लिए सर विलियम वेडरबर्न ने भारतीय संसदीय समिति (Indian Parliamentery Committee) की रचना की। उस जमाने के राष्ट्रवादियों के इन तरीकों को कभी-कभी 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' कहकर वर्णित किया जाता है।

आवेदन और प्रार्थनाएँ—यह वर्णन कुछ अप्रिय अवश्य है, पर गलत नहीं है। वे सरकार के पास, रियायतों और सुधारों के लिए, अत्यन्त विनीत भाव से हाथ जोड़कर जाते थे, यकीन रखते थे। उनका आवेदनों और प्रार्थनाओं में कितना भरोसा था; वे इन पर कितना बल देते थे, यह पं० मदनमोहन मालवीय के निम्न शब्दों से स्पष्ट है जो उन्होंने कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में कहे थे 'यद्यपि अपने प्रयत्नों में अभी तक हमें सफलता नहीं मिली है, फिर भी हमें सरकार के समीप पुनः जाना चाहिए और निवेदन करना चाहिए कि वह हमारी माँगों, 'अथवा हमारी प्रार्थनाओं' पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करे।'[1]

१४. उदार राष्ट्रीयता का मूल्यांकन

उदार राष्ट्रवादियों की त्रुटियाँ—कांग्रेस के शुरू के दिनों में उदार राष्ट्रवादियों ने जो काम किया; आजकल उसके महत्त्व को कम समझा जाता है। कभी-कभी तो लोग उसे अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें कुछ त्रुटियाँ स्पष्टरूप से विद्यमान थीं। जैसे—

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मिथ्या धारणा—भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का क्या वास्तविक आधार था अथवा उसकी क्या प्रकृति थी इस बात को उदारवादी नेता

१. एनीबीसेंट—'वही' पृ० ४५।

down the western side of the hill. And the man was not really frightened. He only seemed so.

He careered around the valley, howling now like one distraught. Responsive sheep, goats, geese, what not, made great noises of their own. From the mouths of caves and huts people darted and stood agape. Thol waved his arms wildly towards the cave upon the hill. People saw a great column of smoke climbing up from it into the sky.

'A dragon! Another dragon!' was Thol's burthen.

People gathered round him in deep wonder and agitation He told them, in gasps, that he had come down early—very early—to look for mushrooms—and had looked back and—seen a dragon crawling up the hill. He said that he had seen it only for a moment or two: it crawled very quickly—far more quickly than the old one. He added that it was rather smaller than the old one—smaller and yet far more terrible, though its smoke was less black. Also, that it held high its head, not scorching the grass on its way.

There was no panic.

'O Thol,' said one, 'we need not fear the dragon, for here are you, to come between us and him.'

'Here by this stream,' said another, 'we shall presently bury him with great rejoicings, O high god.'

The crowd went down on its knees, thanking Thol in anticipation. But he, provident plodder, had foreseen what would happen, and had his words ready. 'Nay, O home landers,' he said, plucking at his great beard, 'I am less young than I was. I am heavier, and not so brave. Peradventure some younger man will dare meet this dragon for us, some day. Meanwhile, let us tempt him with the

अति सामान्य हो गई थीं।

उनकी सफलताएँ—परन्तु यह न तो आवश्यक ही है और न उचित ही कि हम प्रारम्भिक देशभक्तों के कार्यों को अवहेलना की दृष्टि से देखें। भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के इन मार्ग-दर्शकों के कार्य को सर्वथा निरर्थक नहीं कहा जा सकता उसके भी सुदूरव्यापी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। हम १८९२ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट का उल्लेख कर चुके हैं जो कांग्रेस द्वारा राजनीतिक सुधारों के लिए किए गए आन्दोलन का ही सीधा परिणाम था। परन्तु यह और इसी प्रकार की अन्यान्य रियायतें जो उन्होंने प्राप्त कीं, उनकी सफलताओं में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं।

भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा—राष्ट्रीय आन्दोलन को उनकी वास्तविक देन यह है कि उन्होंने भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातान्त्रिक आदर्शों को प्रसारित किया। उन्होंने सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के विचार-विमर्श के लिए एक 'फोरम' तथा सरकार की नीतियों और कार्यों से सम्बद्ध आलोचना की। "सर्च लाइट" को दिशा प्रदान कर प्रबल जनमत को संगठित किया था। न तो उनकी प्रार्थनाओं और न आलोचना ने ही नौकरशाही पर अधिक प्रभाव डाला परन्तु सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को उस सरकार का खण्डन करते हुए पाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो कि अपने मैगनाचार्टा (Magna-Charta) और हेबियस कॉरपस (Habias Corpus) एक्ट की शेखी बघारते हुए नहीं थकती। परन्तु भारतीय जनता को 'व्यक्तिगत स्वाधीनता का अनर्घ्य अधिकार' देने से इन्कार करती है।

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रणेता—यह बात तो हमें मुक्त कण्ठ से स्वीकार करनी ही चाहिए कि भारत की प्रथम राष्ट्रीय संस्था के प्रणेता उदार राष्ट्रवादी ही थे। उन्होंने देशवासियों को शिक्षा दी कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय धरातलों से ऊपर उठें तथा सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करें। गुरमुख निहालसिंह के शब्दों में प्रारम्भिक कांग्रेस ने 'राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन; आवेदन ही नहीं अपितु भिक्षा वृत्ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने और उनमें सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया था।'[१] शुरू के कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षा-वृत्ति को उपहास की दृष्टि से देखना अत्यन्त सुगम है, परन्तु "उस समय जब भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कोई नहीं था; उन लोगों

---

१. जी० एन० सिंह—"लैण्डमार्क्स इन दी कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट ऑफ इण्डिया" पृ० १२३।

glow rise and fall, in the old way, twelve times, with the sound of the clashed jaws? What was in store for the homeland to night?

None but Thol knew.

XXIV

He, very wisely, had rested all day in preparation for the tasks of evening and night. Two or three times, moving aside the screen that kept the smoke out of his cave, he had crawled through the opening and, drawing the other screen across the other side of it, had tended the fire For the rest, he had been all inactive.

As twilight crept into the cave, he knelt in solemn supplication to the departing sun Presently, when dark ness had descended, he struck two flints, lit one end of his pine wood staff, moved the screen aside, drew a long deep breath, and crawled swiftly into the other cave Slowly he moved his torch from side to side of the cave's mouth, along the ground He was holding it in his left hand, and in his right hand was holding one of the two flat stones After a pause, still kneeling, he raised high the torch for a moment or two and then sharply lowered it in the direction of one of the smoke clouded animals. At the same time he powerfully clashed the one stone down upon the other. Another pause, and he repeated these actions exactly, directing the torch towards the next animal. He performed them ten times in all. Then he extinguished his torch and crept quickly home, puffing and spluttering and snorting, glad to escape into clear air.

When he had regained his breath, he crawled back to drag the carcasses in The roe and the buck he left where

भेजा था। इसमें उन्हें हिदायत दी गई थी कि "भारत सरकार की आज्ञा के अनुसार ऐसी सभाओं में दर्शक रूप में भी सरकारी अफसरों का जाना ठीक नहीं है और ऐसी सभाओं की कार्यवाही में भाग लेने में सख्त मनाई की जाती है" १८९७ में 'राजद्रोहात्मक' भाषणों और कार्यवाहियों पर अंकुश रखने के विचार से 'इण्डियन पीनल कोड' में दफा १२४ (अ) तथा दफा १५३ (अ) और जोड़ दी गई। प्रेस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिए गए और १८९८ में गुप्त प्रेस समितियों की स्थापना हुई। देशवासियों को आपस में लड़ाने की पूर्व-परिचित नीति का अब राजनीतिक क्षेत्र में खुल कर प्रयोग किया गया; और कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों को संगठित करने के प्रयास किए गए। विद्रोह के पूर्व और बाद में भारतीय मुसलमान अंग्रेजों के विशेष कोप-भाजन रहे थे; परन्तु अब जैसे-जैसे कांग्रेस की लोकप्रियता और शक्ति में वृद्धि होती गई; सरकार मुसलमानों के प्रति अपने रुख में परिवर्तन करती गई। मुसलमानों को विशेष सुविधाएँ देकर, उन्हें अपनी विशेष माँगें रखने का प्रोत्साहन देकर नौकरशाही ने भारतवर्ष की दो प्रमुख जातियों के मध्य भेद की खाई को खोदने की कोशिश की। अविराम गति से बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता की भावना पर कुठाराघात करके ब्रिटिश सरकार ने शुरू-शुरू में ही राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डालने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में कि मुसलमान "कुछ शठ पदाधिकारियों द्वारा जिनका कि फूट डालो और राज्य करो कि नीति में विश्वास था प्रयुक्त किए जा रहे थे" हमारे पास ए० ओ० ह्यूम की साक्षी विद्यमान है।[1] कांग्रेस के चौथे अधिवेशन (१८८८) में शेख रज़ा हुसैन ने धड़ल्ले के साथ कहा कि "मुसलमान नहीं बल्कि उनके मालिक-सरकारी हुक्काम हैं जो कि कांग्रेस के विरुद्ध हैं।"[2]

प्रारम्भिक भारतीय देशभक्त

१६. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

आधुनिक बंगाल के निर्माता और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रणेताओं में अग्रगण्य सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी भारत के प्रतिष्ठा भाजन व्यक्तियों में एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वे उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में अत्यन्त शीघ्र सफलता प्राप्त कर ली थी। सन् १८७१ में वे सिलहट के असिस्टेण्ट मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। दो ही वर्ष के अन्दर सरकारी आचरण में कुछ दोष पाए जाने के कारण उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा। बाद में दो लैफिटनेंण्ट गवर्नरों ने इस बात

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस" पृ० १०८।
२. 'वही', पृष्ठ ११०।

In so far as they deigned to remember him at all, the homelanders supposed he had gone away, that first morning, across the waters or through the forests, to some land where he could look men in the face.

Here he was, however, in their midst, a strenuous and faithful servant.

He had a stern grim joy in the hardness of his life—save that he could never ask Thia to share it with him. He had not foreseen—it was the one thing he had not thought out well—how hard the life would be. The great deed by which he had thought to bring Thia back to him must forever keep them asunder. Thus he had done an even greater deed than he intended. And his stern grim joy in it was thereby the greater.

XXVI

Had she so wished, Thia might have become very popular and have regained something of her past glory. After Thol's confession of cowardice she had instantly risen in the homelanders' esteem. How very right she had been to leave him! Friendly eyes and friendly words greeted her. But when they all knelt praying the sun to call the dragon away, she remained upright and mute. And afterwards, when she was asked why, she said that it was well that the dragon should abide among them, for thus would they all be the better, in heart and deed, and therefore truly the happier, could they but know it. She said that whether or not they could know it, so it was.

These sayings of hers were taken in bad part, and she was shunned because of them. This did not mar the joy

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता थे। एक अंग्रेज ने तो यहाँ तक कहा था कि सार्वजनिक वक्ताओं में ग्लैडस्टन के अलावा उनसे बढ़कर और कोई नहीं था। डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में "भाषा-प्रभुत्व, रचना-नैपुण्य, कल्पना प्रवणता, उच्च भावुकता, वीरोचित हुंकार इन गुणों में आपकी वक्तृत्व कला को पराजित करना कठिन है। आज भी कोई आपकी समता तो क्या आपकी निकटता को भी नहीं प्राप्त कर सकता।"[१] मैकॉले की तरह सुरेन्द्रनाथ की भी विलक्षण स्मरणशक्ति थी। दोनों ही अवसरों पर जब कि उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता की, बिना मुद्रित प्रति की सहायता के, भाषण दिए, जिसमें मुद्रित प्रति से एक शब्द की भी गलती नहीं थी। यह उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति का ही परिचायक था।[२]

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी दृष्टिकोण और कार्य पद्धति, दोनों में ही नरम राष्ट्रवादी थे। मैजिनी के ग्रंथों द्वारा प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसके क्रान्तिकारी कार्यक्रम को नहीं अपनाया। अंग्रेजी सभ्यता और संस्थाओं के प्रति उनके हृदय में बहुत अनुराग था। एक अवसर पर उन्होंने कहा था "अंग्रेजी सभ्यता संसार में सर्वोच्च है। यह इंगलैण्ड और भारत की अखण्ड एकता का चिन्ह है। यह सभ्यता भारतवासियों के प्रति अपूर्व आशीर्वादों तथा प्रसादों से परिपूर्ण है और अंग्रेजों के सुनाम को अपूर्व ख्याति दिलाने वाली है।" उनको आशा थी कि अंग्रेजों और भारतीयों का यह सम्पर्क अविभक्त रहेगा तथा "भारत, समय आने पर, चरित्र में अंग्रेजी, और संस्थाओं में अंग्रेजी, स्वतन्त्र राज्यों के महान् संघ में, अपना स्थान पा लेगा।" इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति सुरेन्द्रनाथ की विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु था। उन्होंने कहा "राजनीतिक कर्त्तव्यों के उच्च क्षेत्र में इंगलैण्ड हमारा राजनीतिक पथ-दर्शक और नैतिक गुरु है।" कांग्रेस के १८वें अधिवेशन में उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज के स्थायित्व के लिए प्रार्थना की। लेकिन वे भारत में ब्रिटिश नौकरशाही की गम्भीर त्रुटियों से भी अच्छी तरह से परिचित थे और उन्होंने उनके निवारण का भी यथाशक्ति प्रयत्न किया। तो भी उनका आदर्श "ब्रिटिश सम्पर्क के प्रति अटल राजभक्ति के साथ काम करना था क्योंकि उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन का अवरोध करना नहीं, अपितु उसके आधार का विस्तार करना, उसकी चेतना को उदार बनाना, उसके चरित्र की प्रतिष्ठा-वृद्धि तथा उसे राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनीय आधार-शिला पर स्थित करना था।

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस," पृ० १६७।

२. सी० वाई० चिन्तामणि—इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दी म्यूटिनी पृ० ७२ ६

XXVII

Some one presently came forth: and yes, it was Thol. Slowly he came down the hill, with his head bent forward, with his hands up to his bowed shoulders, and two burdens at his back—two goats, as Thia saw when presently Thol turned aside southward. He looked very strange. His hair and face seemed to have grown quite dark. And what was he doing with those two goats? Thia lay still, with a fast-beating heart. She felt that her voice would not have come, even had she tried to call to him.

She watched him out of sight, then rose to her feet and, hesitatingly, went to the foot of the hill, and then, quickly and resolutely, went up it and into the cave.

Quick-witted though she was, the sight of three geese and three ducks and of two sheep puzzled her deeply; and not less did she wonder at the quantity of stacked wood. And what was that fence of osiers against the wall? She moved it slightly and saw a great breach in the wall; and through this some smoke came drifting in. And now her quick wits began to work—but in such wise as to make her bewilderment the deeper.

Suddenly, drawing a deep breath, she went down on her hands and knees, and crawled, quick as a serpent, through the smoke.

She was soon back again. Blinking hard and shaking the smoke from her nostrils, she went to breathe the clear air at the cave's mouth. But, good though this air was, she hardly tasted it. She had burst out sobbing. She, who never in all her life had shed tears, sobbed much now. But she remembered that tears make people's eyes ugly.

१८९३ और १९०६ में क्रमशः तीन बार वे कांग्रेस के सभापति निर्वाचित किए गए। दादाभाई नौरोजी का चरित्र अत्यन्त दृढ़ था। अपने परिचितों को वे 'प्रशंसा, ईर्ष्या और निराशा' से परिपूर्ण कर देते थे। यदि किसी से कोई भूल हो जाती, तो वे क्रुद्ध नहीं होते थे; उनका व्यवहार बड़ा सदय बना रहता था। उनका, कभी, कोई व्यक्तिगत शत्रु नहीं रहा। चिन्तामणि ने लिखा है, 'उनसे अधिक सज्जन पुरुष का मैंने कभी दर्शन नहीं किया। उनकी तो उपस्थितिमात्र ही श्रद्धा का संचार करती है'। गोखले ने लिखा था 'यदि कभी मनुष्य में दिव्यता का वास रहा, तो वह दादा भाई नौरोजी में'। अधिकांश प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों की तरह दादाभाई नौरोजी का भी अंग्रेजों की 'स्वभाविक न्यायप्रियता और युक्तियुक्त व्यवहार' में दृढ़ विश्वास था और यह विश्वास मृत्युपर्यन्त अविचल बना रहा। उनको इस बात में सन्देह लेशमात्र भी नहीं था कि भारत अपने राजनीतिक ध्येय को शान्तिपूर्ण दबाव के उपायों और ब्रिटिश जनमत के शिक्षिण द्वारा प्राप्त कर सकता था। उन्होंने घोषणा की थी 'हम भारतीय एक बात में यकीन करते हैं और वह यह कि यद्यपि जॉन बुल तनिक मन्दबुद्धि है लेकिन यदि एक बार उसे कोई बात समझा दी जाय कि वह अच्छी और उचित है तो आप उसके कार्य-रूप में परिणत किए जाने के प्रति विश्वस्त हो सकते हैं'। सार्वजनिक वक्ता के रूप में दादा भाई नौरोजी की आवाज और भाषा बड़ी नरम रहती थी, परन्तु बाद के वर्षों में अंग्रेजों की प्रतिगामी नीति ने उन्हें कठोर भाषा का प्रयोग करने के लिए विवश कर दिया। १९०६ में जब दादाभाई कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए, सारा देश, बंगविच्छेद के कारण 'मानों एक खौलते हुए कढ़ाव में था'। बंगाल असंतोष से उबल रहा था। सरकार ने लोकप्रिय आन्दोलन को विशेष कानूनों (आर्डिनेंसों) फौज और ताजीरी पुलिस की तैनाती, व्यापक गिरफ्तारियों और अन्धाधुन्ध लाठी प्रहारों द्वारा कुचल डालने का प्रयास किया। इस जन आन्दोलन और नौकरशाही दमन के

(ख) भारतमन्त्री की कौंसिल, वायसराय और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों की कार्यकारिणियों में भारतीय प्रतिनिधि पर्याप्त संख्या में हों।

(ग) भारतीय और प्रान्तीय कौंसिलें बढ़ाई जाएँ, उनमें जनता के अधिक और वास्तविक प्रतिनिधि रहें और उन्हें देश के आर्थिक एवं शासन-सम्बन्धी कार्यों में अधिक अधिकार रहें।

(घ) स्थानीय और म्युनिसिपल बोर्डों के अधिकार बढ़ाए जाएँ और उन पर सरकारी नियंत्रण उससे अधिक न हो जितना ऐसी संस्थाओं पर इंगलैण्ड में लोकल गवर्नमेण्ट बोर्ड का रहता है।"

'Yea. Begone, small dear one!' And he stooped down to take the two sheep.

'Once, long ago, you wished that a lad might help you in your hard work. O Thol, I am as I was, trustier than any lad. It were better that you should go twice, not thrice, every night, to the marshes. I will always take the birds.' And she rose to take them.

But a thought came to her, giving her pause. And she said, 'The fire must first be tended.'

'It has no need yet,' he answered. 'I tend it when I come back from the last journey.'

'To-night it shall be tended earlier. And I will so tend it that it shall last long.' She was down on her knees and off into the smoke before he could stop her. He followed her, protesting that such work was not for her. She did it, nevertheless, very well. And presently, side by side, he with two sheep, she with three birds' necks in either fist, they went forth into the starlight, and down away to the marshes.

There, having duly sunk their burdens, they took each other by the hand, and turned homeward. At one of the running brooks on their way home, Thia halted. 'Here,' she said, 'will I wash myself well. And do you too, O Thol, so that when we wake in the morning my face shall not displease you.'

XXVIII

Every night Thia accompanied Thol on one of the two journeys; and during the other she would go to the forest and gather wood, so that there should always be plenty

कल कोई राजनीतिज्ञ नहीं था। १८८८ में गोखले बम्बई विधान परिषद् के सदस्य हो गए। बाद में उन्होंने भारतीय विधान परिषद् (Indian Legislative Council) में प्रवेश किया और कई वर्षों तक उसके प्रभावशाली सदस्य बने रहे।

१९०५ में गोखले ने भारत-सेवक समिति नामक संस्था स्थापित की जो उनकी देश को सबसे बड़ी देन है। संस्था का उद्देश्य "ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को शिक्षित करना था जो "अत्यल्प पारिश्रमिक पर मातृभूमि की सेवार्थ, कठोर अनुशासन के पालनार्थ, साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के लिए वचनबद्ध हों।" समिति के विधान की प्रस्तावना में गोखले ने लिखा था, "अब हमारे देशवासियों को काफी संख्या में आगे आजाना चाहिए और देशहित के कार्य में स्वयं को उसी भावना से समर्पित कर देना चाहिए जिस भावना से कि धार्मिक कृत्य किया जाता है। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकतामय होना चाहिए। देश प्रेम हृदय को इस प्रकार आप्यायित कर दे, कि उसके सामने अन्यान्य सभी वस्तुएँ अत्यन्त हेय मालूम पड़ने लगें।" वे दक्षिण अफ्रीका भी गए थे और उन्होंने कुछ समय तक महात्मा गांधी के साथ काम भी किया था। गांधीजी के सत्याग्रह-धर्म के वे प्रशंसक हो गए थे।

गोखले का चरित्र और उनकी विचार धारा—गोखले के चरित्र में कई दुर्लभ गुण थे। अपनी स्पष्ट सत्यवादिता और बौद्धिक साहस के लिए वे विख्यात थे। वे अपनी राय को उस समय तक कभी प्रकट नहीं करते थे, जब तक उसकी सच्चाई में उनका पूर्ण विश्वास न हो जाता था, जब वे एक बार कोई राय कायम कर लेते थे अथवा किसी आदर्श को अपना लेते थे, तब न तो आलोचना और न बदनामी ही उन्हें अपने निर्धारित पथ से विमुख कर पाती थी। वे एक निःस्वार्थ देशभक्त थे, जिनके हृदय में कदापि कोई हीन विचार नहीं आया। यद्यपि उनका व्यवहार कभी-कभी रूखा प्रतीत होता था; फिर भी उनका व्यक्तित्व आकर्षक था जो हृदय में उनके प्रति न केवल आदर अपितु प्रेमभाव का भी संचार करता था। यद्यपि उनके आदर्श बहुत ऊँचे थे, परन्तु यथार्थ को भी वे अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देते थे। वस्तुतः वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो स्पृहणीय आदर्श और ऐसे आदर्शके बीच, जो स्पृहणीय हो परन्तु साथ ही साथ प्राप्तव्य भी हो, भेद समझ सकते थे। लार्ड मार्ले के कथनानुसार इनका मस्तिष्क राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क था और इनमें शासक के उत्तरदायित्व की भावना थी। मैकियावेली (Machiavelli) की भाँति वे उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी साधन को ठीक न समझते थे, वरन् जीवन के प्रत्येक कार्य को नैतिकता के आधार पर रखते थे। लार्ड कर्जन ने उनको एक बार लिखा था, "ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताओं से आभूषित किया है और आपने उन योग्यताओं को देश के हितार्थ प्रयुक्त किया है।"

very much and would not once falter in the work. He promised that he would not falter. Other days and nights passed. It seemed to Thol that Thia had ceased to know him. She did not even follow him with her eyes now. One morning, at daybreak, soon after his return from the third journey, she seemed, by her gaze, to know him. But presently she died in his arms.

On that night he went to the forest and dug a grave for his wife. Then, returning to the cave, he took her in his arms for the last time, and carried her away, and buried her.

In the time that followed, he was not altogether lonely. He felt by day that somehow she was in the cave with him still, and by night he felt that she walked with him. He never faltered in the work.

He faltered not much even when the marshes did to him as they had done to Thia. Shivering in every limb, or hot and aching, and very weak, he yet forced himself to tend the fire and at nightfall to brandish the torch and clash the stones and drag in the beasts and birds. It irked him that he was not strong enough to carry even one sheep away. Surely he would be strong again soon? For Thia's sake, and for the homeland's, he wished ardently to live. But there came an evening when the watchers in the valley saw no rising and falling, heard no clashing, of the dragon's jaws.

XXIX

Would the dragon come forth to-night? The valley on the further side of the stream was now thickly crowded On the nearer side were many single adventurers, with

तो बाल गंगाधर तिलक भी इसी युग में हुए, परन्तु उनमें और नरम राष्ट्रीयता के उपासकों में अन्तर था। उनके कर्तृत्व और चरित्र का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

उमेशचन्द्र बेनर्जी—उमेशचन्द्र बैनर्जी का यहाँ पर उल्लेख करना केवल इसलिए ही आवश्यक नहीं हैं कि वे कांग्रेस की नींव डालने वालों में से थे और उन्होंने कांग्रेस के प्रथम-अध्यक्षपद को सुशोभित किया था अपितु सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की भाँति कांग्रेस की स्थापना करने में उन्होंने भी कठिन परिश्रम किया था। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्षपद से दिया-गया उनका भाषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में "यदि प्रामाणिक रूप से जानना हो कि कांग्रेस का आरम्भिक उद्देश्य क्या था, तो उसके प्रथम अधिवेशन के सभापति उमेशचन्द्र बैनर्जी के भाषण की ओर ही निगाह दौड़ानी पड़ेगी।"

दीनशा एदलजी वाचा—दीनशा एदलजी वाचा कांग्रेस के सर्वाधिक आदरणीय बुजुर्गों में से थे। पच्चीस वर्षों से अधिक काल तक वे कांग्रेस की राजनीति में अग्रिम भाग लेते रहे। वैसे वे बहुत ही नरम थे और सरकार उन पर विश्वास करती थी, लेकिन फिर भी वे 'कांग्रेस के फॉयर ब्रांड' के नाम से विख्यात हो गए थे। शासन की ओर से उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि प्रदान की गई थी और वे भारतीय विधान-परिषद् (Indian Legislative Council) के लिए नामजद किए गए थे।

फिरोजशाह मेहता—फिरोजशाह मेहता पारसी 'त्रिदेव' में से एक थे—दूसरे दादाभाई नौरोजी और तीसरे दीनशा एदलजी वाचा थे जिन्होंने, प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस की सेवा की और उसे शक्तिशाली बनाया। १६१५ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता रहे और उन्होंने अपने देश की प्रभूत सेवा की। अपनी रचनात्मक राजनीतिक मेधा के लिए वे सुविख्यात थे और उन्होंने बम्बई कार्पोरेशन, बम्बई विधान परिषद् तथा वायसराय की परिषद् के सदस्य के रूप में विशेष यश अर्जित किया। उन्होंने कांग्रेस के छठे अधिवेशन (१८६०) का सभापतित्व किया था और अपने भाषण में लार्ड सेल्सबरी के इस विचार का खण्डन किया कि प्रतिनिधि-शासन, पूर्वी परम्पराओं अथवा पूर्व के निवासियों की मनःस्थिति के अनुरूप नहीं है और अपनी बात की पुष्टि में मि० चिसहाम एन्स्टे (Chisohm Anstey) का यह उद्धरण पेश किया कि "स्थानिक-स्वराज्य का जनक तो पूर्व ही है; क्योंकि स्वशासन का अधिक-से-अधिक विस्तृत जो अर्थ हो सकता है, उस रूप में वह प्रारम्भ से ही यहाँ मौजूद रहा है।" अन्यान्य नरम राष्ट्रवादियों की तरह "अंग्रेजी शिक्षा तथा संस्कृति के प्राणवान् और उर्वर सिद्धान्तों में" फिरोजशाह मेहता की भी असीम आस्था थी। वे "समयानुकूल राजनीतिज्ञता दिखाने की प्रार्थना और वह भी नम्रता और संयम के के साथ" करने के विश्वासी थे। इस विषय में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं था कि

FINIS

And thus—does our tale end unhappily? I think not. After all, the homelanders at large are rather shadowy to us. Oc and Loga, Shib and Veo, Afa and her like, and all *those others, all those nameless others, do not mean much* to us. It is Thol and Thia that we care about. For their sake we wish that the good they did could have been lasting. But it is not in the nature of things that anything —except the nature of things—should last. Saints and wise statesmen can do much. Their reward is in the doing of it. They are lucky if they do not live long enough to see the undoing. It should suffice us that Thol and Thia together in their last days knew a happiness greater than they had ever known—Thol a greater happiness than in the days of his glory, and Thia than in the days of hers

(१) परिषदों के कम-से-कम आधे सदस्य निर्वाचित होने चाहिएँ।

(२) परिषदों को 'बजट समेत सभी आर्थिक प्रश्नों के विवेचन का अधिकार होना चाहिए।'

(३) 'सुरक्षा की सीमाओं में रहते हुए' परिषद् के सदस्यों को 'शासन-सम्बन्धी सभी मामलों में प्रश्न पूछने का अधिकार होना चाहिए।'

इन माँगों को लेकर कांग्रेस ने दो शिष्टमण्डल इंगलैण्ड भेजे। इन शिष्ट मण्डलों को भेजने में कांग्रेस का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को इस बात का विश्वास दिलाएँ कि भारत में प्रतिनिधि शासन के ध्येय की ओर पग बढ़ाने की गम्भीर आवश्यकता है। १८६२ का एक्ट, स्पष्टतः इन प्रयासों का ही परिणाम था।

प्रतिनिधित्व का श्रीगणेश---भारतीय शासन में प्रतिनिधित्व के सूत्रपात की ओर प्रथम पग १८६१ के इण्डियन कौंसिल एक्ट के अन्तर्गत ही उठा लिया गया था। इस एक्ट के अनुसार कानून बनाने के लिए गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई और गवर्नर जनरल को कम-से-कम छः तथा अधिक-से-अधिक बारह सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार मिला। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि मनोनीत सदस्यों में कम-से-कम आधे गैर सरकारी होंगे। इसी एक्ट में प्रान्तों में भी विधान परिषदों के संस्थापन की बात कही गई थी जिनमें कम-से-कम चार और अधिक-से अधिक आठ मनोनीत सदस्यों को प्रवेश करने का अधिकार दिया गया था। इनमें कम-से-कम आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था। इस एक्ट के अन्तर्गत निर्मित विधान परिषदों को विधान परिषद कहना उचित नहीं मालूम पड़ता; वस्तुतः वे तो दरबार थीं। इसमें भारतीय जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। वस्तुतः अधिकांश निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य यूरोपियन ही होते थे। इसके अलावा परिषदों के अधिकार बड़े परिमित थे। उन्हें न तो बजट पर ही बहस करने का और न शासन सम्बन्धी मामलों में कार्यकारिणी से प्रश्न करने का अधिकार था।

१८६२ के एक्ट के उपबन्ध—भारतीय शासन विधान सम्बन्धी एक्टों में १८६१ के एक्ट के पश्चात् १८६२ का ही एक्ट महत्त्व का है। इस एक्ट के अनुसार (१) भारतीय और प्रान्तीय विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। भारतीय विधान परिषद् में गवर्नर जनरल की कौंसिल के अतिरिक्त, कम-से-कम दस और अधिक-से-अधिक बीस सदस्य बढ़ाए जा सकते थे और प्रान्तीय विधान परिषदों में कम-से-कम आठ और अधिक-से-अधिक बीस (२) गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिला कि वे परोक्ष निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात करें—यद्यपि निर्वाचन शब्द का प्रयोग सब अथवा कुछ अतिरिक्त सदस्यों के चुनने के लिए नहीं हुआ था। वस्तुतः यह

THE GUERDON

1916.

THAT it hardly was, that it all bleakly and unbeguilingly *wasn't* for 'the likes' of *him*—poor decent Stamfordham—to rap out queries about the owner of the to him unknown and unsuggestive name that had, in these days, been thrust on him with such a wealth of commendatory gesture, was precisely what now, as he took, with his prepared list of New Year *colifichets* and whatever, his way to the great gaudy palace, fairly flicked his cheek with the sense of his having never before so let himself in, as he ruefully phrased it, without letting anything, by the same token, out.

'Anything' was, after all, only another name for *the* thing. But he was to ask himself what earthly good it was, anyhow, to have kept in its confinement the furred and clawed, the bristling and now all but audibly scratching domestic pet, *if he himself had to be figured as bearing it company inside the bag. There wasn't, he felt himself* blindly protesting, room in there for the two of them; and the imminent addition of a Personage fairly caused our friend to bristle in the manner of the imagined captive that had till now symbolised well enough for him his whole dim bland ignorance of the matter in hand. Hadn't he all the time been reckoning precisely *without* that Personage—*without* the greater dimness that was to be expected of *him*—without, above all, that dreadful lesser blandness in

यह नरम राष्ट्रवादियों का भ्रम था कि उन्होंने भारत और इंगलैण्ड के हितों को परस्पर सम्बद्ध समझा। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने में विशुद्ध वैधानिकवाद की दुर्बलता का अनुभव करने में वे असफल सिद्ध हुए। परन्तु उनका कार्य भी निष्प्रयोजन नहीं था। वे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माता थे और उन्होंने उसे अपूर्व बल प्रदान किया। सार्वजनिक भाषणों और सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर विचार-विमर्श के द्वारा उन्होंने जनता को राजनीतिक शिक्षा दी। इसके अलावा १८९२ का इण्डियन कौंसिल्स एक्ट नरम राष्ट्रवादियों के उद्योगों का ही फल था।

कांग्रेस की स्थापना शासकों के सहयोग से हुई थी, परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों को शीघ्र ही कांग्रेस की मांगें और आलोचनाएँ अरुचिकर और असह्य प्रतीत होने लगीं। परिणामत: उन्होंने उसकी उन्नति में रोड़े अटकाने शुरू किए। लार्ड डफरिन तक भी, जिन्होंने कि कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था, अब उसके विरुद्ध हो गए और उन्होंने भारतीयों की 'अतिसूक्ष्म अल्प मत' (Microscopic Minority) का प्रतिनिधित्व करने वाली 'राजद्रोहात्मक' संस्था बताया। फिर भी सरकार ने कांग्रेस को असन्तुष्ट रखना उचित न समझा, उसे राजी करने की कोशिश की और १८९२ का एक्ट उसकी उक्त नीति का फल था।

perspirational agony. So that when, at long last, that finger *was* placed, with a roll towards him of the blue, the prominent family eye of the seated reader, it was with a groan of something like relief that he faintly uttered an 'Oh well, Sir, he *is*, you know—and with all submission, hang it, just *isn't* he though?—of an eminence!'

It was in the silence following this fling that there budded for him the wild, the all but unlooked for hope that 'What *sort*, my dear man, of eminence?' was a question not, possibly, going to be asked at all. It fairly burst for him and blossomed, this bud, as the royal eye rolled away from his into space. It never, till beautifully now, had struck our poor harassed friend that his master might, in some sort, be prey to those very, those inhibitive delicacies that had played, from first to last, so eminently the deuce with *him*. He was to see, a moment later, that the royal eye had poised—had, from its slow flight around the mouldings of the florid Hanoverian ceiling, positively swooped—on the fat scarlet book of reference which, fraught with a title that was a very beam of the catchy and the chatty, lay beside the blotting-pad. The royal eye rested, the royal eye even dilated, to such an extent that Stamfordham had anticipatively the sense of being commanded to turn for a few minutes his back, and of overhearing in that interval the rustle of the turned leaves.

That no such command came, that there *was* no recourse to the dreadful volume, somewhat confirmed for him his made guess that on the great grey beach of the hesitational and renunciational he was not—or wasn't all deniably not—the only pebble. For an instant, nevertheless, during which the prominent blue eye rested on a prominent blue pencil, it seemed that this guess might be, by an immense

प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने सहकार्यता के प्रतिकूल अवज्ञा की नीति का प्रचार किया। उन्होंने अपने देश के लिए बलिदान करने और कष्ट सहने के लिए भारतीय जनता का आवाहन किया। उग्र और उदार दल के विरोध पर तिलक का कहना था "राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा। उदार दल सोचता है कि वे समझाने से प्राप्त हो सकते हैं। हम सोचते हैं कि वे तीव्र दबाव से ही प्राप्त हो सकते हैं।"

आतंकवादी (Terrorists)—१८९२ के सुधारों के बाद के वर्षों ने उग्र राष्ट्रीयता की एक अन्य धारा आतंकवादियों (Terrorists) का जन्म देखा। उग्रवादी उदारवादियों के विशुद्ध वैधानिकवाद (Constitutionalism) का खण्डन करते थे परन्तु उन्होंने हिंसा के प्रयोग का कदापि समर्थन नहीं किया। वे राजनीतिक आन्दोलन व शान्तिपूर्ण विरोध में भरोसा करते थे। परन्तु आतंकवादी उग्र प्रकृति के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने हिंसा का आश्रय ग्रहण किया। वे भारत की सम्पूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था को कत्लों और डकैतियों आदि के प्रोग्राम द्वारा अस्त-व्यस्त करने की आशा रखते थे। राष्ट्रवादी आन्दोलन के एक भाग के रूप में हम आतंकवाद के अनुक्रम का इस अध्याय के अन्त में अध्ययन करेंगे।

२२. उग्रवाद के प्रादुर्भाव के कारण

नौकरशाही कुशासन और दमन—भारतीय राष्ट्रवादियों में क्रान्तिकारी भावना के विकास के प्रमुखतम कारणों में से एक ब्रिटेन नौकरशाही की असाध्य प्रतिगामी नीति के प्रति बढ़ता हुआ असंतोष था। १८९२ का 'इण्डियन कौंसिल एक्ट' (Indian Councils Act) उदारवादियों तक को सन्तुष्ट करने में असफल हुआ था। सरकार राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचलने की नीति का कठोरता पूर्वक अन्धाधुन्ध अनुकरण करती रही। १८९२ में गोखले को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वे अधिकारियों को यह चेतावनी दे दें कि सरकार की जो प्रतिगामी नीति है, उसके भयानक परिणाम हो सकते हैं। १८९७ में सरकार ने तिलक को गिरफ्तार किया और राजद्रोह के अपराध में उन्हें १८ मास के लिए कठोर कारावास का दण्ड दिया। दक्षिण के सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली जमींदार—नट्टु-बंधुओं को देश निकाला दे दिया गया और उनकी सम्पत्ति जब्त करली गई; उनके ऊपर सन्देह यह किया गया था कि वे प्रान्त के राजनीतिक आन्दोलन से सम्बद्ध हैं। इन्होंने और इस प्रकार के दूसरे क्रूरतापूर्ण कृत्यों ने सम्पूर्ण देश में क्रोध तथा प्रतिशोध की लहर फैला दी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में 'ब्रिटिश शासकों की न्याय और सम-दृष्टि-भावना में भारतीय जनता का जो विश्वास था वह ऐसा हिल गया, जैसा कि पहले कभी नहीं'।

उसकी संस्कृति पर अभिमान करना सिखाया। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय तरंगिणी को नूतन प्रवाह से आवेष्ठित कर दिया। पाश्चात्य संस्कृति का प्रवेश, प्रचार और प्रसार भारतीय जनता के हृदय में हीन-भाव का संचरण कर सकता है, अतः उसके प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता में उनकी अपार निष्ठा थी और भारत के उच्च मनःशिखर के सम्मुख वे पश्चिम को एक बच्चे के समान ही समझते थे। वे चाहते थे कि भारतीय अपने देश के अतीत गौरव से प्रेरणा ग्रहण करें। राष्ट्रीयता और धार्मिक पुनरुद्धार का गठबन्धन पूर्णतः प्रगतिशील विकास नहीं था और हिन्दू संस्कृति पर दिया गया जोर भी खतरे से खाली नहीं था। परन्तु इतना असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है कि इसने जनता को एक नवीन चेतना अथवा पुनर्पोषित आत्म-निर्भरता और विदेशी शासन के प्रतिकार करने का, कष्ट सहने का और यदि आवश्यकता हो तो उत्सर्ग करने का दृढ़ निश्चय प्रदान किया।

कर्जन का प्रतिगामी शासन—लार्ड कर्जन के प्रतिगामी शासन ने भारत में सबसे अधिक असन्तोष उत्पन्न किया। उन्होंने जिस साम्राज्यवादी नीति का आश्रय लिया, उससे रुष्ट होकर नवयुवक बहुत बड़ी संख्या में ब्रिटिश शासन के तीव्र विरोधी हो गए। कर्जन तेज-तर्रार प्रकृति के व्यक्ति थे और वे अपने कुछ श्रेष्ठ प्रशासनिक सुधारों के लिए याद किए जाते हैं। परन्तु भारत में उनका शासनकाल सतत भारत विरोधी नीति से परिपूर्ण था। कर्जन सिर से पैर तक कट्टर साम्राज्यवादी थे, भारतीयों के प्रति उनके हृदय में तीव्र अविश्वास की भावना थी और वे भारत में ब्रिटिश नौकरशाही के पायों को अधिक-से-अधिक मजबूत करना चाहते थे। वे शासन में यन्त्रतुल्य कुशलता का संचरण करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने केन्द्रीकरण की नीति को अति तक पहुंचा दिया और समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज पदाधिकारियों की नियुक्ति की। कृषि, शिक्षा, सफाई और सिंचाई आदि विषय प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में थे, कर्जन ने उनका केन्द्रीकरण करके और बहुत से विशेषज्ञों की नियुक्ति के द्वारा शासन में एकरूपता लाने का प्रयास किया। इसके अलावा वे नम्बर एक के नौकरशाह थे, वे कुशलता को सरकारी नियन्त्रण का पर्याय मानते थे। उनका पहला प्रहार स्थानीय स्व-शासन की संस्थाओं के ऊपर हुआ। वे संस्थाएं लार्ड रिपन के पश्चात् से अत्यन्त तीव्र गति से उन्नति कर रही थीं। लार्ड रिपन ने यह आशा व्यक्त की थी कि स्थानीय स्व-शासन की संस्थाएं भारतीयों को अपने देश का शासन आप करने की कला में महत्त्वपूर्ण शिक्षण प्रदान करेंगी। इसके प्रतिकूल कर्जन ने यह अनुभव किया कि भारतीयों को इस प्रकार की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे लोक-उपक्रम (Popular Initiative) को अनुत्साहित करने और स्थानीय संस्थाओं के नौकरशाहीकरण में भरोसा रखते थे।

T. FENNING DODWORTH

1922.

This name is seldom, if ever, on the lips of the man in the street. But it is a name highly esteemed by men whose good opinion is most worth having. When the idols of our market-place shall have been jerked from their pedestals by irreverent Time, Fenning Dodworth will not be utterly forgotten. His name will crop up *passim*, and honourably, in the pages of whatever Grevilles and Creeveys we have had among us during the past thirty years.—'Met Fenning Dodworth in Pall Mall this morning. He told me he had it on the best authority that St. John Brodrick would not be put up to speak on the Second Reading.'—'Heard an amusing and characteristic *mot* of Fenning Dodworth's. He was dining with some other men at E. Beckett's one night last week, when the conversation turned on Winston's speech at Oldham Beckett said, "Whatever Winston's faults may be, he has genius." "That," said Dodworth, in the silence that ensued, "is a proposition on which I should like to meditate before endorsing it." Collapse of Beckett!'—'Sat next to Dodworth at the Cordwainers' dinner. He said that he did not at all like the look of things in the Far East. Later in the evening I asked him point-blank whether the phrase "A Government of Pecksniffs," which has been going the rounds, had been coined by him. "It may have been," he said drily. Characteristic!'

गुप्त समितियों के कानूनों" ने शासन के हाथों में जो अधिकार प्रदान किए थे इसने उनमें और वृद्धि कर दी। इसके द्वारा सैनिक गुप्त वातों के अतिरिक्त, सरकार की सार्वजनिक गुप्त बातों का भी प्रकाशन दण्डनीय निर्धारित हुआ और पत्रकारों की वे आलोचनाएँ भी अपराधी बतलाई गई जिनके कारण सरकार के प्रति सन्देह या घृणा उत्पन्न होती हो। मिस्टर नेविन्सन (Nevinson) के कथनानुसार इस विधेयक के फलस्वरूप भारतीय पत्र और पत्रकार केवल वे ही बातें प्रकाशित कर सकते थे जिनको सरकार पसन्द करे। १८६८ के कानून में राजद्रोह की जो परिभाषा की गई थी, १६०४ के कानून ने उस परिभाषा में और अधिक विस्तार उत्पन्न किया।

कर्जन का अभिमान और भारत-विरोधी दृष्टिकोण—भारतीय जनता के प्रति अपने अभिमानी और घृणामूलक दृष्टिकोण द्वारा कर्जन ने रोष का तूफान खड़ा कर दिया और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में वृद्धि की। उन्होंने भारतीयों के प्रति अपने अविश्वास को अत्यन्त उद्धत भाषा में व्यक्त किया और खुल्लम-खुल्ला इस बात की घोषणा की कि शासन के उत्तरदायित्वों के लिए भारतीय सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में हिन्दू और मुसलमानों के चरित्र पर भयंकर आक्षेप किए और इस बात पर जोर दिया कि पाश्चात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य का विशेष स्थान है और पौर्वात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी और कूटनीतिज्ञता का प्रचार है। उनके विचारानुसार भारतीय साहित्य में भी इसी आचरण की प्रतिष्ठा है। प्राच्य देशों पर इस प्रकार का दोषारोपण नीतिमत्ता के विरुद्ध था, विशेषकर उस भाषण में जिसे उन्होंने विश्वविद्यालय के कुलपति के पद से दिया था। भाषण के विरोध में समस्त देश में सार्वजनिक सभाएँ की गईं। कर्जन ने भारतीयों के गर्व और आत्म-सम्मान को पैरों तले रौंदा और यह घोषणा करके कि 'भारतीय राष्ट्र' नामक कोई वस्तु नहीं है असीम रोष को जन्म दिया। कांग्रेस के प्रति अपने विरोध भाव को छिपाने की उन्होंने कोई परवाह नहीं की और आशा प्रकट की कि उसका शीघ्र ही अन्त हो जाएगा।

बंगाल का विभाजन १६०५—लार्ड कर्जन के उक्त सभी कृत्यों से भारतीय जनता के हृदय में क्रोध का दावानल सुलग रहा था और असन्तोष के बादल बड़ी तीव्रगति से उमड़ रहे थे। परन्तु जिस चीज से तूफान उमड़ा, वह बंगाल का विभाजन था और इसको लार्ड कर्जन की सबसे बड़ी मूर्खता के नाम से पुकारा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, सरकारी पक्ष में जो यह बताया गया कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा हो गया है, सुशासन की दृष्टि से उसको दो भागों में बाँटा जाना आवश्यक है, इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य थी। उस समय बंगाल में, उड़ीसा व बिहार भी शामिल थे और सब मिलाकर कुल प्रान्त की आबादी ८ करोड़ थी। यदि

his wit, seems to me one of the most remarkable, the strongest and, in a way, most successful men of our time.

Dignity, a Roman dignity, is the keynote of his appearance. This is undoubtedly one of the causes of his success. Is it also, I sometimes ask myself, partly a result of his success? But no. Twenty years ago (when first I made his acquaintance) he was as impressive as he is, at the age of sixty, now. Moreover, had his mind any knack to remould his body, surely he would be taller. He remains very far below the middle height. But he carries his head high, thus envisaging the more easily the ruck of common objects, and making on such of those objects as are animate the kind of effect which his unaided stature might preclude. One of his eyebrows is slightly raised; the other is slightly lowered, to hold in position a black rimmed single eye-glass. His nose is magnificently Roman. His lips are small, firm, admirably chiselled, and every word that falls from them is very precisely articulated His chin is very strong, and his chest (in proportion to his height) deep He has the neatest of hands and feet. Draped in a toga, and without his monocle, he might pass for a statuette of Seneca. But he prefers and affects a more recent style of costume—the style, somewhat, of the Victorian statesmen who flourished in his youth · a frock coat and a rather large top-hat, a collar well open at the throat, and round it a riband of black silk tied in a loose bow. He is a good judge (and, I take it, the sole survivor among judges) of sherry. Nor is this the only way in which he imparts agreeably the flavour of a past age. In Thackeray, in Trollope, in the old volumes of *Punch*, you will have found a wealth of testimony to the fact that persons of high importance, meeting persons of slight importance, often

न बैठ सकते थे और निर्धारित काल के पश्चात् अपने घर से बाहर न निकल सकते थे। विदेशों में भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार होता था, उसका कारण क्या था ? देश भक्त भारतीयों को इस प्रश्न का यही उत्तर प्राप्त होता था कि चूंकि भारत पराधीनता के पाश में आबद्ध है, इसलिए विदेशों में उसकी सन्तति को अनादर, अपमान व लांछन सहने के लिए विवश होना पड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में जिस वीरतापूर्ण आन्दोलन का संचालन किया गया, भारत में उसकी भूरिश: प्रशंसा हुई। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ भी तीव्र से तीव्रतर होती गई।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव—जिन तत्वों ने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्रता प्रदान की उनमें कतिपय महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भी था। गोरी जातियों की अजेयता और भारतीयों की असहायता के विचार सन् १८६४ में इटली के अबीसीनिया से और सन् १६०५ में रूस के जापान द्वारा पराजित होने से सर्वथा दूर हो गए। मिस्र, ईरान और टर्की आदि सभी एशियाई राष्ट्र अपनी आलस्यमयी और तन्द्रामयी निन्द्रा को त्याग कर अंगड़ाई ले रहे थे, इन सभी देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन का जोर था, भारत इनसे कैसे अछूता रह सकता था ? जापान ने रूस को पराजित कर सम्पूर्ण एशिया के ललाट को उन्नत कर दिया। जापान की गौरवपूर्ण विजय का कारण यही ठहराया गया कि वहाँ के निवासी उग्र रूप से राष्ट्रवादी हैं। भारतवर्ष के राष्ट्रवादियों को इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने एक नूतन आशा और नूतन निश्चय प्रदान किया। भारतीयों के हृदय में जिस आत्महीनता की भावना ने घर कर रखा था, वह धीरे-धीरे नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर विदेशी शासन को विध्वंस करने की भावना बलवती होती गई।

उदारवादियों के उपायों में विश्वास की कमी—हमने ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया है, उनसे न केवल ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को ही तीव्र बल प्राप्त हुआ अपितु उन्होंने उदार प्रतिपादित उपायों से भी अविश्वास उत्पन्न कर दिया। तिलक, विपिन चन्द्रपाल और लाजपतराय जैसे नए नेताओं ने अनुभव किया कि उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित नीति के अवलम्बन में विश्वास की कमी करने से कोई लाभ नहीं,ब्रिटिश जनता की लोकतन्त्रात्मक भावनाओं पर ही भरोसा किए रहने से भारत अपने राष्ट्रीय लक्ष्य को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, यदि हम अपने राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें ब्रिटिश नौकरशाही को राजभक्तिपूर्ण सहयोग देने की नीति का परित्याग करके, अपने पैरों पर अपने आप खड़ा होकर, विदेशी साम्राज्यवाद का प्राणपण से प्रतिकार करने के लिए बद्धपरिकर हो जाना चाहिए। रियायतों के लिए याचना करने की अपेक्षा राजनीतिक अधिकारों के लिए ताल ठोंककर संग्राम करने की तत्परता, उग्र राष्ट्रीयता का विधायक तत्व था।

for we do find '*Educ.* : Won open scholarship at Queen's Coll, Oxford, 1879' A presage, this, of coarse successes. But mark the sequel! 'Second Class in Classical Mods, 1881; Third Class, Lit. Hum, 1883. Treasurer of Union, 1882' He was thrice a candidate for the Presidency of the Union; and I happen to have met in later years two of his successful opponents, both of them men rather prominent in public life to day. One of them told me that Dodworth's speeches were the wittiest ever heard in the Union 'or, I do believe, anywhere else', the other described them as the most closely reasoned And neither of these men spoke of Fenning Dodworth as one who had not lived up to his early promise They seemed to pride themselves, rather, on having always foreseen his ascendancy.

Men prominent in public life are mostly hard to converse with They lack small talk, and at the same time one doesn't like to confront them with their own great themes I have found that the best way to put them at their ease, to make them expand and glow, is to mention Fenning Dodworth They are all, from their various standpoints, of one mind about him Judges think he would have been an ornament to the Bench, statesmen wish he were in the Cabinet, diplomatists wish he were one of them, and wish he could be at Tokyo or Pekin or wherever at the moment his grasp of things in the Far East and his unfailing dislike of the look of them would be most obviously invaluable. And all these gods console themselves with anecdotes of his wit—some mordant thing he said years ago, some equally mordant thing he said last week 'I remember,' a Judge will tell you, 'one night at mess on the Northern Circuit, somebody said "I call Bosanquet a very strong

महान् वीर की स्मृति को पुनः प्रतिष्ठापित करने की योजना में जिसने कि महाराष्ट्र को मुगल शासन की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्रता के स्वर्णिम प्रभात में ला खड़ा किया था, स्पष्ट रूप से राजनीतिक उद्देश्य था। यह देश के नवयुवकों के लिए एक प्रत्यक्ष आह्वान था कि वे शिवाजी महाराज के उदाहरण को अपने सामने रखें, उस पर आचरण करें और ब्रिटिश शासन के बन्धन से भारत को मुक्ति दिलाएं। भाषण, नाटी-प्रदर्शन, जलूस, कथाएं और संगीत-दल इन उत्सवों के अनिवार्य साज-बाज थे और स्वयं तिलक के अनुसार ही उन्होंने न केवल जनता के अन्तस्तल में धार्मिक उत्साह ही जाग्रत किया, अपितु उसमें राष्ट्रीय चेतना का संचार किया और उन दिनों के जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे, उनके प्रति जनता के अन्तस्तल में अभिरुचि उत्पन्न की।

रैंड और आयर्स्ट की हत्या व तिलक की कारावास-यात्रा १८९७—इस प्रकार एक तो महाराष्ट्र पहले से ही क्रान्तिकारी और उग्र राष्ट्रीयता का गढ़ बना हुआ था, कि तभी दुर्भिक्ष और प्लेग जैसी प्राकृतिक आपत्तियों ने जनता को धर दबाया। सरकार ने जनता के कष्टों के प्रति उदासीनता का परिचय दिया, और यदि उसने इस व्यापक रोग—प्लेग—के निवारण में कुछ साधनों का प्रयोग भी किया, तो उसमें बहुत कठोरता बरती। यह एक प्रकार से जनता के क्रोधानल पर घृत छिड़क देने का काम हुआ। चापेकर बन्धुद्वय जैसे क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों के प्रति जनता के रोषानल को अधिकाधिक तीव्र किया, उसे हिंसा के लिए और "पृथ्वी को अपने शत्रुओं के जीवन रक्त से रंजित कर देने के लिए" उकसाया। इस प्रकार के विध्वंसात्मक भावनाओं से परिपूर्ण वातावरण में मि० रैंड और लेफ्टिनेंट आयर्स्ट के वध की घटनाएं घटित हुई। इस सम्बन्ध में दामोदर और बालकृष्ण चापेकर को गिरफ्तार किया गया और उन्हें प्राण-दण्ड हुआ। तिलक का इस जघन्य कृत्य से किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नहीं था, उन्होंने वस्तुतः "केसरी" में इसका खण्डन भी किया था। परन्तु अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने तिलक के विरोध में एक तूफान खड़ा कर दिया और, वह इस आधार पर कि ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देने के लिए जिसने आतंकवाद के कृत्यों को प्रोत्साहन दिया, तिलक ही उत्तरदायी है। उनके ऊपर अभियोग चलाने की मांग की। २७ जुलाई १८९७ को राजद्रोह के अपराध पर तिलक गिरफ्तार किए गए। एक नवयुवक अंग्रेज न्यायाधीश (जस्टिस स्ट्रेची) ने उनके अभियोग की सुनवाई की। जज ने पक्षपात शून्यता का कोई बहाना भी नहीं बनाया और तिलक को १८ मास के कठोर कारावास का दण्ड दिया। तिलक के साथ होने वाले अन्याय ने न केवल महाराष्ट्र को ही, अपितु सारे भारत को और भी अधिक उग्र कर दिया।

तिलक और सूरत की फूट १९०७—तिलक ने इस बात की बारम्बार चेष्टा की थी कि कांग्रेस "राजनीतिक भिक्षावृत्ति" वाली ढुलमुल नीति को त्यागकर किसी

because of their titles. Dodworth was, I believe, the first publicist to use that magical affix, that somehow statesman-like, mysterious, intriguing formula, '—And After.' In later years I began to think him narrow in his views. I became a prey to that sentimentalism from which in one's schooldays one is immune, and ceased to regard the ideas of the Liberal Party as perverse. Dodworth as a political thinker seemed to me lacking in generosity, lacking even (despite his invariable '—And After') in foresight. But the older I grew, and the less capable of his doctrine, the more surely did I appreciate his command of literary form. Losing the taste which undergraduates have for conceits and florid graces, I rendered justice to the sombre astringency of Dodworth's prose. Whatever his theme, whatever the Liberal Party was in office proposing, or in opposition opposing, his article was substantially the same as every other article he had written, but, like some masterpiece in music, it never palled. With perfect sobriety and fairness he would state the arguments on which the Liberal spokesmen had been basing their case; he would make these *seem* quite unanswerable, but then, suddenly, like a panther crouching to spring, he would pause, he would begin a new paragraph. What are the facts? The panther had sprung. It was always a great moment. I usually skipped the forthcoming facts and went on to the point where Dodworth worked back to first principles and historic parallels and (best of all) quotations from the mighty dead. He was always very adept in what may be called the suspensive method of quotation 'It was written long ago, by one who saw further and grasped more firmly than is given to most men to see and to grasp, that "the fate of nations is in the

राजनीतिक नभो-मण्डल को आच्छादित कर रखा था। वे एक जन्मजात योद्धा एवं आदर्शभूत मराठे थे। तिलक का यदि कोई एक मात्र जीवन ध्येय था तो यही कि "इस महादेश की सुषुप्त आत्मा को अपनी गहरी नींद में से जगाकर पुनः उसके जर्जरीभूत कलेवर में उस प्राणधाही जीवन धारा का संचार किया जाय, जिसके प्रताप से किसी समय उसके अतीत का भवन निर्माण हुआ था।"[१] अपने राजनीतिक विचारों और कार्यों के लिए तिलक ने जितने कष्ट सहे, उतने उनके समकालीन अन्य किसी राजनीतिज्ञ ने नहीं। उनका दृष्टिकोण धार्मिक था, और प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उस सबका वे हार्दिक समर्थन करते थे। भारत के पश्चिमीकरण से उन्हें घृणा थी और प्राचीनकाल में भारत जिस गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित था, उससे उसको पदच्युत करने का उत्तरदायित्व वे अंग्रेजों के सिर मढ़ते थे। तिलक को हम आधुनिक भारत का कृष्ण अथवा कौटिल्य कह सकते हैं। उनमें संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। वे साध्य वस्तु के सम्मुख साधनों को गौण समझते थे। उन्होंने अपने इस विश्वास को गीता की शिक्षाओं पर आधारित किया था। उनका कथन था —"यदि हमारे शिक्षक और निकट से निकट सम्बन्धी भी अन्याय का पक्ष ग्रहण करें, तो उनका भी वध कर देने में दोष नहीं है। बशर्ते कि हम यह कार्य अनासक्त भाव से करें।" तथापि तिलक ने हिंसा का प्रतिपादन कदापि नहीं किया क्योंकि वे इस बात का अनुभव करते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में हिंसा सफल नहीं हो सकती थी। तिलक के विचारों और उनके राजनीतिक साधनों ने उन्हें क्रान्तिकारी काँग्रेसियों का हृदयहार बना दिया। सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार माटेग्यू (Montagu) ने एक बार कहा था "भारत में केवल एक ही अकृत्रिम उग्र राष्ट्रवादी था, और वे थे तिलक।"[२] तिलक उदारवादियों के इस विचार से सहमत नहीं थे कि भारत अपने लक्ष्य को 'स्मरण-पत्रों व प्रार्थनाओं' द्वारा प्राप्त कर सकता है। उनकी यह मान्यता थी कि यदि भारत अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना चाहता है, तो उसके लिए सतत संघर्ष करते रहने की आवश्यकता है। उदारवादी वाणी के चाहे कितने भी धनी हों परन्तु उनमें से अधिकांश जन वैयक्तिक त्याग करने से पीछे भागते थे। तिलक में यह बात न थी। वे बड़े से बड़ा वैयक्तिक त्याग करने को प्रस्तुत थे। उन्होंने तीन बार कारावास की यात्रा की और अपने लिए शहादत का ताज हासिल किया[३]।

१. कृष्ण वल्लभ द्विवेदी—"भारत-निर्माता" भाग दो, पृ० ६२।

२. सी०वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी", पृ० ११७।

३. जी० एन०सिंह—"लेंडमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट" पृ० १५७।

phrase *Quos deus vult* had no meaning. Half educated readers thought it meant 'The Lord watch between thee and me when we are absent one from another.' The circulation fell by leaps and bounds. Advertisers withdrew their advertisements. Within six months (for the proprietor was now a Sir, and oafishly did not want to become something better) that old-established newspaper ceased utterly to be. 'This,' I thought, 'really *is* a set-back for Dodworth.' I was far from right. The set-back was rather for myself. I received no payment for three or four of the book-reviews that I had contributed, and I paid two guineas for my share of the dinner offered to Dodworth at the Savoy Hotel, and five guineas towards a portrait of him 'in oils' by one of the oldest and worst of Royal Academicians. This portrait was presented to him after dinner by our chairman (the Prime Minister of that time) in a speech that would have been cloying if it had been more fluent. Dodworth bandied no compliments. This was a private occasion, and he lived up to his reputation of being privately as caustic about his friends as he was publicly about his foes. He 'twitted' his friend the Prime Minister with one thing and another, reducing that statesman and the whole company to paroxysms of appreciation . . . 'Our chair man has said that he will continue to do what in him lies to help the cause that we all have at heart (hear, hear). Well, wherever there is a cause there is also an effect (laughter). I hope that the effect in this instance will be of the kind that we all desiderate (much laughter). I do not say that it will be, I only say I hope that it will be (hysterics).' I wish I could recall more of what Dodworth said. Every one agreed that he was in his best vein and had never been more pungent.

सम्राट् थे। लोकमान्य तिलक जन्मजात योद्धा थे। राजनीति में उनके आदर्श श्रीकृष्ण, कौटिल्य, शिवाजी और पेशवा थे। उनकी 'जैसे को तैसा' नीति में आस्था थी। वे साधुजनों को राजनीति के लिए अनुपयुक्त मानते थे। भारत में ब्रिटिश शासन के कृष्ण-पक्ष को उन्होंने खूब अच्छी तरह समझा था। उनका अंग्रेजों की न्यायपरायणता में बिलकुल विश्वास नहीं था। वे कहा करते थे कि हमें स्वराज्य अंग्रेजों से दान के रूप में नहीं मिल सकता, प्रत्युत स्वराज्य को प्राप्त करने के लिए हमें विदेशी शासकों से डटकर संघर्ष करना है। वे राजनीति में साध्य और साधन के अभेद को स्वीकार नहीं करते थे। उनका मत था कि यदि हमारे आदर्श श्रेष्ठ हैं तो हम उनको हस्तगत करने के लिए चाहे जैसे साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि तिलक का व्यक्तिगत जीवन गांधीजी के जीवन की भाँति ही निर्मल और निष्कलंक था, फिर भी उनके लिए राष्ट्र-हित की वेदी पर सत्य का बलिदान करना कोई बड़ी बात नहीं थी।

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा और कार्यपद्धति इससे भिन्न थी। वे स्वभाव से राजनीतिज्ञ नहीं, प्रत्युत धार्मिक पुरुष थे। राजनीति में तो उन्हें आवश्यकतावश आना पड़ा था।[1] राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक काल में गांधीजी का भी उदारवादी नेताओं की भाँति अंग्रेजों की न्यायपरायणता में अटल विश्वास था। यद्यपि बाद में उन्होंने भी ब्रिटिश शासन के कृष्णस्वरूप को तिलक के समान ही हृदयंगम कर लिया था। बाद में, तिलक की भाँति गांधीजी भी यह कहने लगे थे कि हमें स्वराज्य दान के रूप में नहीं मिल सकता, उसे प्राप्त करने के लिए हमें संघर्ष करना होगा यद्यपि वह संघर्ष अहिंसात्मक होना चाहिए। तिलक के विपरीत गांधीजी साध्य और साधन के बीच कोई विभाजक-रेखा नहीं मानते थे। उनका मत था कि हमें श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग करना चाहिए। गांधीजी का साध्य और साधन के प्रश्न पर इतना प्रबल आग्रह रहता था यद्यपि उनकी देश-निष्ठा में किसी को रत्तीमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता, वे यह कहते नहीं थकते थे कि मेरी दृष्टि में सत्य का स्थान देश-भक्ति से ऊपर है।

गांधीजी और तिलक दोनों के ही हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी। परन्तु उनकी संस्कृति विषयक मान्यताओं में थोड़ी भिन्नता है। तिलक कट्टर हिन्दू थे। उनकी कट्टरता इतनी बढ़ी हुई थी कि वे हिन्दू धर्म के नाम पर बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को भी सह लेते थे। उनका हिन्दू धर्म आक्रामक हिन्दू धर्म था। गांधीजी के साथ यह बात नहीं थी। उनके धार्मिक विश्वासों में पुराण-प्रियता अथवा अन्ध-विश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं था। उनका जीवन सर्व-धर्म-

१. रोम्यां रोलां—"महात्मा गांधी," पृ० २३।

Bannerman 'a Party once great' cast off what old remnants of decency had clung to it. Mr. Lloyd George composed a Budget. The Lords rejected it. Mr. Asquith introduced the Parliament Bill. Those were stirring times; and during them, as it seemed to me, Dodworth was greater, aye! and happier, than he had ever been. Constitutional points and precedents had always lain very near to his heart. In them he had always both publicly and privately abounded. His dislike of the look of things in the Far East had never been more than skin-deep. Such themes as the Reform Bill of 1832 had ever touched him to far finer issues. The fiscal problems raised by Mr. Chamberlain, strongly though he had backed Mr. Chamberlain's solution of them, had left in abeyance what was best in him. The desirability of enriching some rich manufacturers cannot be expressed in the grand manner. Mr. Asquith's desire to limit the Lords' veto was a worthy theme. Month followed month. I soon lost count of Dodworth's articles. 'The Assault on the Constitution—And After,' 'The Betrayal—And After,' 'The End of All Things—And After,' are the only three that I recall. Enough that he was at his best in all of them, and ended every one of them with the inference that Mr. Asquith (one of his staunchest though most reluctant admirers) was mad.

I had the good fortune to meet him constantly in those days of crisis I hardly know how this was I did not seek him out. It seemed simply that he had become ubiquitous. Maybe his zest had multiplied him by 100 or so, enabling him to be in as many places at once. He looked younger. He talked more quickly than was his wont, though with an elocution as impeccable as ever. He had none of those

श्रीमती एनीबेसेण्ट ने भी उग्र राष्ट्रीयता के जागरण के लिए कर्जन को ही उत्तरदायी ठहराया था। उन्होंने लिखा था, "कर्जन द्वारा बोए गए बीजों का अजगर के दांतों की फसल के रूप में पकना अवश्यम्भावी था।"[1] बंगाल के विभाजन ने जनता के क्रोध को एकदम से भड़का दिया। बंग-भंग को राष्ट्रीय एकता के ऊपर एक भयंकर कुठाराघात समझा गया। सरकार के इस दुष्कृत्य के विरोध में जो तूफान उत्पन्न हुआ, वह तब तक शान्त न हो सका, जब तक कि १९११ में बंग-भंग को रद्द न कर दिया गया।

विभाजन-विरोधी आन्दोलन—लार्ड कर्जन ने बंगाल का जो विभाजन किया था, उसके पीछे एक कूटनीति काम कर रही थी। बंगाल-विभाजन का उद्देश्य बंगाली जनता की राजनीतिक दृढ़ता और राष्ट्रीयता की नूतन प्राणधारा को अवरुद्ध कर देना था। बंगाल के विभाजन के मूल में सरकार की असली मंशा क्या है, बंगाली राष्ट्रवादियों ने इसको अच्छी तरह से जान लिया था। वे इस बात को भली-भांति समझ गए थे कि प्रान्त को दो भागों में विभाजित करके सरकार हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालना चाहती है। कूटनीतिज्ञ कर्जन ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था कि भारतवर्ष में साम्प्रदायिक भेदभाव के बीज बो देना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। नूतन निर्मित पूर्वी बंगाल और आसाम प्रान्त के गवर्नर सर बैम्पफाइल्ड फुलर के आचरण और नीति ने बंगाल विभाजन के वास्तविक उद्देश्य के सम्बन्ध में बचे-खुचे सन्देहों का भी निराकरण कर दिया। उन्होंने हिन्दुओं के प्रति विरोध और मुसलमानों के प्रति पक्षपात की खुल्लमखुल्ला नीति अपनाई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कहकर कि हिन्दू और मुसलमान मेरी दो पत्नियाँ हैं जिनमें मुसलमान मुझे अधिक प्रिय है, राष्ट्रीय भावनाओं को अधिकाधिक उत्तेजना प्रदान की। विभाजन की योजना को १९ जुलाई, १९०५ को घोषित किया गया और जनमत के सभी वर्गों के विरोध किए जाने के बावजूद भी १६ अक्टूबर, १९०५ को उसे क्रियान्वित कर दिया गया। वह दिन सम्पूर्ण बंगाल में राष्ट्रीय शोक का दिन माना गया। बहुत-से लोगों ने उस दिन उपवास रखा।

विभाजन-विरोधी आन्दोलन—बंगाल-विभाजन के विरोध में सारे देश में सार्वजनिक सभाएँ की गईं और जलूस निकाले गए। प्रत्येक कण्ठ से 'वन्दे मातरम्' का स्वर सुनाई देता था और गली-गली इस ध्वनि से गुञ्जरित हो उठती थी। रक्षा-बन्धन उस दिन के प्रोग्राम में शामिल था। यह जनता के इस दृढ़ निश्चय का प्रतीक था जब तक खण्डित प्रान्त को अखण्ड नहीं कर दिया जाता, संग्राम निरन्तर चालू

१. एनीबीसेण्ट—"हाऊ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम," पृ० २६।

satisfied with their *morale*, and being very caustic about the enemy; but it may be doubted whether he, whose spell had never worked on the man in the street, was fully relished by the men in the trenches. *Non omni omnia.* Colonel Dodworth was formed for successes of the more exquisite kind. I think the Ministry of Information erred in supposing that his article, 'Pax Britannica—And After,' would be of immense use all the world over. But the error was a generous one. The article was translated into thirty seven foreign languages and fifty-eight foreign dialects Twelve million copies of it were printed on hand woven paper, and these were despatched in a series of special trains to a southern port. The Admiralty, at the last moment, could not supply transport for them, and the local authorities complained of them that they blocked the dock. The matter was referred to the Ministry of Reconstruction, which purchased a wheat-field twenty miles inland and erected on it a large shed of concrete and steel for the reception of Dodworth's pamphlets, pending distribution. This shed was nearly finished at the moment when the Armistice was signed, and it was finished soon after. Whether the pamphlets are in it, or just where they are, I do not know. Blame whom you will. I care not. Dodworth had even in the War another of his exquisite successes.

Yet I am glad for him that we have Peace. At first I was afraid it might be bad for him. We had been promised a new world; and to that, though he had come so well through the War, I feared he would not be able to adjust himself. The new world was to be, in many respects, rather dreadful—a benign cataclysm, but still a cataclysm, and Dodworth perhaps not to be found in any of his

उन्हें जकड़ सके, उन्होंने ब्रिटिश भारत को त्यागकर पाण्डीचेरी में आश्रय ग्रहण किया। वहाँ पहुँचकर श्री अरविन्द ने राजनीति से संन्यास ले लिया, एक योगाश्रम की स्थापना की और स्वयं को आध्यात्मिक साधना में लवलीन कर दिया।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन—राष्ट्रवाद की नूतन प्राणधारा ने बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों में अभिव्यक्ति प्राप्त की। इन दोनों आन्दोलनों को बंगाल-विभाजन के विरोध में प्रारम्भ किया गया था। इन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में एक नए अध्याय की सृष्टि की। विपिन चन्द्रपाल और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे नेताओं ने दोनों बंगालों का दौरा किया, बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिए और जनता से यह प्रतिज्ञा करवाई "ईश्वर को साक्षी देकर और भावी पीढ़ियों की उपस्थिति में खड़े होकर हम यह गुरु-गम्भीर शपथ लेते हैं कि जहाँ तक व्यावहारिक होगा, हम घर की बनी चीजों का प्रयोग करेंगे और विदेशी वस्तुओं के उपयोग का बहिष्कार करेंगे।" बहिष्कार और स्वदेशी के जुड़वाँ प्रोग्राम को धार्मिक उत्साह के साथ आगे बढ़ाया गया। ये आन्दोलन अपने प्रमुख उद्देश्य में राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्तेजित करने में यथेष्ट रूप से सफल हुए। उन्होंने नवयुवकों को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। स्कूल और कालिजों के विद्यार्थी इन आन्दोलनों से सर्वाधिक प्रभावित हुए। उन्होंने बड़ी-बड़ी सभाएँ कीं, खूब जोशीले भाषण दिए, वन्देमातरम् गाया, राष्ट्रीय नारे लगाए, विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरने दिए और स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई।

सरकार की दमन-नीति—इस आन्दोलन का दमन करने में सरकार ने भी अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। राष्ट्रीय नेताओं और लेखकों की गिरफ्तारी उन दिनों एक आम बात हो गई। १६०८ में लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसे नेताओं को १८१८ के रेग्यूलेशन के अन्तर्गत, जिसे कि "कानून-रहित कानून" के नाम से सम्बोधित किया गया, निर्वासित दे दिया। नवयुवक और विद्यार्थी नौकरशाही निर्दयता के विशेष भाजन थे। शिक्षा संस्थाओं के प्रधानों को इस बात की धमकी दी गई कि यदि उन्होंने विद्यार्थियों को सरकार विरोधी हलचलों में भाग लेने से नहीं रोका, तो उनको जो सरकार की ओर से सहायता मिलती है, उसे बन्द कर दिया जाएगा व विश्वविद्यालयों से उनका जो सम्बन्ध है उसे तोड़ दिया जाएगा। पूर्वी बंगाल में नौकरशाही दमन-चक्र बहुत तीव्र गति से घूमा। वहाँ की सार्वजनिक गलियों में वन्देमातरम् का गान भी गैर कानूनी घोषित किया गया। अप्रैल, १६०६ में बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को बल-प्रयोग द्वारा तितर-बितर कर दिया गया और प्रतिनिधियों को पुलिस के द्वारा मारा गया। परन्तु ज्यों-ज्यों सरकार का दमन तीव्र होता गया, राष्ट्रीय योद्धाओं के उत्साह में वृद्धि हुई।

return to St. Stephen's implied for me the obsolescence of such men. I asked him what he thought, from a tactical standpoint, of the line recently taken by the Independent Liberals. 'I am afraid,' he said, 'there is not much hope for these Adullamites without a Cave.' This phrase he may not have coined on the spur of the moment. But, even so, how extraordinarily good! It's wicked, it's unjust, it hurts, but—it seems to me even more delicious than his description of Gladstone in '86 as 'a Moses without a Pisgah.' I think he was pleased, in his queer dry way, by my delight, for he said he would send me a copy of his forthcoming book—a selection from the political articles written by him since his earliest days. He had not, he said (quoting, I think, from his preface), intended to resuscitate these ephemeræ. The idea was not his but ——'s (he named the head of an historic firm of publishers). The book will be out next month, and will include that most recent of his articles, '*A Short Shrift for Sinn Fein—And After.*' It will be '*remaindered,*' of course, in a year or so, but will meanwhile have taken an honoured place in every eminent man's library. By the way, I had feared that Mr. Lloyd George, with his Celtic rather than classic mind, made a break in the long line of Prime Ministers who have rated Dodworth highly. I am glad to hear that at a dinner held somewhere the night before last he impulsively rose and proposed Dodworth's health, recalling that when he himself was a bare legged, wild eyed, dreamy little lad on the Welsh mountains he read every word of Fenning Dodworth's earlier articles as they came out, and had never forgotten them (applause). Since those days he had met Dodworth many a time in the valley and got some resounding whacks (laughter). But he always

भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपने पैरों के ऊपर ही खड़ा होना पड़ेगा। अपने उग्र क्रान्तिवाद के कारण उन्हें असंख्य कष्ट सहने पड़े। १९०८ में तिलक के साथ-ही-साथ उन्हें भी निर्वासित किया गया। जब वे छूटे तो सी० आई० डी० कुत्तों के समान उनके पीछे लगे रहते थे, फलतः अपने ही देश में उनका जीवन दूभर हो गया। युद्धकाल के बीच वे अमेरिका और इंगलैण्ड में रहे। मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के पास होने के पश्चात् उन्होंने 'स्वराज्य-दल' के कौंसिल-प्रवेश-प्रोग्राम का समर्थन किया। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा प्रारम्भ किए गए असहयोग आन्दोलन का कदापि हार्दिक अनुमोदन नहीं किया। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में, लाजपतराय 'एक योद्धा थे, सत्याग्रही नहीं।'[1] साइमन-कमीशन विरोधी आन्दोलन में भी उन्होंने खुल कर हिस्सा लिया था। सन् १९२८ में ही, साइमन कमीशन के प्रति विरोध प्रदर्शन के समय एक गोरे सार्जेंट की लाठी के छाती पर हुए घातक प्रहार से, उसके कुछ ही दिनों उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई। जिस दिन कि उन पर यह लाठी प्रहार हुआ था, उसी दिन सन्ध्या के समय एक भाषण देते हुए उन्होंने कहा था "मेरे ऊपर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के ताबूत की कील बनेगा।"

२६. उग्र राष्ट्रवादियों के सिद्धान्त और साधन

उदारवादी नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह—जैसा कि हम देख चुके हैं उग्र राष्ट्रीयता उदारवादी अथवा नरम कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध भी उतना ही व[illegible] विद्रोह था, जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध। उदारवादियों के प्रतिकूल [illegible]दियों का यह विश्वास था कि भारत और इंगलैण्ड के हितों में "बेर-केर" का सम्बन्ध है और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के साथ चाहे कितना भी सहयोग क्यों न किया जाए, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। विपिन चन्द्रपाल का यह मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारत पर उनका अंकुश निरन्तर बना रहे। उनके मत से युद्ध के बिना स्वतन्त्रता प्राप्त होना असम्भव था।

उग्रवादियों का राजनीतिक लक्ष्य—सम्भवतः तिलक ही वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कि स्वराज्य को राष्ट्रीय संघर्ष का लक्ष्य बतलाया, परन्तु उनके स्वराज्य की मान्यता दादाभाई नौरोजी के "स्वराज्य" अथवा गोखले द्वारा घोषित स्वायत्त शासन की धारणा से बहुत भिन्न नहीं थी। नेविन्सन ने तिलक को यह कहते हुए उद्धृत किया है—'अपने उद्देश्य के कारण नहीं, वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हम

१. डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या—*"दि हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस," पृ० १७३।*

उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित निवेदनों, प्रार्थनाओं, स्मरण पत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों की नीति में अणुमात्र भी विश्वास न करते थे, वस्तुतः वे उसे "राजनीतिक भिक्षावृत्ति" के नाम से पुकारते थे। कांग्रेस के बनारस-अधिवेशन (१९०५) के अवसर पर लाला लाजपतराय ने कहा था, "एक अंग्रेज को भिखारी से बड़ी घृणा और विरक्ति होती है। मेरा विचार है कि भिखारी है ही इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है हम अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं।" तिलक ने उग्रवादी दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया, "हमारा आदर्श दया याचना नहीं, आत्म-निर्भरता है।" शासकों के साथ राजभक्तिपूर्ण सहयोग करने के बजाय उग्रवादियों ने निष्क्रिय-प्रतिरोध (Passive Resistence) का विधात्मक प्रोग्राम राष्ट्र के सम्मुख रखा।

बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय-शिक्षा—बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध की नूतन प्राण धारा के प्रतीक थे। वैसे तो बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति विदेशी वस्तुओं के ही विरुद्ध निर्दिष्ट थी, परन्तु उसमें सरकार के साथ असहयोग, और सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठाओं तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादी नेता दृढ़तापूर्वक स्वदेशी में विश्वास करते थे और जन-साधारण में उसका प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने देश-व्यापी आन्दोलन का संगठन किया था। लाजपतराय इसको स्वदेश की मुक्ति का मार्ग समझते थे। उनकी मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा के ऊपर एक सीधा आघात है। इसके अलावा उनका यह भी विचार था कि "दूकानदारों की जाति को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।"

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ते के एक एग्लो-इण्डियन समाचार पत्र-"दि इंग्लिशमैन" ने लिखा था "यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ते के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है, कि वह बेचा नहीं जा सकता। बहुत-सी मारवाड़ी फर्में बिल्कुल नष्ट हो गई हैं और कई बड़ी-से-बड़ी यूरोपीय-निर्यात-दुकानों को या तो बन्द कर देना पड़ा है अथवा उनका व्यापार बहुत ही मन्द गति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राज के शत्रुओं ने देश में ब्रिटिश हितों पर कुठारा-

[illegible]ा कि "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए [illegible]न्यवाद देते हुए उससे कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको [illegible]प्त करने की सामर्थ्य मेरे हाथों में नहीं है।"

A NOTE ON THE EINSTEIN THEORY

1923

IT is said that there are, besides Dr. Einstein himself, only two men who can claim to have grasped the Theory in full. I cannot claim to be either of these. But I do know a good thing when I see it; and here is a thing that is excellent in its kind—romantically excellent in a kind that is itself high. When I think of rays being deflected by gravity, and of parallel lines at long last converging so that there isn't perhaps, after all, any such thing as Infinity, I draw a very deep breath indeed. The attempt to conceive Infinity had always been quite arduous enough for me. But to imagine the absence of it, to feel that perhaps we and all the stars beyond our ken are somehow cosily (though awfully) closed in by certain curves beyond which is nothing; and to convince myself, by the way, that this exterior nothing is not (in virtue of *being* nothing) some thing, and therefore . . . but I lose the thread.

Enough that I never lose the thrill It excites, it charms me to think of elderly great mathematicians of this and that nation packing their portmanteaus whenever there is to be a solar eclipse, and travelling over land and sea to the Lick Observatory, or to some hardly accessible mountain top in Kamskatka, and there testing, to the best of their power, the soundness or unsoundness of the tremendous Theory. So far, the weather has not been very favourable to these undertakings Nature, who is proud

से आता है।" उग्रवादी नेताओं के मस्तिष्कों पर हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान की गहरी छाप थी। "उग्रवादी नेताओं ने हिन्दुओं के वैदिक अतीत, चन्द्रगुप्त और अशोक के स्वर्णिम युगों, राणा प्रताप एवं शिवाजी के वीरतापूर्ण कृत्यों तथा सन् १८५७ की वीरी भांसी की रानी लक्ष्मीबाई के देश प्रेम की स्मृति को पुनः ताजा किया।"[१] यह हम पहले ही देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में तिलक ने, जो कि पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी थे और भारत की गौरवमयी संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करना चाहते थे, शिवाजी और गणपति महोत्सवों का पुनरुद्धार किया। विपिन चन्द्रपाल राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण को शक्ति-पूजा के प्राचीन आदर्श का ही पुनर्जागरण समझते थे। उन्होंने लिखा "दुर्गा, काली, जगद्धात्री-भवानी आदि हिन्दू शक्ति-पूजकों द्वारा प्रयुक्त सभी प्रतीकों ने नूतन आशय ग्रहण किया है। उन सभी पुरातन और परम्परागत देवी देवताओं को जो आधुनिक मस्तिष्क पर अपना प्रभाव खो चुके थे, अब भारतवर्ष की आत्मा और मस्तिष्क पर एक नूतन ऐतिहासिक राष्ट्रीय निर्वाचन सहित, पुनर्प्रतिष्ठापित किया गया है।"[२] अरविन्द के मत से "हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतन्त्रता ही जीवन का ध्येय है और हिन्दू धर्म ही हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है।"

हिन्दू धर्म और विचार-दर्शन पर यह जो विशेष बल दिया गया, उसे सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उसमें कई त्रुटियाँ थी। जहाँ इसने हिन्दुओं में देश प्रेम की प्राणधारा का संचार किया, वहाँ इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुसलमानों में उदासीनता ला दी। सरकारी कर्मचारियों ने मुसलमानों के खूब कान भरे, उनसे कहा कि यह जो ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा रहा है, इसका उद्देश्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। मुस्लिम जनता विदेशी नौकरशाही के इस बहकावे में आ गई, वह राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति बहुत कुछ निरपेक्ष-सी रही। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार उग्र राष्ट्रीयता 'सामाजिक रूप से निश्चिततः प्रतिक्रियावादी" थी।

२७. उग्र राष्ट्रीयता और कांग्रेस

इसने राष्ट्रीय आन्दोलन का क्षेत्र विस्तृत किया—वैसे तो उग्र राष्ट्रीयता कांग्रेस-आन्दोलन के एक अविभाज्य अंग के ही रूप में उद्भावित हुई थी, परन्तु उग्रवादियों का इस संगठन में था अल्पमत ही तथापि वे, राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने में समर्थ हुए। वे राष्ट्रीय आन्दोलन की वेगवती धारा में मध्यग-

१. ए० आर० देसाई—"सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म," पृ० ३००।

२. जी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—वही, पृ० १६५-१६६।

by some homely little incident. Newton and the apple, Copernicus and the whipping top, James Watt and the kettle. But Einstein and——? Poor Einstein!

Men of his magnitude are not avid of popularity? True; but this does not mean that popularity would be disagreeable to them. When the newspapers were trying to make Relativity a household word, I read an account of Einstein, written by one who knew him, and enhanced by a photograph of him. A very human person, I gathered; far from stand off ish; a player of the fiddle; the constant smoker of a large pipe; a genial, though thoughtful, critic of current things. I liked his views on education. Why all this forcing of a child's memory? Memory—a matter of little moment. Let the child be taught to see, and to think, for itself. And let every child be taught a trade. And 'after all,' said Einstein, dismissing tuition, 'the best thing in the world is a happy face.' It was clear from the photograph that his own face was a happy one. But I discerned in it a certain wistfulness, too—the wistfulness of a thorough good fellow whose work somehow repels the attention of that good fellow, the average man. My heart went out to him. I wished I could help him. And now, I think, I can. Hark!

Yesterday afternoon I was walking on the coast-road from Rapallo to Zoagli when I saw approaching in the distance a man of strenuous gait, and of aspect neither Italian nor English. His brow was bare to the breeze; and as he drew near I perceived the brow to be a fine one; and as he drew nearer still I perceived the face to be a very happy one—with just a hint in it of wistfulness, which, however, vanished at my words, 'Dr. Einstein, I presume?' He clapped a cordial hand on my shoulder; he treated me

था; इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। उन्होंने अपने बहुमत का प्रयोग कर अपने मनोनीत डा० रास बिहारी घोष को कांग्रेस का सभापति बनाने में सफलता प्राप्त की। उग्रवादियों को यह प्रबल आशंका थी कि उनके विरोधी बहिष्कार और स्वदेशी पर पास किए गए पहले वर्ष के प्रस्तावों को मुलायम करना चाहते हैं। दोनों ही पक्षों में उग्रता की वृद्धि होती गई और समझौते के सारे प्रयास निष्फल हुए। अधिवेशन बड़े गुलगपाड़े के वातावरण में प्रारम्भ हुआ। अधिवेशन के दूसरे दिन की कार्यवाही पुलिस की उपस्थिति में सम्पन्न हुई। परन्तु सभापति अभी अपने भाषण को ठीक से शुरू भी नहीं कर पाए थे कि प्रतिनिधियों में से एक प्रतिनिधि ने अपना जूता उठा कर फेंका, जो सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को छूता हुआ सर फिरोजशाह मेहता को लगा। फिर क्या था, मानो एक युद्ध प्रारम्भ हो गया कुर्सियाँ फेंकी गईं और डण्डे चलने लगे, जिससे कांग्रेस उस दिन के लिए खतम हो गई। पुलिस को बल प्रयोग के द्वारा पण्डाल खाली कराना पड़ा। इसके बाद नरम दल के नेता जमा हुए, उन्होंने एक पृथक् 'कनवेन्शन' का निर्माण किया, और कांग्रेस का एक ऐसा नूतन विधान बनाया कि उग्रदल के लोग उस संगठन में आ ही न सकें। फलतः उग्रदल के लोग कांग्रेस से बाहर निकल गए और वे इस संगठन के अन्दर तब तक शामिल नहीं हुए जब तक कि १६१६ में दोनों दलों के बीच पुनः मेल स्थापित न हो गया।

२८. उग्र राष्ट्रीयता और शासन

उग्र राष्ट्रवादियों का संपीड़न और दमनमूलक कानूनों का निर्माण—उदारवादी कांग्रेसियों के प्रति तो शासन किसी प्रकार की अनिच्छुक सहिष्णुता प्रदर्शित करता रहा परन्तु उग्रवाद की कड़वी गोली को निगलना उसके लिए दुःसाध्य था। उग्रवादी सतत संपीड़न के भाजन थे। क्रान्तिकारियों का दमन करने में जो नीति रूस की सरकार ने अपनाई थी अर्थात् जिन पर क्रान्तिकारी होने का अणुमात्र भी सन्देह होता, उन्हें गाड़ियों में भर-भर कर साइबेरिया के बर्फीले मैदानों में भेज दिया जाता था, करीब-करीब वही नीति भारत में उग्र राष्ट्रवादियों का दमन करने में ब्रिटिश शासन ने अपनाई।

शासन ने कितने ही देशभक्तों को देशनिर्वासन का दण्ड दिया और ऐसा करने में जनता की भावनाओं का कोई ध्यान नहीं रखा। नौकरशाही ने इस बात का पक्का निश्चय कर लिया था कि जैसे भी हो सके उग्र राष्ट्रीयता को फौलादी पंजे से कुचल देना है। इसी आदर्श को अपने सामने रखते हुए सरकार ने अपने दमन-शस्त्रागार को कई नूतन कानूनों का निर्माण कर परिपूर्ण किया। जैसे कि हम पहले ही कह चुके हैं तिलक के प्रथम करावास के पश्चात् इण्डियन पीनल कोड में १२४ अ और १५३ अ धाराएँ जोड़ी गई। जब कि बंगाल विभाजन-विरोधी आन्दोलन तूल पकड़ रहा था और

laughed; but I did; and Schultz went out in some anger. It was dawn when I rose from the fireside. The fire had long ago burnt itself out, and I was stiff with cold. But my mind was all a glow with the basic principles of Relativismus.'

'The world,' I said quietly, 'shall hear of this, Dr. Einstein.'

था और उसमें हिंसा को कोई स्थान नहीं था। उसके विपरीत क्रान्तिकारियों का विश्वास था कि केवल शान्तिपूर्ण संघर्ष ही पर्याप्त नहीं है। वे हिंसा में और आतंकवाद में विश्वास रखते थे।

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की साधन-प्रणाली—क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद उन्हीं कारणों का परिणाम था, जिन्होंने कि राजनीतिक उग्रवाद को उत्पन्न किया। इसने उन भावुक युवकों को, जो उदार राष्ट्रवादियों के ठकुरसुहाती दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे और साथ-ही-साथ लाल-बाल-पाल द्वारा प्रतिपादित शान्तिपूर्ण आन्दोलन की साधन-प्रणाली में भी विश्वास नहीं रखते थे, अपनी ओर आकृष्ट किया। क्रान्तिकारियों का विचार था कि पाशविक बल पर आधारित साम्राज्यवाद को हिंसा के बिना जड़ से उखाड़ फेंकना असम्भव है। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनमूलक नीति ने उनके इस विचार को और पुष्ट कर दिया था। उन्होंने यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की कार्य प्रणाली का अध्ययन किया और वे जारकालीन रूस के गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों की क्रियान्विति से विशेष रूप से प्रभावित हुए। उनका प्रमुख कार्यक्रम हिंसक कार्यवाहियाँ और राजनीतिक हत्याएँ करना था। ऐसा करने से, वे समझते थे कि ब्रिटिश अधिकारियों और उनके भारतीय पिछलग्गुओं के हृदय में आतंक उत्पन्न हो जाएगा और समस्त शासन यन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाएगा। अपने आन्दोलन को चलाने के लिए सरकारी खजाने लूट लेना और सशस्त्र डकैतियाँ डालना भी उनके कार्यक्रम में शामिल था।

३०. क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का प्रथम चरण

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद—क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का सबसे प्रारम्भिक केन्द्र महाराष्ट्र था, जहाँ उसने स्वयं को १८९९ में रैंड और आयर्स्ट की दोहरी हत्याओं में व्यक्त किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा, वी० डी० सावरकर और उनके भाई गणेश सावरकर व चापेकर बन्धुद्वय इस आन्दोलन के नेता थे। उनका कहना था 'प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो'। यह प्रतीत होता है कि रैण्ड की हत्या में श्याम जी कृष्ण वर्मा का हाथ था। वे इस हत्या के तुरन्त बाद ही लन्दन चले गए। सावरकर बन्धुओं ने क्रान्तिकारी अभिनव भारत समाज की स्थापना की। १९०६ में विनायक दामोदर सावरकर लन्दन पहुँचे और वहाँ श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ बँटाने लगे। उन्होंने लन्दन से अपने भाई गणेश को, जो महाराष्ट्र में आन्दोलन का कार्य कर रहा था, हथियार भेजने की कोशिश की, हथियारों का पार्सल रवाना कर दिया गया। लेकिन इसके पूर्व कि वह गणेश के पास पहुँचा, गणेश को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में आजीवन देश निकाले का दण्ड दे दिया गया। प्रतिशोध की भावना से अभिनव समाज के एक सदस्य ने डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० जैकसन को अपनी गोली का निशाना बना

प्राप्त था। पेरिस की मैडम कामा का नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैडम कामा 'वन्दे मातरम्' का सम्पादन करती थीं। ये क्रान्तिकारी भारत में कार्य करने वाले क्रान्तिकारियों को पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ आदि भेजा करते थे ताकि शिक्षित युवकवर्ग में क्रान्तिकारी विचार-धारा का संचार किया जा सके।

(३) **अमेरिका में**—अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन किया व १९१३ में सान फ्रांसिस्को से 'गदर' नामक एक पत्र निकालना शुरू किया। यद्यपि परिस्थितियों से विवश हो लाला हरदयाल को अमेरिका छोड़कर स्विट्जरलैण्ड चला जाना पड़ा लेकिन गदर आन्दोलन में शिथिलता नहीं आने पाई और क्रान्तिकारी अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के बीच खूब प्रचार करते रहे। (गदर आन्दोलन पंजाब में भी सक्रिय था। यहाँ उसका नेतृत्व बाबा गुरुदत्त सिंह और अमेरिका से लौट कर आए हुए दूसरे क्रान्तिकारियों ने किया)। सर वैलेण्टाइन शिरोल ने 'इण्डो-अमेरिकन एसोसिएशन' और यंग इण्डिया एसोसिएशन' नामक दो संस्थाओं की भी चर्चा की है। इनमें पहली तो एक प्रचार संस्था थी और 'फ्री हिन्दुस्तान' नामक पत्र निकालती थी व दूसरी एक गुप्त संस्था थी जो आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी दलों की पद्धति पर बनी हुई थी। सर वैलेण्टाइन शिरोल का कथन है कि इन दोनों ही संस्थाओं का भारत की समस्त राजद्रोही संस्थाओं में सम्बन्ध स्थापित था।

३१. क्रान्तिकारी आन्दोलन का उत्तरकाल

सत्याग्रह के सम्मुख आतंकवाद की निष्प्रभता -भारत के राजनीतिक क्षेत्र में *महात्मा गांधी के अवतरण ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की क्रमशः अधोगति शुरू कर दी। गांधी जी की टेकनीक ने देशभक्त भारतीयों को अधिक प्रभावित किया और आतंकवाद को निष्प्रभ कर दिया*—इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अहिंसा के जादू ने हिंसक कार्यवाहियों का पूर्ण उत्सादन कर दिया। क्रान्तिकारी भावना मूलतः समाप्त नहीं हुई और समय-समय पर न्यूनाधिक रूप में संगठित पद्धति में राजनीतिक आतंकवाद की छितराई हुई हलचलों में उसका विस्फोट होता रहा। इस दिशा में 'हिन्दुस्तान सोशियलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी' ने कुछ समय तक कार्य किया और शासकों के आतंकवाद का सामना करने की कोशिश की। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और जतीन्द्रनाथ दास जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ साधकों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने की असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा किया।

यह ठीक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध महात्मा गांधी के शान्तिमय आन्दोलन ने भारत की जनता को बहुत बड़े पैमाने पर अपनी ओर आकृष्ट किया लेकिन फिर भी हिंसा या उसकी धमकी राष्ट्रवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में सदैव

A STRANGER IN VENICE

1906.

It may have been the sun that woke me; but I think it was the silence. In London the motor-omnibuses rattle and hoot vainly: my ears are inured to that din. In the country the birds 'call' me, punctually enough. But there are no singing birds in sea girt Venice, and no traffic to detonate for the Londoner his accustomed lullaby; nor, indeed, is there any noise whatsoever, except the lapping of water against walls; and to hear that susurrus you need to be awake and intently listening. Thus, little by little, a queer emptiness intrudes itself into your slumbers, and anon you open your eyes to see what is the matter. All's well.

In the country the birds, in an ordinary city the traffic, would importune you to be up and competing with your fellows, to lose no time, to survive among the fittest. But the silence that in Venice wakes you does not rouse you. Whatever the hour of the morning, there seems no more reason for you to rise than there would be in the dead of night. Here is the dead of day. The sunlight is yellow moonlight. And you, but that you are wide awake, are Endymion. . . .

I lay as still as he, idly wondering how the Venetians had once contrived to found an empire. For surely empire-building involves early rising? And here was I, who had arrived overnight, so bereft of impulse that I was loth to

बद्ध-परिकर रहने की पुरुषार्थमयी भावना का संचरण किया। तिलक को कई बार कारावास का दण्ड मिला। तिलक एक गम्भीर विद्वान्, चतुर राजनीतिज्ञ और जनता के छत्ररहित सम्राट् थे। उन्होंने जनता को अंग्रेजों से कृपाकोर की भिक्षा माँगने के बजाय आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्र कार्यवाही का पाठ पढ़ाया। उनका उग्रवाद उन्हें गोखले के विरोध में रखता था।

बंगाल में उग्रवाद जनता द्वारा प्राणपण से विरोध किए जाने के बावजूद भी अक्तूबर, १६०५ में प्रान्त को दो भागों में विभाजित कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। बंगाल के दोनों भागों में एक तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन, बंग-भंग-विरोधी आन्दोलन के ही अंग थे। विपिन चन्द्रपाल, अरविन्द घोष और अश्विनी कुमारदत्त बंगाली उग्रवाद के प्रमुख नेताओं में से थे। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण-उग्रवादी नेता थे।

उग्रवाद उस उदारवादी नेतृत्व के प्रति जो ब्रिटिश जाति की न्याय-निष्ठा में विश्वास करता था और अपनी राजभक्ति की घोषणा करते न थकता था, एक सबल क्रान्ति थी। उदारवादियों का विश्वास था कि वे विशुद्ध वैधानिक उपायों के ही द्वारा भारत के राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। उग्रवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय विरोध का समर्थन करते थे और वे स्वतन्त्रता के मन्त्र के वाहक थे। उग्रवादियों द्वारा प्रारम्भ किए गए बहिष्कार और स्वदेशी के आन्दोलनों ने भारत के राष्ट्रीय इतिहास में एक नूतन अध्याय की सृष्टि की। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय दासता के बन्धनों में बन्धे रहने के लिए तैयार नहीं है और वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संग्राम करने को बद्ध-परिकर हैं। उग्र राष्ट्रीयता का हिन्दू पुनरुत्थान से घनिष्ट सम्बन्ध था, इस कारण उसका स्वरूप कुछ-कुछ प्रतिक्रियावादी-सा हो गया था।

उदारवादियों और उग्रवादियों के बढ़ते हुए मतभेद के ही कारण १६०७ में सूरत विच्छेद हुआ।

उग्र राष्ट्रवाद का एक पहलू क्रान्तिवाद राष्ट्रवाद था। क्रान्तिकारियों का शान्तिपूर्ण आन्दोलन में विश्वास नहीं था। वे हिंसक कार्यक्रम के अनुयायी थे। यह आन्दोलन सबसे पहले महाराष्ट्र में प्रकट हुआ। श्यामजी वर्मा और सावरकर बन्धुओं ने इसका संगठन किया। बंगाल में इसका विस्फोट बंग-भंग के दिनों में हुआ। बारीन्द्र घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त इसके शक्तिशाली नेता थे। इसी समय के आस-पास पंजाब में भी क्रान्तिकारी समितियाँ स्थापित हुईं। भारतीय क्रान्तिकारियों ने भारत के बाहर यूरोप और अमरीका में भी काम किया। भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन के क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतीर्ण होने पर क्रान्तिकारी आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

Their belated outcome was that I found myself, quite suddenly, face to face with the door from which I had issued. It was not less suddenly, a few minutes later, that I was confronted by S. Mark's. But this time I said nothing. Indeed, I should not envy the soul of one who at first sight of such strange loveliness found anything to say.

Magnificent is what Ruskin wrote about it—magnificent in rhythm and colour, and having in itself much of the very quality that is in this work of Byzantine artificers. But even it, with all the great glow of it, does not describe its theme. Read it before you have seen S. Mark's: you do but admire the language. Read it after · its inadequacy frets you. Ruskin himself must have fretted—none more poignantly than that very humble great man. But one thing at least—one thing very near to the heart of a man writing about what he loves—Ruskin had achieved. He had proved his love. How can I, who am no poet, prove mine? I must ask you to take it on trust. I loved S. Mark's. Hamlet said precisely the same thing about Ophelia; and there has never ceased to be a hot academic debate as to whether he was speaking the truth. In a sceptic world, evidence of love is demanded. . . . Well, then, for me the church had hardly the effect of a building; of a garden, rather; an Eastern garden that had been by some Christian miracle petrified just when the flowers were fading, so that its beauty should last forever to the glory of Christ, and of S. Mark. But Mohammed had walked there, and his spirit haunts it yet, ranging from dome to dome, from cornice to cornice, unafraid of the Saint's own lion which, haloed, mounts golden guard in the midst, against a starred blue background; and one almost wonders that among those

दानवीय कृत्य करता रहा है ?"[1] यह कहना तो ठीक नहीं है कि साम्प्रदायिकता के उद्भव और विस्तार का सारा का सारा दोष ही अंग्रेजों के सर मढ़ा जा सकता है परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि भारतीय राजनीति के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास का मुख्य उत्तरदायित्व अंग्रेजों के कन्धों पर ही आकर पड़ता है। द्वितीय गोलमेज परिषद् के अवसर पर महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा कि साम्प्रदायिकता की समस्या "ब्रिटिश आगमन की समकालिक" है।"[2] शताब्दियों से एक दूसरे के साथ मिलजुलकर निवास करते रहने के कारण भारत वर्ष के हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे के अनुकूल बनने और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की स्वस्थ भावना को सुविकसित कर लिया था यद्यपि कभी-कभी इन दोनों जातियों में मन मुटाव भी हो जाता था, फिर भी दोनों ही जातियों ने "एक दूसरे के साथ सहयोग स्थापित करने का एक आकर्षक आदर्श" सुविकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अंग्रेजों ने स्वयं को इस आदर्श के खण्डन-कार्य में संलग्न कर दिया। "अपने समस्त विख्यात कौशल के साथ, जिसने कि अभी हाल तक उनकी कूटनीति को संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली बनाए रखा था, अंग्रेज शासकों ने अपने आप को हिन्दू और मुसलमानों के मध्य में खड़ा करके एक ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुवन की रचना का निश्चय किया, जिसके आधार वे स्वयं रहे।"[3]

३३. ब्रिटिश शासन में भारतीय मुसलमानों की अधोगति

एंग्लो-हिन्दू सहयोग का युग — भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इस देश में मुसलमानों की स्थिति पर एक महान् कुठाराघात था। अंग्रेजों की प्रभुता के पूर्व मुसलमान ही इस देश के भाग्य-विधाता थे, अपनी इस गौरवपूर्ण स्थिति से वे स्खलित हो गए और निरन्तर निर्धनता और अधोगति के महार्णव में डूबते गए। अपने शासन के प्रारम्भ से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुसलमानों से भय खाती थी और उसे आशंका थी कि मुसलमान अपनी अपहृत सत्ता को पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देखते हैं। फलतः ब्रिटिश शासकों ने, जैसे भी हो सका हर सम्भव उपाय से मुसलमानों का दमन करने की चेष्टा की और वे "अपने प्रशासन के सञ्चालनार्थ हिन्दुओं की सहायता और राजभक्ति पाने की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुए। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का प्रथम युग एंग्लो-हिन्दू-सहयोग

१. कूपलैण्ड—"दी इण्डियन प्राब्लेम (१८३३-१९३५)" पृ० ३५।
२. कूपलैण्ड—"दी इण्डियन प्राब्लेम (१८३३-१९३५)" पृ० ६५।
३. मेहता और पटवर्धन—"दी कम्यूनल ट्रायंगल" पृ० ५२।

the generations of human creatures that have in the mean time shifted and fleeted across the piazza, and of the generations unborn on which those images, from their arches and niches, will still be gazing. . . . 'Just as it is now'? Surely, S. Mark's has a sombre grandeur that we miss in Bellini's picture of it. There was more gliding then, and Time had but just begun to soften with his master-hand the colours of the stones. But even then S. Mark's cannot have been merely gay, as we see it here. Nobly solemn it must have been from the outset. And gay, too, delicately gay, it will be to the end of time. And it is this very fusion that no painter whose work is known to me has ever compassed. Mr. Walter Sickert shows to us, darkly, the graveness and grandeur, as in a dream—the sort of dream that may have often visited the slumbers of Sir Christopher Wren. Mr. Sickert might almost be suspected of having brought London air with him; and, as being a modern of moderns, he is less immediately concerned with the object in front of him than with the air between him and it. Yet no diffusion of London air in the Piazza could really rob S. Mark's of its gaiety; still less can a mere Venetian twilight. And no brilliancy of Venetian sun at noon, such as was chosen by Bellini, can rob S. Mark's of its mysterious solemnity.

Some day, perhaps, some painter will achieve here his double task. Even so, the lovers of the façade will not be satisfied. A painter, just as he must choose one kind of light, must pitch his easel on one special spot. But we, the irresponsible, do not stand still: we shift from point to point; and at our every step the façade changes: it is alive. The sun shifts, too, causing yet other lively variations. How should a presentment from any one

ऊँचे पदों पर तो यूरोपियनों की प्रतिष्ठा की गई और छोटे पदों पर हिन्दुओं की। सभी चुनावों में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं के ऊपर अधिक अनुग्रह प्रदर्शित किया जाता था। जब कभी कोई जगह खाली होती थी, बहुधा यह बात स्पष्ट कर दी जाती थी कि इन जगहों पर केवल हिन्दुओं को ही नियुक्त किया जाएगा।"[1] इस सम्बन्ध में नोमन ने स्पष्ट आंकड़े दिए है। १८७१ में बंगाल में २१४१ गजटेड पद थे। इनमें से १२३८ पर यूरोपियन नियुक्त थे ७११ पर हिन्दू नियुक्त थे और मुसलमान केवल ६२ पर।[2] यह स्मर्तव्य है कि अंग्रेज इस साम्राज्यवादी उद्यम में हिन्दुओं को केवल छोटे साझीदारों के रूप में ही प्रयुक्त कर रहे थे उन्होंने विश्वास और महत्व के समस्त पदों से हिन्दुओं को कोसों दूर रखा था। बंगाल में आई० सी० एस० के समस्त २६२ पदों पर केवल यूरोपियन ही नियुक्त थे—न्याय-विभाग के ४७ उच्च पदों पर भी उनकी ही सुप्रतिष्ठा थी। परन्तु मुसलमान कठोर अन्याय के भाजन थे। उन्हें सेना में जो कि उनकी प्रादर्श जीवन वृत्ति रही थी, कोई भी अच्छी नौकरी नहीं मिलती थी। हंटर ने लिखा है, "कोई भी मुसलमान फौज में प्रवेश नहीं कर सकता। कुछ मुसलमान गवर्नर जनरल के कमीशन द्वारा अवश्य चुने जाते है, परन्तु जहां तक मैं समझता हूं, महारानी के कमीशन द्वारा एक भी नहीं।[3]

अंग्रेजी शिक्षा और मुस्लिम अधोगति – अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के सूत्रपात ने मुसलमानों के आर्थिक और सांस्कृतिक अवःपतन को और भी तीव्र कर दिया। मेहता और पटवर्धन के मत में "मुसलमानों के साथ सबसे अधिक अन्याय शिक्षा के मामले में किया गया।[4] १८३३ में अरबी और फारसी के स्थान पर अंग्रेजी अदालती भाषा हो गई। इस परिवर्तन से मुसलमानों को बहुत चोट पहुँची। नए स्कूलों और कालिजों में भी परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली को "सब प्रकार की सहायता से वंचित कर दिया गया।" भारतवर्ष में प्राचीन काल से यह रिवाज चला आता था कि यहां के राजा शिक्षा और देश सेवा के लिए कुछ भूमि अनुदान में अवश्य दे देते थे। मि० जेम्स ग्राण्ट, एक लगान-पदाधिकारी, के अनुसार जब अंग्रेजों ने बंगाल का शासन सूत्र सम्हाला,

---

१. कलकत्ते के तत्कालीन पत्र (दुर्बीन फ़ारसी) ने सुन्दरवन के कमिश्नर के कार्यालय में भेदभाव की इस नीति पर आचरण होने का उद्धरण दिया था।

२. नोमन द्वारा उद्धृत—"मुस्लिम इण्डिया" पृ० २१।

३. नोमन—"मुस्लिम इण्डिया" पृ० २२-२३।

४. हंटर—वही पृ० १५६।

५. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० ८७

and claim all your gaze. Two on either side of the arch, each inclining his head a little towards his fellow (with something of the perfunctorily conversational air of stage courtiers making an entrance or an exit), they paw the air delicately, haughtily, with a thoroughbred consciousness of their strength and beauty. They make one feel very small, very common; and even the sun has an anxious, servile look as he burnishes such gilding as remains on their breasts and flanks. You can see they do not consort with the little images around them They keep themselves *to* themselves, as the phrase is. They have no allegiance to S. Mark, and are as magnificently pagan as they were on the day when they left the Grecian workshop where they had been fashioned, to be raised upon the summit of an arch of imperial Rome.

Nero wrote an ode to them. But odes perish, and empires perish; and duly the glorious team entered Constantinople, at the call of Theodosius, and there abode through eight centuries. Enrico Dandolo claimed and took them, first fruits of his victory, for Venice. It is the fate of such beauty as theirs to be 'moved on'—on to the perihelion. Little wonder such creatures as they grown vain, heartless. The sun waxed over the Venetian Republic, and waned; and these horses awaited in the twilight the conqueror, the claimant. He came. They saw him Exquisitely, insolently, they pawed the air, pretending not to see him—the little squat man who, with his hands behind him and his feet planted far apart, stared up at them and, with the air of a millionaire ordering a meal in a noted foreign restaurant, said, 'Je les prends' Up went the scaffolding, and down they came, and over the Alps they went rejoicing, to be the glory of Versailles.

मुसलमान केवल एक ही था।[1] इन्हीं सब कारणों से हिन्दुओं में राजनीतिक चेतना का विकास मुसलमानों की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता से हो गया। संक्षेपतः ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों की अधोगति कर दी। नोमन के शब्दों में "शिक्षा नीति ही बेकारी की वृद्धि और मुसलमानों के लिए अन्याय मार्ग बन्द कर देने को उत्तरदायी थी। सेना में उनकी भरती बहुत ही परिमित थी, कला कौशल के क्षेत्र में उन्हें पंगु और असहाय कर दिया था।"[2]

इस प्रकार मुसलमानों का क्रमबद्ध दमन किया गया, उससे वे ब्रिटिश शासन के प्रति घोर असन्तोष की भावना से आप्लावित हो गए। १८५७ का विद्रोह तो इस असंतोष का प्रकटीकरण था ही परन्तु उसके पूर्व वहाबी आन्दोलन के रूप में भी वह व्यक्त हुआ।

मुस्लिम असन्तोष और वहाबी आन्दोलन—भारतवर्ष में वहाबी आन्दोलन अतः एक धार्मिक आन्दोलन था, यह अरब से प्रेरणा ग्रहण करता था और इसका उद्देश्य इस्लाम का शुद्धीकरण व उसके सत्य और मौलिक सिद्धान्तों की पुनर्प्रतिष्ठा करना था। परन्तु वह एक "प्रोलेटेरियन और क्रान्तिकारी"[3] आन्दोलन भी था। वहाबी नेताओं ने "मुस्लिम जनसंख्या को झकझोर हिला डाला और उत्साह की एक तरंग सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गई।"[4] उन्होंने दलित और निर्धन मुस्लिम जनता के प्रतिरोध को संगठित किया और बंगाल में वे कई कृषक विद्रोहों के लिए उत्तरदायी थे। यद्यपि सरकार ने अपने फौलादी पंजे से इस आन्दोलन का तो दमन कर दिया, परन्तु जिस कटुता और असन्तोष का वहाबी आन्दोलन प्रतीक था उसे सरकार न दबा सकी। वहाबी आन्दोलन को पूरे तरीके से कुचला भी न जा सका था कि वह विद्रोह के विराट विप्लव में निमज्जित हो गया।

विद्रोह और भारतीय मुसलमान—विद्रोह के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है कि "वह भारत में ब्रिटिश शासन के लिए सबसे पहली और सबसे भयंकर चुनौती थी।"[5] सन् सत्तावन के स्वातन्त्र्य समर में मुसलमानों ने प्रमुख भाग लिया। परन्तु यह विद्रोह केवल एक मुस्लिम-विद्रोह ही नहीं था। इसके विपरीत वह "भारतवर्ष की

---

१. वही, पृ० ४५।

२. नोमन—"मुस्लिम इण्डिया," पृ० २६-२७।

३. जी० एन० सिंह—"लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट" पृ० १६७।

४. मेहता और पटवर्धन—"दी कम्यूनल ट्रायंगल इन इण्डिया," पृ० ६५।

५. वही, पृ० ६६।

of the Capitol at Washington. Yes, it is there that they will air themselves—for a while. And afterwards, where? In the midst of some yellow race, maybe. All empires perish. But perhaps our planet will last long enough for some of the dead ones to rise again. Who knows but that in the fullness of time these horses will again be overlooking Rome, their birthplace?

After I had paid my homage to these horses, I would go aside to that little estrade of marble, whose steps are guarded by two lions. For them I had a real fondness They are not large nor beautiful. Nobody seems to know the date of them Nobody, indeed, seems to care Except by small boys, who sometimes ride on their backs and kick them, they are coldly ignored. Napoleon, I wager, hardly paused to glance at them. And what a sigh of relief they must have heaved when he passed them by! For they are very Venetian, these two; Venetian to the core. That is why I used always to visit them after the horses. I felt that they had hearts. They remembered Venice as she was in the zenith of her power, and had watched her decline and fall, but never had faltered in love of her. Generations of small Venetian boys have kicked them heartily, so that their sleek coat of tawny marble has been much worn away, and exists only in patches; the rest of them is a gritty white. At a distance they might be mistaken for Staffordshire ware Yet they never murmur. Most of the other lions in Venice stand high and safe, venerable, on some eminence, and have haloes behind their manes, and spreading wings on their shoulders, and hold between their paws a scroll inscribed with the words of the blessing that Christ gave to Mark, their master. Some of them, even, have Doges kneeling to them in homage, supplicating

दूसरे संघर्ष के निमित्त हिन्दू-मुस्लिम गठबन्धन को सहन नहीं कर सकती थी। क्योंकि सन् ५७ में जब कि और मुसलमान अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध मिलकर लड़े थे, वह इसका मजा देख चुकी थी। इसलिए अब एक नवीन उपाय सोचा गया।

एंग्लो-मुस्लिम सहयोग पर बल—जिन मुसलमानों को अंग्रेज अब तक घृणा की दृष्टि से देखते थे, जिनका दमन करने में उन्होंने कुछ उठा न रखा था, जिनको वे अपना हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक कट्टु शत्रु समझते थे, उन्हीं मुसलमानों के साथ गठबन्धन स्थापित करना अब उन्हें नितान्त आवश्यक प्रतीत होने लगा। राष्ट्रवाद के नए खतरे को दृष्टि में रखते हुए अचानक ही ब्रिटिश नौकरशाही को यह सूझ पड़ा कि उनके हित मुसलमानों के साथ संयुक्त हैं। एंग्लो-मुस्लिम हितों की एक रूपकता और एंग्लो-मुस्लिम सहयोग की महती आवश्यकता पर यह जो बल दिया गया, वह कई प्रमुख उत्साही ब्रिटिश अधिकारियों का कार्य था। इन अधिकारियों में सर विलियम हंटर का नाम शीर्ष-स्थानीय है। उनकी पुस्तक "भारतीय मुसलमान" का १८७१ में प्रकाशन भारतवर्ष में अंग्रेजों की नीति में एक नए मोड़ का पता बताती है।

प्रिंसिपल बेक और सर सय्यद अहमद खाँ का रूपान्तर—वे नेता जिन्होंने मुसलमानों को नैराश्य और अधोगति के अन्धकूप से निकालकर बाहर ला खड़ा किया, सर सय्यद अहमद खाँ थे। वे एक उच्च मुस्लिम घराने में उत्पन्न हुए थे और प्राच्य ज्ञान के अगाध समुद्र थे। वे ब्रिटिश-शासन के न्याय-विभाग में कई ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए थे। ब्रिटिश-शासन के प्रति उनके हृदय में प्रशंसा का भाव था। सर सय्यद अहमद खाँ राजभक्त अवश्य थे, परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक भाग में वे कट्टर राष्ट्रवादी भी थे। विद्रोह के पश्चात् उन्होंने ईसाइयों और मुसलमानों के बीच धार्मिक सामीप्य लाने के लिए अनथक परिश्रम किया। उन्होंने अपने सह-धर्मियों को ब्रिटिश-शासन के प्रति राज-भक्ति का दृष्टिकोण अपनाने और अंग्रेज-शासकों का संरक्षण तथा अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उन्होंने अलीगढ़ आन्दोलन प्रारम्भ किया और मोहमेडन एंग्लो ओरियण्टल कॉलिज की स्थापना की। परन्तु यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि सर सयय्द अहमद खाँ अपनी दृष्टि में "उस राज-भक्ति को रखते थे, जो ब्रिटिश-शासन की घोर पराधीनता से नहीं, अपितु श्रेष्ठ शासन के लाभों की निष्कपट प्रशंसा से उत्पन्न होती है।"[1] वे नौकरशाही नीतियों की कठोर आलोचना करने से नहीं डरते थे और भारतीयों के प्रति ब्रिटिश अधिकारियों के दुर्व्यवहार की कठोर रूप से भर्त्सना करते थे। एक बार उन्होंने घोषणा की "इन अधिकारियों का मत यह है कि कोई

१. जी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत—वही, पृ० १६६।

seen a live imitation lion; and thenceforth, and always on that day and in that place, such lions abounded; and one of them, at least, was there on that day in the year of grace 1906.

Nowhere in Venice is a more Venetian thing than this little, melancholy shabby Campo; this work of so many periods; this garment woven by so many cunning weavers, and worn threadbare, and patched and patched again, and at length discarded. Few people, and they poorest among the poor, live here now. One can hardly imagine that the well-head was ever open, ever gossiped around. Shutters *interpolated in delicate Gothic windows are mouldering* on their hinges; shutters that seem hardly incongruous now that they have been blistered by so many summers, and are so faded and so crazy. Piteous is the expression of gaunt misery on the façade of the church. The old low building that straggles away from beneath the tower and is railed off from the pavement, was once a nunnery, the richest of all the nunneries in Venice. A sentinel stands at its door; and now and again a soldier passes in or out, looking depressed. No children play here. A cat or two may be seen lying about when the sun shines. And the brightlier shines the sun the sadder seems the Campo San Zaccaria, seeming, indeed, to shrink away from the sun's rays, like a woman who has been beautiful, or like a woman who *is ill*.

Yet I think the place would not have thrown such a spell on me in its time of grandeur. Time was when always the greatest servants of the Venetian Republic were laid to rest here. Always on Easter Day the Doge came, in remembrance of a favour done to Venice by the nuns of San Zaccaria. Capped and canopied he came, mightily, with a

न्तर के पीछे ब्रिटिश नौकरशाही का हाथ क्रियाशील था। जिस व्यक्ति ने सर सय्यद ग्रहमद खाँ को राष्ट्रीय ग्रान्दोलन से विमुख करके उन्हें एक पृथक्तावादी ग्रान्दोलन का ग्रग्रदूत बना दिया वे, एम० ए० ग्रो० कॉलिज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल मि० बेक थे।

१८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि कांग्रेस को वायसराय लार्ड डफरिन का ग्रनुमोदन प्राप्त हो गया था ग्रौर उसकी माँगें भी बहुत नरम थी, फिर भी "ब्रिटिश सरकार ग्रौर उसके पिट्ठुग्रों को उनमें विरोध की चेष्टाएँ, घोर ग्रसन्तोष की काना-फूसियाँ ग्रौर निश्चित रूप से नई चुनौतियाँ दिखाई पड़ती थी। जिस बात से उन्हें सबसे ग्रधिक परेशानी हुई, वह माँगों का ग्रधिकार-पत्र नहीं, ग्रपितु वह संगठित, सामुदायिक ख्याल था, जिसकी प्रतीक कांग्रेस थी।"[1]

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति-भार (Counter-weight) के रूप में मुस्लिम-साम्प्रदायिकता का संगठन—ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कांग्रेस ग्रपने लिए एक सम्भावित खतरा जान पड़ती थी। प्रति-तोलन (Counter-poise) के सिद्धान्त पर ग्राचरण करते हुए, उत्साही पदाधिकारियों ने राष्ट्रीय ग्रान्दोलन के प्रति-भार (Counter-weight) के रूप में मुस्लिम-साम्प्रदायिकता का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। "फूट डालो ग्रौर राज्य करो" के इस खेल में सफलता प्राप्त करने के लिए, उन्हें सर सय्यद ग्रहमद खाँ के से प्रभाव ग्रौर प्रतिष्ठा वाले मनुष्य के सहयोग को प्राप्त करने में ग्रपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने सर सय्यद ग्रहमद खाँ को यह विश्वास दिला दिया कि "ग्रंग्रेजों ग्रौर मुसलमानों का गठबन्धन मुसलमानों की दशा को उन्नत करने में सहायक होगा ग्रौर उनका राष्ट्रवादियों से मिलना उन्हें पुनः खेद, श्रम ग्रौर ग्रश्रु में डुबा देगा। फलतः उनके (सर सय्यद ग्रहमद खाँ के) ग्रतुलनीय प्रभाव का उपयोग मुसलमानों को, विशेष रूप से उत्तरी भारत में, कांग्रेस से विमुख रखने में किया गया।"[2] ब्रिटिश ग्रधिकारियों ने सर सय्यद ग्रहमद खाँ के, जो यह कह कर कान भरे कि कांग्रेस तो एक हिन्दू-संस्था है, वह बात बिल्कुल गलत थी। न तो ग्रपने उद्देश्यों ग्रौर ग्रपील ग्रौर न ग्रपनी रचना के ही विचार से, कांग्रेस केवल हिन्दू संस्था के रूप में विकसित हुई। कांग्रेस के प्रथम ग्रधिवेशन में दो ही मुसलमान प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। पुनः दूसरे ग्रधिवेशन में कुल प्रतिनिधियों की संख्या ४४० थी जिनमें ३३ मुसलमान थे। १८९० में कुल प्रतिनिधियों की संख्या ७०२ थी जिनमें ११६

---

१. डी० सेन—"रेवोल्यूशन बाई कासेंट" पृ० १६६-७०।

२. मेहता ग्रौर पटवर्धन—वही पृ० २३।

imagine: the demure, angelic, very small bride, with her downcast eyes; and the rapt, angelic bridegroom, with eyes upturned and lips parted, down on his delicate hands and pied knees, by the well-head; and the whole pretty throng of serried figures around these two. One can imagine the picture, but not, alas! see it. It was stolen from the church of San Zaccaria, and, like the devil who tempted Sebastiano's bride, has never been seen again.

It is a far cry from this century to the fifteenth. But Venice, in the long interval, has stood still. Time and her enemies have been active. It is they who have changed her. She has submitted. But one would say that what has not been taken from her she has quietly kept. In her prime, she sucked the blood of the East, and the draught was sedative. Something of the essential immutability of the East is hers beneath all the changes that Time and her enemies have wrought on her. It seemed to me not so very strange, on Michaelmas morning, to see mimicked in all simple earnestness the action of Sebastiano Morosini.

My Venetian friends had laughed, told me there was no chance of seeing any such thing. But I, with an obstinacy foreign to my nature, rose very early on Michaelmas morning, and went to my beloved Campo. If any bridegroom came, he would not care to have tourist's eye on him. So I posted myself well within the shadow of the arch where the Doge was murdered. . . . A fool's errand it seemed to be, after I had waited half an hour or so, and I (determined to say nothing of the matter to my Venetian friends) was on the point of going away, when through the other gateway, came a small party of peasants, all in their Sunday best. There were six of them—two middle-aged men, two middle aged women, and a young man, and

की आलोचना की। १८८६ में जब भारतवर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन की स्थापना के उद्देश्य से ब्रिटिश पालियामेण्ट में चार्ल्स ब्रेडला का बिल उपस्थित हुआ, उसके विरोध में मि० बेक ने मुसलमानों का संगठन किया। "उन्होंने इस आधार पर कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त का सूत्रपात अनुपयुक्त है, क्योंकि भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं, मुसलमानों की ओर से बिल का विरोध करते हुए एक स्मृति-पत्र तैयार किया।"[1] १८६३ में मुसलमान एंग्लो-ओरिएण्टल रक्षा-परिषद् की स्थापना में भी मि० बेक का बहुत बड़ा हाथ था। मि० बेक स्वयं इस संस्था के सेक्रेटरी बने। इस संस्था का उद्देश्य मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना था। परन्तु यह तो केवल दिखावा-मात्र था। वस्तुतः इस संस्था का वास्तविक उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोकना था। इस कथन की पुष्टि मि० बेक के एक निबन्ध से भी होती है, जो किसी अंग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने लिखा था—"कांग्रेस का उद्देश्य यह है कि देश का राजनीतिक प्रभुत्व अंग्रेजों के हाथों से हिन्दुओं के हाथों में आ जाए। मुसलमान इन माँगों से कोई सहानुभूति नहीं रख सकते"'। मुसलमानों और अंग्रेजों के लिए यह वाञ्छनीय है कि वे इन आन्दोलन-कर्त्ताओं से लड़ने और देश की आवश्यकताओं व परम्पराओं के अनुपयुक्त लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना को रोकने के उद्देश्य से परस्पर संयुक्त हो जाएँ इसलिए हम शासन के प्रति राज-भक्ति और एंग्लो-मुस्लिम-सहयोग का समर्थन करते हैं।"[2]

बंगाल का विभाजन—इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश शासकों की नीति में आमूल परिवर्तन ही हो गया। कहाँ तो उनका वरदहस्त हिन्दुओं के शीश पर था, और मुसलमान उनकी दृष्टि में राजद्रोही थे और कहाँ अब उन्होंने अपना वरदहस्त मुसलमानों के शीश पर रखा और हिन्दू उनकी दृष्टि में राजद्रोही हो गए। बंगाल का विभाजन "देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों के सम-बल" (Counter-Poise of natives against natives) के कार्यक्रम में एक दूसरा कदम था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कर्जन ने शासन-सम्बन्धी सुविधाओं के आधार पर बंगाल विभाजन का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु सत्य तो यह है कि बंगाल-विभाजन के मूल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोदकर राष्ट्रीयता की प्रवाहमान धारा को अवरुद्ध करने की नीति काम कर रही थी।

मुस्लिम शिष्ट-मण्डल और पृथक् निर्वाचन (Separate Electorate) की माँग—१९०६ के अन्त में उग्रवादियों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अब वे इस बात

१. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० ५८-६।
२. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० ६०।

To me there was nothing piteous in that period of Venice's history which we call 'the decadence'—that period of which Ruskin could not trust himself to speak, so great was his sorrow, his horror. To him 'the decadence' was not inevitable: had Venice not given way to 'the sin of pride', had she remained simple and pious, she need not have lost her power. Ruskin felt that had he been alive he might have saved her. And his wrath against her was as vivid as though he had been preaching in S Mark's five centuries or so before the publication of 'The Stones of Venice.' It was the moral fervour in Ruskin that gave such intensity to his noble style. By reason of it he is, just as a writer, worth a hundred or so of merely philosophic gentlemen like you and me. It narrowed him, as a thinker, and put him again and again in the wrong But how gloriously wrong and narrow was he! And, when he was right, how divinely! I wish we were a little like him To us, the merely philosophic, Venice's 'decadence' was a thing that could not have been avoided A great city or nation is like a human being: sooner or later it must decline; no elixir can save it. And on the 'decadence' we can look back quite calmly, appreciating what in it was graceful and delightful

And to me, as I have suggested, the fall of Venice was not in her loss of power, but in her loss of gaiety She seemed to have been most truly accomplishing her destiny in the days when she gave herself over to be 'the masque of Italy' The eighteenth century was for me her perihelion And it was the period that most readily evolved itself. The figures from Carpaccio, from Bellini, would come at call. But the figures from Guardi and Longhi were there uninvited' Cloaked and hooded and masked, there they

ही उनकी मांगों को स्वीकार कर लिया। अपने उत्तर में उन्होंने बलपूर्वक इस बात का समाश्वासन दिया कि मुसलमानों के राजनीतिक हितों की अवश्यमेव रक्षा की जाएगी। उन्होंने गुरुभार की माग को पूर्णतः स्वीकार किया और कहा—"आपका यह दावा न्याययुक्त है कि आपकी स्थिति का मूल्यांकन आपकी संख्या-शक्ति के आधार पर नहीं अपितु आपकी जाति की राजनीतिक महत्ता और उस सेवा के आधार पर, जो उसने साम्राज्य के प्रति की है, होना चाहिए। मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूं।"[1] लार्ड मिण्टो ने यह भी कहा कि "मुझे आपकी भाँति इस बात का पूर्ण विश्वास है कि भारतवर्ष में चलाई गई कोई भी निर्वाचन-प्रणाली उपद्रवात्मक असफलता को प्राप्त होगी, यदि वह इस महाद्वीप की जन-संख्या के विभिन्न वर्गों के विश्वासों और परम्पराओं की

वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने मुझे लिखा है कि हिज एक्सेलेंसी मुस्लिम शिष्ट-मण्डल से भेंट करने के लिए प्रस्तुत हैं। उनकी राय है कि श्रीमान को एक औपचारिक पत्र लिख देना चाहिए जिसमें कि उनसे उनकी सेवा में उपस्थिति होने की आज्ञा मांगी जाए। इस विषय में मैं कतिपय सुझाव उपस्थित करना चाहूँगा। औपचारिक पत्र को मुसलमानों के कतिपय प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों-सहित भेजा जाना चाहिए। शिष्ट-मण्डल में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। तीसरी विचारणीय बात प्रतिवेदन का विषय है। मैं यहां यह सुझाव देना चाहूँगा कि प्रतिवेदन के प्रारम्भ में राजभक्ति का गम्भीर समाश्वासन होना वाछनीय है। स्वशासन की दिशा में एक कदम बढाने के सरकारी निर्णय की प्रशंसा होनी चाहिए। परन्तु अपनी इस आशंका को व्यक्त कर देना चाहिए कि यदि निर्वाचन के सिद्धान्त का सूत्रपात कर दिया जाता है तो वह मुस्लिम अल्प-मत के हितों में बाधक सिद्ध होगा। अत्यन्त विनयपूर्वक यह सुझाव होना चाहिए कि मुस्लिम-लोकमत को जानने के लिए धर्म के आधार पर मनोनयन (*Nomination*) या प्रतिनिधित्व का सूत्रपात होना वाछनीय है। हमें यह भी कह देना चाहिए कि भारत जैसे देश में जमींदारों के मतों को काफी वजन देना आवश्यक है। परन्तु इन सब दृष्टिकोणों में मैं पृष्टभूमि में ही रहूं, इस बात का आप सर्वदा ध्यान रखें। ये आपकी ओर से आने आवश्यक हैं। मैं आपके लिए प्रतिवेदन का प्रारूप तैयार कर सकता हूं या उसका संशोधन कर सकता हूं। यदि यह बम्बई में तैयार किया जाता है, तो उसे मैं पूरा देख सकता हूँ। यह तो आप जानते ही हैं कि इन चीजों को ठीक-ठीक भाषा में कलमबद्ध कर देने का मुझे ज्ञान है। हमारे पास समय थोड़ा है। यदि इस थोड़े से समय में हम एक शक्तिशाली आन्दोलन का संगठन करना चाहते हैं, तो हमें अविलम्ब कार्य करना चाहिए।

१. मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृत—वही, पृ० ६२।

apply it, with an equal sense of having said the correct thing, to the whole of fairy-land. Unreal, certainly, Venice seems But her unreality is as of a dream, not as of any *décor* that could be devised by a showman. Often I felt afraid that I was actually dreaming. You know what it is to awake excited by the consciousness that a profound idea has just passed through your mind. You recapture it, and lo! it's nonsense. Often in Venice I feared just such another disillusion Impalpable Venice! Frail vision! Was I not presently to awake and find that I had been dreaming of—Brighton? the whole delicate network of alleys, all these campi and campanili, would they not anon vanish, with the very archipelago from which they had been conjured, into the water or the air?

I *had* often been assured that Venice was 'quite spoilt now.' And I daresay that for any one revisiting her after the lapse of many years there might be shocks There are steamboats on the Grand Canal. There are cinematograph shows in the Ridotto. There are more factory chimneys than of yore, when you look back from the lagoon Oh, yes; the old friends of Venice find plenty to growl at. And I, twenty years or so hence, shall be growling with the best of them, no doubt, and wondering at the innocent rhapsodies of some newcomer. But he is likelier to be right than I. To one who has known and loved a place in past years, even improvements are offensive. Not that more steamboats and more factory chimneys would be an improvement. I regret, on principle, those which are already there. But I deny that they really matter. Such is Venice's beauty that things ugly in themselves do not stand out the uglier by contrast they are absorbed into

परन्तु अब यह बात अच्छी तरह से ज्ञात है कि इस योजना के जन्मदाता लार्ड मिण्टो ही थे।

एक सहानुभूतिपूर्ण वायसराय से प्रोत्साहन पाने पर मुस्लिम शिष्ट-मण्डल के नेताओं ने ३० दिसम्बर, १६०६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की (भारतीय मुसलमानों के प्रथम साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन की) स्थापना की। इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार लिखित थे—

(१) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति बढ़ाना।

(२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना, और उनकी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को नम्र भाषा में सरकार के आगे रखना और

(३) यथासम्भव, (१) और (२) के अन्तर्गत उल्लिखित उद्देश्य से बिना संघर्ष के मुसलमानों तथा अन्य भारतीय जातियों में मैत्री स्थापित करना।

१६०९ के मार्ले-मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक निर्वाचन अंगीकृत—साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर मुस्लिम लीग का अपने जन्मकाल से ही बहुत हठधर्मी का दृष्टिकोण रहा है। पृथक निर्वाचनों और नौकरियों में ज्यादा हिस्से के लिए १६०८ में मांग की गई और १६०९ में उसको दुहराया गया। लार्ड मार्ले इन मांगों के विरुद्ध थे, उन्हें भी अपने अनुकूल करने के लिए शिष्ट-मण्डल इंगलैण्ड भेजे गए। लार्ड मिण्टो की सक्रिय सहायता के द्वारा इस उद्देश्य में भी सफलता प्राप्त हो गई। राष्ट्रवादी नेताओं ने इस नीति का घोर विरोध किया। रैमजे मैकडॉनल्ड के अनुसार कुछ दूरदर्शी मुसलमान भी इस बात का अनुभव कर रहे थे कि यह कदम गलत दिशा की ओर उठाया गया है। उनमें से बहुतों ने इस योजना की कटु आलोचना की और कहा कि इनके कुछ नेता ब्रिटिश-अधिकारियों के हाथों में कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। परन्तु यह सारा विरोध निरर्थक साबित हुआ। भारत की राष्ट्रीय एकता को भंग करने पर तुले हुए ब्रिटिश अधिकारी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने १६०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट (मार्ले-मिण्टो-सुधार) में पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर भारतीय राजनीति के शरीर में साम्प्रदायिक विष का इन्जेक्शन लगा दिया।

३५. साम्प्रदायिकता के उद्‌भव का सामाजिक-आर्थिक पहलू

प्रारम्भ से ही ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से लड़ाया और इस प्रकार से अपने हित को सुरक्षित रखा। पहले-पहल उन्होंने मुसलमानों के सामन्ती और व्यावसायिक वर्गों की स्थिति को पतनोन्मुखी करने के लिए हिन्दू पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों को अपने कार्य-साधन में प्रयोग किया। उसके बाद जब उन्होंने देखा कि औद्योगिक पूंजीपतियों की उन्नति हो रही है, तो उसे रोकने के लिए

in patches, and with the clear green water lapping and sapping their foundations. See how time has thinned with rust the iron bars of the windows, and with dust has thickened the cobwebs! Soon it will be hard to know which are the bars, which the cobwebs. . . . I think it must have been there, in *this* palace, that lived that strange couple, the Misses Bordereau. Perhaps the younger Miss Bordereau is still living, still there. No, there can only be ghosts behind those shutters. See, on the walls yonder, that faint blur of colours—yellow and purple. Can it ever have been a fresco? It can never have been lovelier. And yonder, see how blithely, among all this decay, the vine renews its youth! But who will pluck the grapes? Ghosts do not eat grapes.

Musing in some such wise, I would turn away from the parapet, and from the contemplation of sunlit death, and pass over into the shadows where life was. They are ravines, these alleys. The blue strip far overhead might be an awning, so very faint is the light down here. Coming straight from the sunshine, one can hardly see, and is apt to collide with the inhabitants. '*Piano, Signore,*' said an aged pedlar with whom I had clumsily collided. 'Who are you a shoving of?' is of course what he ought to have said, and would have said had he received the advantage of an English education. But they are a quiet, soft-speaking lot, these poor Venetians. Even when they quarrel—a thing which they seem to do often, and with great intensity—it is a greater lesson in good manners than a breach of good manners to stand and watch them. Neither of the two parties to the quarrel raises his voice; and neither interrupts the other: each takes his turn at reviling and listening. With the utmost velocity and variety of gesture

ही भारतीय राजनीति की इस जटिल समस्या का समाधान नहीं हो जाता। साम्प्रदायिकता केवल एक राजनीतिक संघटना ही नहीं है, यह एक सामाजिक संघटना भी है। अंग्रेजों को एक संयुक्त राष्ट्रीय चेतना के विकास को अवरुद्ध करने के अपने प्रयत्नों में, भारत के सामाजिक-आर्थिक-जीवन के कतिपय तत्वों से भी सहायता मिली।

हिन्दुओं और मुसलमानों के विकास में भेदभाव—यह एक तथ्य है कि ब्रिटिश शासनान्तर्गत प्रशासन, व्यवसाय, वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों से आगे बढ़ गए थे। यद्यपि यह हुआ दोनों जातियों की अपनी-अपनी नीति के ही कारण कोई किसी के निकट दोषी नहीं था—परन्तु अंग्रेजों ने इस चीज से लाभ उठाकर, मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होने से रोकने की चेष्टा की। सर सय्यद अहमद खाँ ने धूर्त नौकरशाही के मोहक संगीत को सुना और यह विश्वास कर लिया कि मुस्लिम जाति का हित कांग्रेस के साथ मिलकर विदेशी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में नहीं, अपितु ब्रिटिश सरकार की कृपा कोर प्राप्त करने में है। आत्मरक्षा की भावना ने मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार द्वारा भीख में डाले गए रोटी के टुकड़ों को लेने की ओर प्रेरित किया। सर सय्यद अहमद खाँ ने अपने अनुयायियों से कहा--"सेना में हमें ऊँचे पद मिलें, सरकार हमारी इस माँग की ओर अवश्य ध्यान देगी। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हम ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे कि सरकार को हमारी राज-भक्ति में किसी प्रकार का भी सन्देह हो।"

उग्र राष्ट्रीयता और हिन्दू विचारधारा पर बल——१९वीं शताब्दी के अन्त में कांग्रेस के अन्तर्गत जिस उग्रवादी पक्ष ने बहुत अधिक जोर पकड़ा, वह भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच की भेदभाव की खाड़ी को चौड़ा करने में सहायक सिद्ध हुआ। तिलक, पाल, अरविन्द घोष और लाजपतराय आदि उग्रवादी नेता केवल प्रखर देशभक्त ही न थे, वे कट्टर हिन्दू भी थे। दयानन्द और विवेकानन्द की शिक्षाओं का उन पर व्यापक प्रभाव पड़ा था, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म के गौरव का बखान करते उनकी वाणी न थकती थी। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू परम्पराओं के ऊपर इस प्रकार से बल देना मुसलमानों के लिए रुचिकर नहीं था। यही कारण है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत कुछ शंका की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने सोचा कि ब्रिटिश शासन को नष्ट कर देने का अभिप्राय हिन्दुओं के शासन की स्थापना करना है। यह सत्य है कि उग्रवादियों का कोई संकुचित साम्प्रदायिक लक्ष्य नहीं था, परन्तु ब्रिटिश नौकरशाही को राष्ट्रीय आन्दोलन का मिथ्या रीति से वर्णन करने में क्या कठिनाई हो सकती थी, जब कि ऐसा करने से उनका अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो? उन्होंने मुसलमानों के खूब कान भरे। उन्होंने कहा राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य हिन्दुओं की सर्वोच्चता की प्रतिष्ठापना करना है। कुछ तो मुसलमानों को स्वतः ही शंका थी,

Subjection, oriental subjection, is the note of these women. The men are orientally predominant. They carry them selves with a certain grave pride, in impressive contrast with the grave meekness of the women.

I do not say that these Venetians seem less happy than the people one sees in the streets of London. Indeed, despite the fact that they are not, as their ancestors were, rulers of the sea, disporting themselves in the centre of a tremendous and soul stirring empire, they seem to contrive somehow to look happier than we, who are so much in the movement. Often, passing through the streets of London, I have wondered what on earth the inhabitants would look like if they had no longer the thought of their pre-eminence to sustain them. Perhaps individual happiness is rather a matter of climate than of collective renown The Venetians are despised by the rest of Italy as a feckless people. They have no industries Some glass is made in Murano, some lace is made in Burano, but in Venice itself nothing is made, and no one seems to know what the factory chimneys are there for. The Venetians get a little out of the foreigners, and, for the rest, take in one another's washing, and trust to S. Mark. 'Parasiti' they are called by the rest of Italy. Yet they seem to respect themselves, and, in their way, in these quiet, dark, very clean alleys, seem to be rather an enviable than a despicable race. I took always great pleasure in passing among them, and then out again into a sudden burst of sunshine, and some new enchantment, and across another bridge, into the shadows of other alleys, or into the yet deeper, cooler shadows of San this or Santa that

Venice plays havoc with one's sense of time, and I know not at all how many days of enchanted dawdling I had

के विभिन्न प्रान्तों से आए ३५ मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल अक्टूबर, १९०६ में वायसराय से मिला और उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की कड़ी माँग की जिसको कि वायसराय लार्ड मिण्टो ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड मार्ले इस नीति के विरुद्ध थे, वे संयुक्त निर्वाचनों और कुछ रक्षित स्थानों के पक्ष में थे, परन्तु लार्ड मिण्टो ने उन्हें अपनी बात पर राजी कर लिया। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (स्थापित १९०६) ने पृथक्तावादी माँग को चालू रखा और कांग्रेस व कई दूरदर्शी मुसलमानों के विरोध के बावजूद भी, १९०९ के मार्ले-मिण्टो सुधारों के अन्तर्गत, साम्प्रदायिक निर्वाचनों को भारत के ऊपर लागू कर दिया गया।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता के उद्भव के लिए मुख्यतः अंग्रेजों की ही "फूट डालो और शासन करो" की नीति उत्तरदायी थी। तथापि यह भी स्मर्तव्य है कि अंग्रेजों को इस नीति में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका बहुत कुछ कारण ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत दोनों जातियों, हिन्दुओं और मुसलमानों का विषम विकास भी है। इससे मुसलमानों के हृदय में आत्म-रक्षा की भावना जागृत हुई। ब्रिटिश शासकों ने मुसलमानों की इस भावना का लाभ उठाकर उन्हें राष्ट्रवाद के विरुद्ध ला खड़ा कर दिया। इसके अलावा कांग्रेस में जिस उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ और जिसके नेता तिलक, विपिन चन्द्रपाल और लाजपतराय थे, वह भी राष्ट्रीय आन्दोलन से मुसलमानों को विमुख करने में सहायक हुआ। उक्त उग्रवादी नेता कट्टर हिन्दू थे और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति के गौरव का बखान करते न थकते थे। मुसलमानों ने समझा कि राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। अंग्रेजों ने उनके खूब कान भरे और उन्हें बहकाया कि एंग्लो-मुस्लिम हित परस्पर एकरूप है और इसलिए वे राष्ट्रवादियों के विरुद्ध है।

the romantic Venetian, a part of the magical land seascape, and they to me were ordinary English tourists, coming to Venice for the first time, with that in their eyes which had gone from mine Yes, I would go away to morrow morning I would go to Padua And next morning I went

When I emerged from the railway station of Padua, I was confronted by three very strange and terrible monsters with gaping jaws I let my luggage be thrown, as a sop, to one of them, but I refused to be swallowed personally They were but hotel omnibuses But I had forgotten, in Venice, that such things existed I had forgotten what it felt like to drive I would rather walk

The way to the town was along a wide road with tram lines through a flat and barren landscape The road seemed to 'give' alarmingly at every step, so accustomed was I now to treading on marble

What was that tall, square brown building yonder? A factory, I supposed But why that large hole through it, from the ground upwards? And why did the building stand in the middle of the road? Because, as I presently realised, it was a gateway Whenever in the future I should look out from the window of a railway carriage on my way from London to the country, I should be able to imagine that the factories clustered near the line were Romanesque gateways, not hives of human drudgery

I passed quickly on What was this? Another gate way? No, *this must* be a factory No it was a church How oppressive it was, this vast, square surface of unfaced bricks, this sad thing that had stood for centuries unfinished, this amorphous, dead bulk! I passed quickly on Coming to a bridge, I paused, from force of habit, to gaze down

इससे भी आगे बढ़ गई। उसमें न केवल जातियों के ही लिए, अपितु बिरादरियों और व्यवसायों के लिए भी पृथक् प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया। लार्ड मिण्टो स्वयं भी कांग्रेस के विरुद्ध एक उपयुक्त प्रतिभार (Counter weight) की तलाश में थे। अपने २८ मई, १९०६ के पत्र में उन्होंने लार्ड मार्ले को लिखा था, "कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध एक प्रतिभार के विषय में मैं कुछ समय से काफी सोच में रहा हूँ। मेरा विचार है कि एक राज परिषद् अथवा एक प्रिवी कौंसिल में, जिसमें न केवल देशी नरेश ही, अपितु कुछ और बड़े लोग भी सम्मिलित हों व जिसकी बैठक साल भर में एक बार, एक सप्ताह या पन्द्रह दिन के लिए दिल्ली में हुआ करे, हम इस समस्या का समाधान पा सकते हैं।"[1] तथापि राज-परिषद् के विचार ने उस समय मूर्तरूप धारण नहीं किया। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं लार्ड मिण्टो कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध इससे (राज-परिषद् से) कहीं अधिक शक्तिशाली प्रतिभार का निर्माण करने में सफल हुए। यह थी मुस्लिम साम्प्रदायिकता। १९०९ के सुधारों ने इस विष-बीज के सम्वर्द्धनार्थ पृथक निर्वाचनों और प्रतिनिधित्व में गुरुभार के रूप में अच्छी-खासी खुराक दी। संक्षेपत: इन सुधारों से ब्रिटिश सरकार के दो उद्देश्य सिद्ध हुए। एक ओर तो इन्होंने उदारवादियों से मेल करके उग्रवादियों को दबाने की चेष्टा की। दूसरी ओर इन्होंने मुस्लिम पृथक्तावाद को दृढ़ करके भारत वर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

३७. १९०९ के एक्ट के मुख्य उपबन्ध

१९०९ का इण्डियन कौंसिल्स एक्ट, जो कि कतिपय लेखकों की सम्मति में, भारतीय प्रशासन के इतिहास में एक सीमा-चिह्न था,[2] १८९२ के एक्ट से प्रथम कुछ आगे बढ़ा हुआ था। "इस एक्ट के आधीन कौंसिलों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई, प्रश्नोत्तर के अधिकार को बढ़ाया गया और सदस्यों को बजटों के ऊपर प्रस्ताव उपस्थित करने की अनुमति मिल गई। प्रान्तों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया।"[3] नीचे इन बातों पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

---

१. लेडी मिण्टो—"इण्डिया, मिण्टो एण्ड मार्ले" पृ० २८-२९।

२. एम० आर० पालन्दे—"इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन" पृ० ३३।

३. सी० वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पालिटिक्स सिंस दी म्युटिनी" पृ० ५६।

the Via Otto Febbraio. A strange setting for an old jewel —this street of big blatant shops with plate-glass windows! (In Venice all the shops had been so tiny, so modest.) My eye was caught by a break in these shops, and by what I took to be a small music-hall. It looked new and prosperous. I might go there this evening. . . . It was the university.

I turned down a side-street, under an arcade. All the side-streets seemed to be arcaded; and yes, they were picturesque; but how heavy, how coarse, in comparison with—no; it was not fair to make that comparison. I quoted to myself the last two lines of 'Venezia,' an emotional sonnet which I had once read in an American magazine:

> Let other cities with each other vie,
> Venezia is *sui generis*

But you remember the little boy who was taken for a while to live with the fairies, and how hard and how vainly, when he came home again, he tried to forget them. I, too, had lived with the fairies.

I tried to kill time. But time is a hydra. For every quarter of an-hour that you kill, up crop several others. Would the sun never set? Would dinner-time never come?

I dined, at length, in a garish restaurant, with horrible *art-nouveau* figures of the months frescoed on the ceiling (twelve months in Padua!), and I bitterly thought of the morrow. The waiter advised me to visit the Teatro Garibaldi. There was a new piece by Signor Borsetti. I was in a mood to clutch at straws.

The curtain had not yet risen. But there was a preliminary

थे। बजट पर वाद-विवाद के अधिकार को कई प्रतिबन्धों के भीतर रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि (केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में) सैनिक, राजनीतिक और प्रान्तीय विषयों को वाद-विवाद की परिधि से बाहर ही रखा गया। राजस्व के शीर्षकान्तर्गत टिकट, आगम शुल्क, निर्धारित कर और अदालतें, तथा व्ययके शीर्षकान्तर्गत प्रति-भाजना और क्षतिपूर्ति, कर्ज पर ब्याज, धार्मिक व्यय और राज्य की रेलों आदि पर वाद-विवाद न किया जा सकता था।

(ख) सार्वजनिक हित के मामलों पर प्रस्ताव— व्यवस्थापिका-सभाओं को सार्वजनिक हित के मामलों पर प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार दिया गया। परन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव को उपस्थित करने के अधिकार का होना न होना बराबर ही था। यदि ये प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा में पास हो जाते तब भी उनका लागू किया जाना अवश्यम्भावी न था। उन्हें केवल सिफारिश ही समझा जा सकता था। इसके अलावा, यदि अध्यक्ष समझता कि अमुक प्रस्ताव सार्वजनिक हित के अनुकूल नहीं पड़ता, तो वह उसे रोक सकता था।

(ग) प्रश्न और पूरक प्रश्न—१८९२ के एक्ट में प्रश्न करने का अधिकार स्वीकार कर लिया था। मार्ले-मिण्टो-सुधारों ने व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का और अधिकार देकर उक्त अधिकार में वृद्धि कर दी। यदि किसी सदस्य को अपने मौलिक प्रश्न के उत्तर से सन्तोष न होता तो वह पूरक प्रश्न करके उत्तर के स्पष्टीकरण की माँग कर सकता था। तथापि सम्बद्ध कार्यकारिणी परिषद् को इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। अध्यक्ष को भी यह अधिकार था कि वह प्रश्नों को रोक दे।

कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति—१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट के अनुसार भारतवासी सबसे पहली बार इण्डिया कौंसिल और गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य नियुक्त किए जाने लगे। भारतवर्ष में नौकरशाही ने, इस सुधार का घोर विरोध किया। परन्तु लार्ड मिण्टो ने इस सुधार को दो कारणों से स्वीकार कर लिया। एक कारण तो सुधार के अस्वीकृत किए जाने पर भारतवर्ष में तीव्र आन्दोलन के सूत्रपात हो जाने का भय था। दूसरा कारण यह था कि ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल ने इसे सर्वसम्मति से पास किया था। उसके दबाव के कारण भी लार्ड मिण्टो ने इस सुधार को स्वीकार कर लेना ही उचित समझा। फलतः एस. पी० सिन्हा को (बाद में लार्ड सिन्हा) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद् का विधि सदस्य नियुक्त किया गया। दो वर्ष पूर्व अगस्त, १९०७ में दो भारतीयों को[१] भारत मन्त्री की कौंसिल का

१. इनमें से एक हिन्दू (के० जी० गुप्त) और दूसरे मुसलमान (सय्यद हुसैन बिलग्रामी) थे।

I laughed aloud to myself, remembering my solemn academic theory about the dangers of sufficiency. I laughed to think that I had solemnly acted on this theory—prig and fool that I had been! Well, I had come to my senses. I could afford to laugh now. But why *wouldn't* the train go faster?

At last we were crossing the lagoon. And presently I was quit of the railway station, and out on the canal. There were scarves of clouds across the moon, and Venice looked more than ever visionary in that faint twilight. I felt not as though I had come to her in her sleep, but as though she, a vision, had come to me in mine; as though she, not I, were the 'revenant.' Was I truly awake? Yes, it was Venice that was sleeping. And '*Piano, gondoliere,*' I said. '*Lentamente . . . Piano . . .*'

रोक सकता था। व्यवस्थापिका-सभाएँ प्रस्ताव पास कर सकती थीं परन्तु उनका लागू किया जाना बिल्कुल आवश्यक नहीं। सरकार यदि चाहती तो उन्हें ताक पर रख सकती थी। व्यवस्थापिका सभाएँ बजट पर वाद-विवाद कर सकती थी, परन्तु केन्द्रीय सरकारों या प्रान्तीय सरकारों की एक रुपए की भी आय या व्यय उनके नियन्त्रण में नहीं थी।"[1]

गैर-सरकारी बहुमत प्रभाव-शून्य था—सरकार को कानून पास करने के लिए व्यवस्थापिका सभा के अनुमोदन की आवश्यकता होती थी, परन्तु इस प्रकार का अनुमोदन प्राप्त करने में सरकार को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़ता था सरकारी और मनोनीत गैर सरकारी सदस्यों में किसी प्रकार की फूट नहीं हो सकती थी। वे हमेशा सरकार का साथ देते थे अतएव कार्यरूप में व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों का उतना प्रभाव न हो सका, जितनी की नरम नेताओं को आशा थी। इस विषय में सन् १९१० में स्वर्गीय गोखले ने भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था—"माई लार्ड, हम लोग इस बात से भलीभाँति परिचित है कि जब सरकार किसी विषय में अपना रास्ता निश्चित कर लेती है, तो गैर सरकारी सदस्य चाहे कुछ ही क्यों न कहें, वह अपने रास्ते से जरा भी नहीं हटती।"

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचन—मार्ले-मिण्टो सुधार का सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होंने साम्प्रदायिक-निर्वाचन को जन्म दिया। कालान्तर में इस विष-बेल ने भारतीय राजनीति के क्षेत्र में अत्यन्त विनाशकारी कार्य किया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "हिन्दुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालने वाली चीज थी। भविष्य में मुसलमान सिर्फ पृथक् मुसलमान-निर्वाचन क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिन्दुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिल कर एक हो जाने की वह प्रतिक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो वैधानिक प्रगति से लाजिमी तौर पर तेज हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू में छोटी-सी थी क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित था लेकिन जैसे-जैसे मताधिकार बढ़ता गया, यह दीवार बढ़ती गई और उसने सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह असर पड़ा, मानो सारे ढांचे में घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल और स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं में जहर फैला और आखिर में बेहद गलत ढंग का विभाजन हुआ। काफी बाद पृथक् मुस्लिम श्रमिक संघों, विद्यार्थी संघों और व्यापार मण्डलों की स्थापना

१. पामन्दे—"इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन", पृ० ३४।

THE SPIRIT OF CARICATURE

1901

Last night, very vividly, I dreamed a most preposterous dream.

On the pillowed verge of sleep, I had been propounding to myself an old vexatious question: Why is true caricature so rare and so unpopular in England? The delicious art of exaggerating, without fear or favour, the peculiarities of this or that human body, for the mere sake of exaggeration—why can it not be naturalised among us? A certain Italian artist did, indeed, in the late 'sixties, come and try to force it on us. Awhile, from him, we had true caricatures We did not take kindly to them We thought them offensive and 'not like.' The pressure of our English atmosphere gradually overbore that temerarious alien. Before the close of the 'seventies he had begun to draw caricatures of a mild and gentlemanly kind, suitable to the susceptibilities of a mild and gentlemanly nation. He was succeeded by one who frankly eschews the art of caricature, to the gratification of every one, and does always a charming portrait, with a playful touch adventured here and there if his sitter be not very eminent, nor very ugly, nor of noble birth There are others—men of wit, accomplished draughtsmen—who design symbolical cartoons or make rough sketches with the purpose of ridiculing the members of one or other of the two great political parties. In them caricature comes of a moral impulse. It is not the sheer

नमस्कार कर देता।"[१] लार्ड मार्ले की दृष्टि में यह तर्क कि चूंकि कनाडा में भी स्व-शासन की स्थापना लाभकर हुई है, अतः वह भारतवर्ष में भी लाभकर होगी, कोई अर्थ नहीं रखता था। वे ऐसे तर्क को बिल्कुल बेहूदा और खतरनाक बताते थे। उनका मत था कि यह तर्क तो करीब-करीब ऐसा ही है जैसे कि यदि जाड़े में कनाडा में फर-कोट की आवश्यकता हो, तो कोई कह दे कि दक्षिण भारत में भी उसकी आवश्यकता होगी। इस प्रकार हम देखते है कि १८६१ में भारतवासियों को शासन कार्य में सम्मिलित करने की जिस नीति का श्रीगणेश किया था, १९०९ का एक्ट उसमें किंचित विस्तार-मात्र ही था। इस एक्ट के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने अपनी ऐसी कोई चेष्टा प्रकट नहीं की, जिससे पता चलता हो कि वह भारतवासियों को अपना शासन आप करने का, स्वभाग्य-निर्णय का थोड़ा-सा भी अधिकार प्रदान करना चाहती है। इसके विपरीत इस एक्ट ने तो ब्रिटिश-सरकार के इसी इरादे को सूचित किया कि वह समस्त प्रतिगामी और अधिष्ठित स्वार्थों को अपनी ओर करके, उनकी मदद से, राष्ट्रीयता की शक्तियों का हनन करना चाहती है।

सारांश

१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट (मार्ले-मिण्टो-सुधार) का निर्माण लाल-बाल-पाल के उग्रवाद के विकास और आतंकवादी और से उत्पन्न भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से हुआ था। इन सुधारों को पास करने में सरकार का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस के नरम नेताओं को खुश कर दिया जाय, और साम्प्रदायिकता की भावना को दृढ़ करके उग्रवाद और आतंकवाद की राष्ट्रीय शक्तियों को कुचल दिया जाय। उदारवादी नेताओं की धारणा थी कि इन सुधारों के द्वारा कौंसिलों में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ जायगी। प्रारम्भ में तो इन सुधारों का नरम नेताओं ने सहर्ष स्वागत किया, परन्तु कुछ ही काल के उपरान्त यह हर्ष विषाद में बदल गया। इस एक्ट ने मुसलमानों, जमींदारों, उद्योगपतियों और व्यापारियों के लिए पृथक् निर्वाचनों की सृष्टि की। इस प्रकार सुधारों ने एक हाथ से जो चीज दी, दूसरे हाथ से वही ले ली।

नए एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओं के आकार और कार्य-क्षेत्रों में वृद्धि कर दी। १९०९ के एक्ट ने १८९२ के एक्ट में निहित अप्रत्यक्ष चुनावों का अन्त कर दिया और प्रत्यक्ष चुनावों की परिपाटी को जन्म दिया। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत स्थापित किया गया। १९०९ के एक्ट के अनुसार

१. कूपलैण्ड द्वारा उद्धृत—"दी इण्डियन प्रॉब्लेम; १८३३-१९३५" पृ० २६।

with a view to my acceptance of the post. And here, sure enough, was the grey-bearded deputation approaching me. With the horrible impotence of the dream-stricken, I was unable to run away. Vainly I strove to warn them off. Vainly I was arguing with them. I was pointing out to them that Pellegrini was a great executant, that my own technique was so vague as to disqualify me for the honour thrust upon me. They replied that only the *spirit* of the caricaturist was essential, and that only in my work did it burn. Blushing, I demonstrated that the creative artist was the last person who should be employed as teacher. Able to do the trick himself, he had no pathetic desire to see it done by others. 'That's how it's done!'—the smiling conjuror's formula—was all he could vouchsafe. He had no enthusiasm for teaching. The sterile lovers of an art, they were the proper teachers of it. They wanted to see the trick done, and would see that it was done. 'Besides,' I added, 'they alone know *how* it can be done. The creative artist works by instinct. he knows not how, by what mystic secret of soul and hand, his work evolves itself. He does not care to know He has no theories. He can formulate no rules. The conjuror could, if he would, lay bare his processes, but the artist, never. The only people who can show how to do things are the people who cannot do them' 'No doubt,' said the spokesman, 'but it is our national custom to appoint as teachers the artists who have done things. It inspires confidence. False confidence, no doubt; but still confidence.' 'Then,' I cried, 'our system of art schools is a sham; and I, for one, will not fatten on it.' 'It is a wholesome sham,' was the answer. 'The aim of our art schools is not (we admit this in confidence) to produce artists. Artists can be

प्रथम महायुद्ध के बीच भारतीय राजनीति

३६ भारतीय राजनीतिक जीवन का शान्त स्वर

भारतीय राजनीति का शान्तिकाल—मार्ले-मिण्टो-सुधारों के उद्घाटन और तिलक तथा एनी बेसेण्ट द्वारा प्रवर्तित होम रूल आन्दोलन के बीच के वर्षों में भारतीय राजनीतिक जीवन का ज्वार उतार पर था। इसका कारण यह नहीं था कि 'सुधारों' ने भारतवर्ष में लोकतन्त्रात्मक शासन का सूत्रपात कर दिया हो और यहाँ के देश-भक्तों को सन्तोष हो गया हो। असली बात यह है कि नौकरशाही तो इस समय भी पहले की तरह बलवान थी और इन सुधारों के अधीन जिन परिषदों का निर्माण हुआ था, वे भी वाद-विवाद क्लबों से अधिक महत्व नहीं रखती थीं। जनता के वे निर्वाचित प्रतिनिधि, जो कि इन परिषदों में पहुँचते थे, अब भी अपनी असहायता की भावना का निवारण न कर पाते थे, वे सरकार की आलोचना कर सकते थे, परन्तु उसे नियन्त्रित नहीं कर सकते थे उनका विरोध निष्फल और निर्बल था। कूपलैण्ड का कथन है कि बहुधा गैर सरकारी दबाव कार्यकारिणी के कार्यों को प्रभावित करता था, परन्तु इस बात को वह भी स्वीकार करता है कि 'बहुधा का अभिप्राय सदैव नहीं है' और 'प्रभाव को शासन नहीं कहा जा सकता।'

राजनीतिक क्षेत्र से उग्रवादियों का तिरोहण—इस युग की भारतीय राजनीति में जो निष्प्राणता-सी आ गई थी, उसका मुख्य कारण यह है कि सूरत-विच्छेद (१९०७) के पश्चात् कांग्रेस की बागडोर पूरे तरीके से नरम दल वालों के हाथ में आ गई थी। तिलक माण्डले में निर्वासित कैदी का जीवन बिता रहे थे। बंगाल के बहुत-से उग्रवादियों को देश-निकाले की सजा दे दी गई थी। अरविन्द घोष ने राज-नीतिक जीवन से सन्यास ग्रहण कर लिया था और अब वे पाण्डीचेरी में योग-साधन कर रहे थे। उग्रवादी नेताओं की अनुपस्थिति में कांग्रेस अपने वैधानिकवाद के पुराने ढर्रे पर चल पड़ी थी। इस काल में कांग्रेस का नेतृत्व गोखले, मेहता, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, पं०मदनमोहन मालवीय और तेज बहादुर सप्रू जैसे उदार राष्ट्रवादियों के हाथों में था। यद्यपि वे मार्ले-मिण्टो-सुधारों की दुर्बलताओं से अवगत थे, साम्प्रदायिक निर्वाचनों का उन्होंने खुलकर विरोध किया था, उन्हें लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता, दोनों

about the futility of tuition by a creative person is really quite true. However, their reply (that the public loved such tuition) was equally true. So I need ask no one's pardon.

As people do sometimes make passionate demands for a thing without knowing at all what it is, I was not going to assume that my pupils knew the nature of true caricature. I was going to start with my definition: the art of exaggerating, without fear or favour, the peculiarities of this or that human body, for the mere sake of exaggeration I was, then, going to deal with the two reasons for the unpopularity of such portraits—(*a*) the impression that they imply in their maker irreverence and cruelty, (*b*) the impression that they bear little or no resemblance to their originals. The second impression can hardly be cured It is the result of inherent lack of imagination Caricature, as I shall demonstrate anon, demands acute imagination from its beholders. The first impression may be gently argued away. A well-known art critic once chid me in print because I '*never hesitated to make a good man ridiculous*' Why should I? Caricature implies no moral judgment on its subject. It eschews any kind of symbolism, tells no story, deals with no matter but the personal appearance of its subject. Therefore, the caricaturist, though he may feel the deepest reverence for the man whom he is drawing, will not make him one jot less ridiculous than he has made another man whom he despises. To make the latter ridiculous gives him no moral pleasure. why should it give him any moral pain to make ridiculous the former? He imports into his vision of the former nothing which is not there: why should he subtract any *thing from his vision of the latter? He portrays each*

पण्डाल में प्रवेश किया, तब सम्पूर्ण सभा ने खड़े होकर उनका जयकार किया। सभा की कार्यवाही रोक दी गई और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति कांग्रेस की राजभक्ति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया।

तथापि कांग्रेस ने ब्रिटिश-सरकार की अपर्याप्त सुधार देने की नीति का विरोध बन्द नहीं किया। भारत की राजनीतिक प्रगति के प्रति ब्रिटिश सरकार जिस उपेक्षा-वृत्ति से काम ले रही थी कांग्रेस ने उसकी निरन्तर कठोर आलोचना की। कांग्रेस ने स्वभाविक रूप से १९११ के भारत सरकार-पत्रक का स्वागत किया। इस पत्रक में प्रान्तीय क्षेत्र में स्व-शासन के शनैः शनैः विस्तार करने की सिफारिश की गई थी। कांग्रेस ने इस सिफारिश का निर्वचन इस प्रकार किया कि प्रान्तीय सरकारों के ऊपर न केवल केन्द्र का नियन्त्रण कम होना चाहिए, वरन् प्रान्तीय परिषदों का नियन्त्रण बढ़ना चाहिए। स्पष्ट है कि कांग्रेस ने अब उत्तरदायी शासन की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दिया था यद्यपि गोखले यह कहने के लिए तैयार थे कि उत्तरदायी शासन की प्राप्त करने की मंजिल बहुत लम्बी और भारवाही होगी।"[1] परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि इस दिशा में पग उठाने के लिए यह उचित समय है। १९१३ में कांग्रेस ने यह माँग की कि भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में गैर सरकारी सदस्यों का और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। उसने इस बात पर बल दिया कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों का "कार्यकारिणी शासन के ऊपर प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए।"[2]

४० होमरूल-आन्दोलन

श्रीमती बीसेण्ट—१९१४ में भारतीय राजनीतिक जीवन ने पुनः करवट बदली। अब तक भारतीय राजनीतिक जीवन सरकार की "दमन और सुधार की दुहरी नीति"[3] के कारण जो निस्पद और निष्प्राण पड़ा हुआ था, अब पुनः अँगड़ाई लेकर उठ बैठा। १९१४ में तिलक अपने कारावास से छुटकारा पाकर स्वदेश वापस आ गए। इस समय उनकी लोकप्रियता का कुछ ठिकाना नहीं था, वे भारतीय जन जीवन के हृय-हार बने हुए थे। उन्होंने तुरन्त ही नेशनलिस्ट पार्टी का पुनर्गठन करके उग्रवादियों में नव-प्राण फूंकना प्रारम्भ कर दिया।

---

१. कूपलैण्ड—"दी इण्डियन प्राब्लेम" पृ० ४५।

२. श्रीनिवास शास्त्री—"सैल्फ गवर्नमेण्ट फॉर इण्डियन अण्डर दी ब्रिटिश फ्लैग" उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत पृ० ४५।

३. जी० एन० सिंह—वही, पृ० २६३।

If the sight of Pellegrini's Disraeli satisfied our hostility towards Disraeli himself, we should forgive him all Indeed, does nothing of the kind happen? This theory of purgation has a dangerous charm for me. I have often been tempted to attribute the Romans' decline in faith to the fair statues of gods and goddesses imported from Greece by victorious generals. The extraordinary preponderance of ugly men among those who have shaped the world's history—may it not be due to the chance they gave to the contemporary caricaturists? No no; let me be sensible. Caricature never has had moral influence of any kind.

The 'chances' given by ugliness! Do not misunderstand this phrase Do not mistake me to mean that there is any such thing as a 'good subject' or a 'bad subject' for caricature. There are obvious subjects and devious subjects. A short man is a more obvious subject than a tall man, for shortness is held to be in itself ridiculous, and thus the uninspired caricaturist will prefer to draw short men. Most caricaturists, being uninspired, have followed this line of less resistance; and thus has arisen the foolish convention of a head invariably bigger than its body. By the man in the street caricature would probably be defined as the art of putting a big head upon a little body. Indeed, so strong is the convention that it affected even Pellegrini, Daumier, and other masters. To you, thoughtful reader, I need hardly point out that in a caricature of a tall man the head ought to be not magnified but diminished The big head convention would be all very well if caricature were no more than μίμησις τῶν φαυλοτέρων But the true art of caricature is much more than that The master of it never discriminates his sub-

में श्रीमती बीसेण्ट को कांग्रेस संविधान में ऐसा संशोधन पास करवाने में, जिससे कि तिलक और उनके अनुयायी पुनः संस्था में आ सकें, सफलता प्राप्त हुई। १९१६ में कांग्रेस के दोनों दलों में पुनरैक्य स्थापित हो गया।

तिलक और बीसेण्ट का सहयोग व कांग्रेस द्वारा आन्दोलन का अनुमोदन— एनीबीसेण्ट ने पहली सितम्बर, १९१६ को मद्रास में अखिल भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की। इसके छः मास पूर्व तिलक महाराष्ट्र होमरूल लीग की स्थापना कर चुके थे। इसका केन्द्र पूना था। तिलक ने एनीबीसेण्ट को पूरा सहयोग दिया और दोनों नेताओं ने अपने सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कन्धे-से-कन्धा मिलाकर कार्य किया। दिसम्बर, १९१६ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने सुधारों की एक सामान्य योजना को ग्रहण किया। उन्होंने अपनी योजना को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिए होमरूल लीग के उपयोग करने का निश्चय किया।[1] तिलक और एनी बीसेण्ट ने इस आदर्श के लिए अनथक गति से कार्य किया।

होमरूल आन्दोलन के उद्देश्य—होमरूल आन्दोलन के प्रवर्तकों ने अपने आन्दोलन को, उसके उद्देश्यों और आदर्शों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए अपूर्व उत्साह और प्रेरणा से कार्य किया। एनी बीसेण्ट के दैनिक पत्र "न्यू इण्डिया" और साप्ताहिक पत्र "कामन वील" ने इस दिशा में विशेष सेवा की। होमरूल लीग ने बड़े धड़ाके के साथ काम किया। श्रीमती बीसेण्ट ने सारे देश का 'तूफानी' दौरा किया और अपने जोरदार भाषणों से जनता के अन्दर एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी। वे भारतवर्ष को उसकी युग-युग व्यापी निद्रा से जगाना चाहती थी। "मैं भारत में वैतालिक का कार्य कर रही हूँ" उन्होंने घोषणा की "और सोने वालों को जगा रही हूँ ताकि वे उठ बैठें और अपनी मातृभूमि के लिए कार्य कर सकें।" तिलक के पत्रों, दैनिक 'केसरी' और साप्ताहिक 'मराठा' ने भी महाराष्ट्र में उठकर प्रचार कार्य किया।

होमरूल आन्दोलन एक वैधानिक संघर्ष था। जिस समय यह चल रहा था, उस समय महायुद्ध जारी था, और भारत सुरक्षा अध्यादेश भी क्रियाशील थे। आन्दोलन का यह उद्देश्य नहीं था कि सरकार को खामख्वाह परेशान किया जाए अथवा उसके युद्ध प्रयत्नों में बाधा डाली जाए। सच तो यह है कि एनीबीसेण्ट और तिलक दोनों ने ही भारतीयों को इस बात का परामर्श दिया था कि वे जर्मनी के खिलाफ सरकार की यथासम्भव सहायता करें, परन्तु उन्होंने इस बात पर भी निरन्तर बल दिया कि स्वशासित भारत साम्राज्यवाद के लिए अधिक सहायक हो सकेगा। एनीबीसेण्ट ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की शत्रु नहीं थीं। उस समय उग्रदल क्रान्तिपथ की

१. जी० एन० सिंह—वही, पृ० २६५।

perfect caricature (be it of a handsome man or a hideous or an insipid) must be an exaggeration of the whole creature, from top to toe Whatsoever is salient must be magnified, whatsoever is subordinate must be propor tionately diminished The whole man must be melted down, as in a crucible, and then, as from the solution, be fashioned anew He must emerge with not one particle of himself lost, yet with not a particle of himself as it was before And not only must every line and curve of him have been tampered with the fashion of his clothes must have been re cut to fit them perfectly His complexion, too, and the colour of his hair must have been changed, scientifically, for the worse And he will stand there wholly *transformed, the joy of his creator, the joy of those who* are privy to the art of caricature By the uninitiated he will not be recognised Caricature, being so drastic in *its methods, demands in its beholders a keen faculty of* imagination, as I have said

The perfect caricature is not a mere snapshot It is the outcome of study, it is the epitome of its subject s surface, the presentment (once and for all) of his most characteristic pose, gesture, expression Therefore I should not advise any young caricaturist (however quickly perceptive) to rely on one sight of his subject On the other hand, let him not make too long a delay, inasmuch as too great familiarity blunts impressions There is another golden rule, which, if he be worth anything at all, he will know without being told it *he must never draw 'from the model'* While he looks at the model, he is bound by the realities of it He sees everything as it is He cannot *suborn his pencil to magnify or diminish the proportions,* to add or abate one jot In fact, he cannot begin to carica

नाम की प्रेरणा आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता-संग्राम से प्राप्त हुई थी।

नौकरशाही का दमनचक्र और एनीबीसेण्ट की नजरबन्दी—१९१७ में होमरूल आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया। यद्यपि यह आन्दोलन विशुद्धतः वैधानिक था और उसके नेताओं ने इस आन्दोलन को व्यापक बनाने में शान्तिपूर्ण उपायों का ही अवलम्बन किया, परन्तु फिर भी इसके प्राणवान् प्रचार-संघर्ष ने जनता के बीच एक नूतन हलचल पैदा कर दी। सरकार इससे घबरा उठी और उसके आन्दोलन को कुचल डालने का निश्चय किया। तिलक और एनीबीसेंण्ट के कार्य-कलापों के ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १९१६ में तिलक से कहा गया कि वे साल भर तक बिलकुल शान्त रहें। उनको कुछ भारी जमानतें जमा करने का भी आदेश दिया गया। परन्तु बाद में जब तिलक की ओर से हाईकोर्ट में अपील की गई, तब इस आदेश को वापस ले लिया गया। होमरूल-प्रचार को रोकने के लिए दमनमूलक प्रेस एक्ट का खुलकर प्रयोग किया गया। श्रीमती बीसेंण्ट से, जिनका 'न्यू इण्डिया' नामक दैनिक और 'कामन-वील' नामक साप्ताहिक पत्र, होमरूल आन्दोलन का खूब धड़ल्ले से प्रचार कर रहा था, प्रेस और पत्र के लिए २०,०००) की जमानत माँगी गई और वह जब्त भी कर ली गई। परन्तु इन दमनकार्यों से आन्दोलन दबा नहीं, वह और प्रचण्ड हुआ। १९१७ के प्रारम्भ में लार्ड पेण्टलैण्ड की सरकार ने "सरकारी आज्ञापत्र न० ५४६ के अनुसार विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया।" होमरूल की सभाओं में उपस्थित होना उनके लिए वर्जित कर दिया गया।"[१] सरकार का दमनचक्र उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया जबकि तिलक को पंजाब और दिल्ली में प्रवेश करने की मनाही कर दी गई और श्रीमती बीसेण्ट को उनके दो घनिष्ट सहयोगी जी० एस० एरेण्डेल और बी० पी० वाडिया सहित नजरबन्द कर दिया गया। सरकार ने तो समझा कि श्रीमती बीसेंण्ट की गिरफ्तारी से होमरूल आन्दोलन ठण्डा पड़ जाएगा, परन्तु नतीजा इसका बिलकुल उल्टा हुआ। इसने "देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक विरोध और रोष का तूफान खड़ा कर दिया। सारे देश में श्रीमती बीसेण्ट की नजरबन्दी के विरोध में सभाएं हुई। वे राष्ट्रीय नेता जो कि अब तक होमरूल आन्दोलन से अलग रहे थे, होमरूल लीग के सदस्य हो गए और उन्होंने उसमें उत्तरदायी पदों को सम्हाला।[२] एनी बीसेण्ट के छुटकारे के लिए सारे देश में प्रचण्ड आन्दोलन हुआ। तिलक ने सत्याग्रह तक प्रारम्भ करने का प्रस्ताव किया। परन्तु घटनाचक्र बड़ी तेजी से घूमता

१. जी० एन० सिंह—वही पृ० २१६।
२. जी० एन० सिंह—वही पृ० २१६।

surface, with the simplest means, most accurately exaggerates, to the highest point, the peculiarities of a human being, at his most characteristic moment, in the most beautiful manner.

Looking back at what I have written, I do really think that my inaugural address to those phantom students might have been illuminative. I am almost sorry that I have materialised it in this essay. So much knack of exposition and ratiocination as it betrays inclines me to doubt whether my creative power in caricature can be quite so strong as I had supposed. However. . .

भारतीय मुसलमानों के बीच ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ उत्पन्न कीं। ये भावनाएँ युद्ध के बीच और भी प्रबल हो गई जबकि टर्की ब्रिटेन और उसके मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ा। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—'अन्तिम बची हुई मुस्लिम शक्ति के समाप्त हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था, उनके विश्वास का मुख्य आधार डॉवाडोल हो रहा था।"[1] ब्रिटेन इस्लाम के शत्रु के रूप में प्रकट हुआ और उसने देशभक्त मुस्लिम-मस्तिष्कों को उत्तेजित करना प्रारम्भ कर दिया। एक और कारण जिसने कि साम्प्रदायिकता को रोका और भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस के नजदीक ला दिया, यह था कि कांग्रेस के प्रति सरकारी रुख में परिवर्तन हो गया। यद्यपि मॉर्ले-मिण्टो-सुधारों में कतिपय दोष थे, फिर भी कांग्रेस उन्हें कार्यान्वित करने की यथाशक्ति चेष्टा कर रही थी। नए गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग का कांग्रेस के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण था लार्ड हार्डिंग की मेल-जोल की नीति का फल यह हुआ कि मुस्लिम पृथक्‌तावाद में पहले का-सा जोर नहीं रहा और वह धीमा पड़ गया। इसके अलावा १९११ में बंग-भंग को रद्द कर दिया गया। इसने मुसलमानों के ऊपर बहुत असर डाला। सरकार ने बंग-भंग को रद्द करने का निर्णय करने से पूर्व मुसलमानों से परामर्श तक भी नहीं किया, फलतः वे अत्यन्त रुष्ट हुए, अंग्रेजों की नेकनीयती में उनका जो विश्वास था, उसकी जड़ें हिल गईं। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि मुसलमान भी राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीक हो गए।

नए नेताओं का प्रभाव—अबुल कलाम आजाद—मुस्लिम राष्ट्रवाद के उत्कर्ष का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण अबुल कलाम आजाद, अली-बन्धुओं, मोहम्मद अली जिन्ना, डा० अन्सारी और हकीम अजमल खां जैसे नए नेताओं का प्रभाव था। अबुल कलाम आजाद उस समय नवयुवक ही थे। उनकी गम्भीर विद्वत्ता और भारत से बाहर की इस्लामी दुनिया के ज्ञान की सर्वत्र धाक जमी हुई थी। "उन लड़ाइयों ने जिनसे टर्की घिर गया था, उनकी गहरी रुचि और सहानुभूति को उत्तेजित किया। फिर भी उनका रास्ता पुराने मुस्लिम नेताओं के रास्ते से भिन्न था। उनके व्यापक और बुद्धिगत दृष्टिकोण ने उन्हें पुराने नेताओं के सामन्ती, संकुचित धार्मिक व पृथक्‌वादी दृष्टिकोण से अलग रखा और उन्हें सिर से पैर तक भारतीय राष्ट्रवादी बना दिया था।"[2] १९१२ में अबुल कलाम आजाद ने उर्दू साप्ताहिक 'अल-हिलाल' को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। इस पत्र का जीवन संक्षिप्त परन्तु 'ऐतिहासिक' रहा। जबसे मुस्लिम लीग आरम्भ हुई, अबुल कलाम आजाद उसके सदस्य थे। मुस्लिम लीग

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" पृ० २८६।
२. जवाहरलाल नेहरू—"दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" पृ० २८६।

स्वराज्य को अपना ध्येय घोषित कर दिया। इस समय आगा खाँ मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। वे लीग की राष्ट्रवादी विचारधारा को पसंद नहीं करते थे। १९१५ में उन्होंने लीग की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। मुस्लिम लीग की बागडोर मोहम्मद अली जिन्ना के हाथों में आ गई।

मौलाना शिबली मोहानी—मौलाना शिबली मोहानी उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे और सर सय्यद खाँ के सहयोगी रह चुके थे। बाद में सर सय्यद अहमद खाँ साम्प्रदायिकता की ओर झुक गए और उन्होंने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखने की चेष्टा की। मौलाना शिबली मोहानी को सर सय्यद अहमद खाँ की यह नीति बिलकुल पसन्द नहीं आई। उन्होंने इसकी कठोर आलोचना की। वे कहा करते थे कि मुसलमानों को राष्ट्रीयता की मुख्य धारा से पृथक् रखने के लिए नौकरशाही ने सर सय्यद अहमद खाँ के नाम का अनुचित उपयोग किया है। भारतीय मुसलमानों के बीच राजनीतिक जागृति का विकास करने के लिए उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीय महायज्ञ में जो आहुति दी, उसके कारण भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में उनका नाम सदैव अमर रहेगा।

लीग-कांग्रेस सहयोग की ओर—उदार कांग्रेस नेताओं ने मुस्लिम लीग की इस नई प्रवृत्ति का हार्दिक स्वागत किया। १९१३ के अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने लीग के स्वराज्य के नूतन ध्येय की मुक्तकंठ से सराहना की। इस्लामी विश्व के प्रति अपनी सद्भावना का परिचय देने के लिए कांग्रेस ने टर्की और फारस की स्थिति के सम्बन्ध में गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। अब यह प्रतीत होने लगा था कि भविष्य में कांग्रेस और लीग मिल-जुल कर कार्य करेंगी और सामान्य राजनीतिक लक्ष्य को हस्तगत करने के लिए डटकर संघर्ष करेंगी। १९१४ के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रभाव संलक्ष्य था। इस अधिवेशन में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सद्भाव कायम रखने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। "हिन्दू-मुस्लिम एकता के बढ़ते हुए चिह्नों को देखकर आंग्ल-भारतीय समाचार-पत्र घबरा उठे।"[१] परन्तु यह श्रेष्ठ कार्य रुका नहीं, बराबर चलता रहा और राष्ट्रवादी नेता इस बात के लिए निरन्तर प्राणपण से चेष्टा करते रहे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता दिन दूनी रात चौगुनी बढ़े और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलकर सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की ओर शक्तिशाली पग उठाएँ तथा एक ऐसे महान् भारत का

१. एनी बीसेंण्ट ने एक आंग्ल-भारतीय समाचार-पत्र के निम्न लेख को उद्धृत किया है—"ये लोग दोनों जातियों को क्यों एक करना चाहते हैं, यदि यह उन्हें एक करना शासन के विरुद्ध नहीं है?" "हॉउ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम, पृ० ५३१।"

and he had all the modern schools of France at his finger tips. He was a good Latin scholar, too, though ill-health had curtailed his schooldays, and he had practically had to teach himself all that he knew. His conversation had always the charm of scholarship. Though not less modest than are most young men, he had strong opinions on most subjects, and he expressed himself with clear precision, and with wit. But he had not the physical strength which is necessary to the really great or inspiring talker. With him, there was always the painful sense of effort. I remember an afternoon I spent with him, at his house in Cambridge Street, soon after *The Yellow Book* was started. He was in great form, and showed even more than his usual wit and animation, as he paced up and down the room, talking, with all his odd, abrupt gestures, about one thing and another, about everything under the sun. I am a very good listener, and I enjoyed myself very much. Next day I heard that his mother and his sister and a doctor had been sitting up with him till daybreak. He had been seized, soon after I had left, with a terribly violent attack of hæmorrhage, and it had been thought, more than once, that he could not live through the night. I remember, also, very clearly, a supper at which Beardsley was present. After the supper we sat up rather late. He was the life and soul of the party, till, quite suddenly, almost in the middle of a sentence, he fell fast asleep in his chair. He had overstrained his vitality, and it had all left him. I can see him now, as he sat there with his head sunk on his breast: the thin face, white as the gardenia in his coat, and the prominent, harshly cut features; the hair, that always covered his whole forehead in a fringe and was of so curious a colour—a kind of tortoiseshell; the narrow,

भारतीय राष्ट्रवाद की एक बहुत बड़ी विजय कहा गया है।"[1] परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं है। यह ठीक है कि लखनऊ-पैक्ट हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था। वह इस बात का द्योतक था कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस साथ-साथ मिल कर स्व-शासन के लक्ष्य की ओर एक ठोस कदम उठाएँगी। एक आवाज के साथ कांग्रेस और लीग ने यह मांग की कि "साम्राज्य के पुनर्गठन में भारतवर्ष को पराधीनता की वेदी से ऊपर उठाया जाकर आत्म-शासित उपनिवेशों की भाँति साम्राज्य के कामों में बराबर का हिस्सेदार बनाया जाय।"[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक ऊँची सफलता थी, परन्तु कांग्रेस ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग को स्वीकार करके राष्ट्रीयता की बहुमूल्य आहुति दी। बंगाल और पंजाब में मुसलमान बहुमत में थे। वहाँ उनके लिए ४०% और ५२% स्थान स्वीकार किए गए। इसके विपरीत जिन प्रान्तों में मुसलमानों का अल्पमत था, वहाँ भी उनके साथ विशेष रियायत की गई, उन्हें बहुत अच्छा प्रतिनिधित्व दिया गया। यू०पी० में मुसलमानों की जनसंख्या १४% ही थी, परन्तु उन्हें ३०% स्थान दिए गए। मद्रास में उनकी जनसंख्या केवल ६.२५% थी परन्तु उन्हें १५% स्थान दिए गए। जहाँ तक केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का सम्बन्ध है, निर्वाचित स्थानों का एक तिहाई भाग पृथक् मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए नियत रखा गया। स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग ने काफी मँहगे मूल्य पर सौदा किया था। यह ठीक है कि मुसलमानों को साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान देने का अधिकार छोड़ना पड़ा। मार्ले-मिण्टो सुधारों के अधीन उन्हें यह लाभ प्राप्त था। परन्तु इसका और भी बुरा परिणाम हुआ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद की दीवार बराबर ऊँची उठती गई। इस प्रकार पृथक् निर्वाचनों तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करने व मुसलमानों के लिए दूसरे मत के उत्सर्ग को प्राप्त करने में कांग्रेस ने "परिणामों का किंचिन्मात्र भी विचार न करते हुए कार्य किया।[3] कांग्रेस ने मुसलमानों को जो रियायतें दी, ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मोन्टफोर्ड सुधारों का आधार बना लिया। परन्तु लखनऊ पैक्ट में भारत के लिए स्वशासित डोमीनियनों की तरह जिस प्रस्थिति की माँग की गई थी उसकी ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसके अलावा पैक्ट में जहाँ यह कहा गया था कि व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत होना चाहिए, वहाँ इस बात की कोई व्यवस्था नहीं थी कि कार्यकारिणी को इन बहुमतों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

---

१. उपर्युक्त पुस्तक पृ० ५०।
२. पैक्ट की प्रस्तावना—"कांग्रेस इन इवोल्यूशन" पृ० १३-१८
३. गैंट—"एन इण्डियन कमेंट्री" पृ० १७६।

unknown artists were reproduced. One was a large head of Mantegna, by Philip Broughton; the other, a pastel-study of a Frenchwoman, by Albert Foschter. Both the drawings had rather a success with the reviewers, one of whom advised Beardsley 'to study and profit by the sound and scholarly draughtsmanship of which Mr. Philip Broughton furnishes another example in his familiar manner.' Beardsley, who had made both the drawings and invented both the signatures, was greatly amused and delighted.

Meanwhile, Beardsley's acknowledged drawings pro duced a large crop of imitators, both here and in America. Imitators are the plague to which every original artist is exposed. They inflict the wounds which, in other days, the critics were able to inflict. With the enormous increase of the Press and the wide employment of ignorant and stupid writers, bad criticism has become so general that criticism itself has lost its sting, and the time when an artist could be 'snuffed out by an article' is altogether bygone. Nowadays, it is only through his imitators that an artist can be made to suffer. He sees his power vulgarised and distorted by a hundred apes. Beardsley's *Yellow Book* manner was bound to allure incompetent draughtsmen. It *looked* so simple and so easy—a few blots and random curves, and there you were. Needless to say, the results were appalling. But Beardsley was always, in many ways, developing and modifying his method, and so was always ahead of his apish retinue. His imitators never got so far as to attempt his later manner, the manner of his *Rape of the Lock*, for to do that would have required more patience and more knowledge of sheer drawing than they could possibly afford. Such a design as the 'Coiffing' which

रही है।"[1] आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को प्रख्यापित किया गया और लायड जार्ज ने घोषणा की कि उसे "ट्रोपिकल देशों में भी लागू किया जाएगा।" उनके पूर्ववर्ती लार्ड एस्क्विथ ने घोषणा की थी कि भविष्य में भारतीय समस्या को "एक नए दृष्टिकोण से देखना पड़ेगा।" भारतीयों ने इन घोषणाओं को बिलकुल निष्कपट भाव से ग्रहण किया, उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि युद्ध का अन्त होने पर भारतवर्ष में वैधानिक उन्नति के एक नूतन युग की सृष्टि होगी।

लार्ड चेम्सफोर्ड और सुधार-योजनाएँ—१९१६ में लार्ड चेम्सफोर्ड भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल बन कर आए। उन्होंने पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद ही यह घोषणा की कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतवर्ष में स्व-शासन की स्थापना करना है। दुर्भाग्यवश, वे अपने आई० सी० एस० सलाहकारों के हाथों में थे और उनकी कार्यकारिणी-परिषद् ने जिस सुधार-योजना को तैयार किया, "उसकी प्रत्येक पंक्ति के ऊपर 'भीरुता' शब्द लिखा हुआ था।" इस समय भारतीय राजनीतिज्ञ भी ऐसी योजनाएँ तैयार करने में व्यस्त थे जिनके अनुसार कि भारतवर्ष को एक सारभूत मात्रा में स्व-शासन प्राप्त हो सके। इन योजनाओं में एक योजना '१९' का आवेदन-पत्र था।"[2] इस योजना को साम्राज्यीय व्यवस्थापिका सभा के भारतीय सदस्यों ने तैयार किया था।

नाइन्टीन मेमोरेन्डम—'१९' के आवेदन पत्र के ऊपर जिन सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे, उनमें, प० मदन मोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना और तेज बहादुर सप्रू भी सम्मिलित थे। दूसरी बातों के साथ-ही-साथ आवेदन-पत्र में इस बात का भी प्रस्ताव किया गया था कि प्रान्तीय और साम्राज्यीय सभी कार्यकारिणी-परिषदों में आधी संख्या भारतीय सदस्यों की होनी चाहिए, भारतवर्ष की सभी व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित प्रतिनिधियों का सारभूत बहुमत होना चाहिए, जनता के मतदान के अधिकार को विस्तृत कर देना चाहिए, अल्पसंख्यक वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए, भारत मन्त्री की परिषद् को समाप्त कर देना चाहिए, प्रान्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता की स्थापना होनी चाहिए, और भारतवर्ष को स्थानीय स्व-

---

१. कूपलैंड—"दी इण्डियन प्राब्लेम, १८३३-१९३५" पृ० ५२।

२. टिप्पणी—१९१५ में एक सुधार-योजना मद्रास के गवर्नर लार्ड विलिंगडन के आदेशानुसार गोखले ने तैयार की थी। यह प्रलेख जो कि गोखले के राजनीतिक 'टेस्टामेंट' के नाम से प्रख्यात हुआ, अगस्त, १९१७ में प्रकाशित किया गया। इसका मुख्य ध्येय यह था कि प्रान्तीय सरकारों को स्वायत्तता प्राप्त हो और वे केन्द्रीय नियंत्रण से स्वतन्त्र हों। इस योजना में कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व के प्रश्न को नहीं लिया गया था।

bodily sufferings he underwent. Almost to the very last he was full of fresh schemes for work. When, at length, he knew that his life could but outlast a few more days, he awaited death with perfect resignation. He died last month, at Mentone, in the presence of his mother and his sister.

Thus ended this brief, tragic, brilliant life. It had been filled with a larger measure of sweet and bitter experience than is given to most men who die in their old age. Aubrey Beardsley was famous in his youth, and to be famous in one's youth has been called the most gracious gift that the gods can bestow. And, unless I am mistaken, he enjoyed his fame, and was proud of it, though, as a great artist who had a sense of humour, he was perhaps, a little ashamed of it too, now and then. For the rest, was he happy in his life? I do not know. In a fashion, I think he was. He knew that his life must be short, and so he lived and loved every hour of it with a kind of jealous intensity. He had that absolute power of 'living in the moment' which is given only to the doomed man—that kind of self-conscious happiness, the delight in still clinging to the thing whose worth you have only realised through the knowledge that it will soon be taken from you. For him, as for the schoolboy whose holidays are near their close, every hour—every minute, even—had its value. His drawing, his compositions in prose and in verse, his reading—these things were not enough to satisfy his strenuous demands on life He was himself an accomplished musician, he was a great frequenter of concerts, and seldom, when he was in London, did he miss a 'Wagner night' at Covent Garden. He loved dining out, and, in fact, gaiety of any kind. His restlessness was, I suppose, one of the symptoms

भागों में बांट दिया जाए, अर्थात् अरक्षित विभाग तो कार्यकारिणी परिषदों के हाथों में रहें और वे केवल गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी हों। इसके विपरीत हस्तान्तरित विभाग जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में हों और वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। ड्यूक आवेदन-पत्र और राउण्ड टेबिल ग्रुप की सिफारिशें ही मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना की मूलमन्त्र बनीं और १९१९ का भारतीय-शासन सम्बन्धी एक्ट भी मुख्यतः इन्हीं के ऊपर आधारित था।

भारत-मन्त्री के पद पर मांटेग्यू की नियुक्ति—प्रथम महायुद्ध के जमाने में मैसोपोटामिया में युद्ध का प्रबन्ध अच्छा नहीं रहा था। इस सम्बन्ध में इंग्लैण्ड की लोक-सभा में एक बहुत जोरदार बहस हुई। बहस में मि० मांटेग्यू ने मि० आस्टिन चैम्बर लैन को, जो कि भारत मन्त्री थे, बुरी तरह आड़े हाथों इसलिए लिया कि मैसोपोटामिया में सामग्री तथा सिपाही न पहुंचने के फलस्वरूप ही यह गड़बड़ी हुई थी। इसी के परिणामस्वरूप मि० चैम्बर लैन ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर मि० मांटेग्यू भारत मन्त्री नियुक्त हुए। मि० मांटेग्यू १९१२ में भारत आ चुके थे और यहां उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उन्हें भारत का सच्चा शुभाकांक्षी समझा जाता था। भारतवर्ष के प्रति मि० मांटेग्यू के हृदय में अगाध सहानुभूति थी। मि० मांटेग्यू का भारत मन्त्री बना दिया जाना भारतवर्ष ने अपनी एक बहुत बड़ी विजय समझी।" मि० मांटेग्यू का कथन था कि हमें भारतवर्ष पर वहां की जनता की सहमति से शासन करना चाहिए। स्वभावतः ऐसे राजनीतिज्ञ की भारत मन्त्री के पद पर नियुक्ति होने से भारतीयों के हृदयों में ऊँची-ऊँची आशाएं जागृत हो गईं।

२० अगस्त, १९१७ की घोषणा—भारत मन्त्री के पद का कार्य-भार सम्हालने के कुछ ही समय बाद २० अगस्त, १९१७ को मन्त्रि-मण्डल की ओर से, मि० मांटेग्यू ने निम्नलिखित घोषणा की—"सम्राट् सरकार की यह नीति है, और उसमें भारत सरकार पूर्णतः सहमत है, कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन-प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो, जिसमें कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्व-शासन-प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में रहे। उन्होंने यह तय कर लिया है कि इस दिशा में, जितना शीघ्र हो ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढ़ाया जाए।" घोषणा में यह भी कहा गया था "इस नीति में प्रगति क्रमशः ही अर्थात् सीढ़ी-दर-सीढ़ी होगी। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ही जिनके ऊपर कि भारतीयों के हित और उन्नति का भार है, इस बात की निर्णायक होंगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिए।"

मि० मांटेग्यू की भारत-यात्रा—२० अगस्त, १९१७ की घोषणा का भारतवर्ष

bodily sufferings he underwent. Almost to the very last he was full of fresh schemes for work. When, at length, he knew that his life could but outlast a few more days, he awaited death with perfect resignation. He died last month, at Mentone, in the presence of his mother and his sister.

Thus ended this brief, tragic, brilliant life. It had been filled with a larger measure of sweet and bitter experience than is given to most men who die in their old age. Aubrey Beardsley was famous in his youth, and to be famous in one's youth has been called the most gracious gift that the gods can bestow. And, unless I am mistaken, he enjoyed his fame, and was proud of it, though, as a great artist who had a sense of humour, he was perhaps, a little ashamed of it too, now and then. For the rest, was he happy in his life? I do not know. In a fashion, I think he was. He knew that his life must be short, and so he lived and loved every hour of it with a kind of jealous intensity. He had that absolute power of 'living in the moment' which is given only to the doomed man—that kind of self conscious happiness, the delight in still clinging to the thing whose worth you have only realised through the knowledge that it will soon be taken from you For him, as for the schoolboy whose holidays are near their close, every hour—every minute, even—had its value His drawing, his compositions in prose and in verse, his reading —these things were not enough to satisfy his strenuous demands on life He was himself an accomplished musician, he was a great frequenter of concerts, and seldom, when he was in London, did he miss a 'Wagner night' at Covent Garden. He loved dining out, and, in fact, gaiety of any kind His restlessness was, I suppose, one of the symptoms

था।[1] परन्तु फिर भी उसने साम्प्रदायिक निर्वाचनों को न केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखा, अपितु सिक्खों के ऊपर भी उन्हें लागू करने की सिफारिश की। उसमें प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के प्रयोग को करने की सिफारिश की गई, परन्तु जनता के प्रतिनिधियों को पूर्ण उत्तरदायित्व देने से इनकार कर दिया। उसने द्वैध शासन प्रणाली की पुनः स्थापना का प्रस्ताव किया। जहाँ तक केन्द्र का सम्बन्ध है, प्रतिवेदन में कार्यकारिणी को पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रखने की आवश्यकता पर बल दिया, परन्तु उसने इस बात की सिफारिश की कि व्यवस्थापक-मण्डल के दो सदन होने चाहिएँ और दोनों ही सदनों में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत होना चाहिए। प्रतिगामियों की शक्तियों को और दृढ़ करने के उद्देश्य से एक नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। यद्यपि कांग्रेस-लीग-योजना की साम्प्रदायिक-सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया और उन्हें बढ़ा भी दिया गया था परन्तु सारी योजना को बहुत अधिक क्रान्तिकारी बताया गया।

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड-प्रतिवेदन के प्रकाशन ने भारतीय जनमत को गहरा धक्का पहुँचाया। युद्धकाल में भारतीय नेताओं ने जिन बड़ी-बड़ी आशाओं को पाल रखा था, वे सब ढह गईं। थोड़े से उदारवादियों और आंग्ल-भारतीयों को छोड़कर शेष सभी ने उसकी एक स्वर से निन्दा की। मुस्लिम-लीग तक ने उसका विरोध किया और कांग्रेस-लीग-योजना का पुनः अनुमोदन किया। एनी बीसेण्ट ने अपने पत्र "न्यू इण्डिया" में लिखा कि यह योजना देना इंगलैण्ड के लिए अशोभन और भारतवर्ष के लिए इसका स्वीकार करना अपमानजनक था।"

सारांश

मार्ले-मिण्टो सुधारों के तुरन्त बाद ही जो युग प्रारम्भ हुआ, वह भारतीय राजनीति के उतार का समय था। उग्रवादियों को राजनीतिक क्षेत्र से लगभग बहिष्कृत-सा ही कर दिया गया था, फलतः वह शान्ति का समय था। नए गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने कांग्रेस के प्रति, जो कि मार्ले-मिण्टो सुधारों को क्रियान्वित

१. "पन्थों तथा वर्गों द्वारा विभाजन का अभिप्राय ऐसे राजनीतिक गुटों की सृष्टि करना है जो कि एक दूसरे के विरुद्ध हों। यह मनुष्यों को नागरिकों के रूप में नहीं, पक्षभागियों के रूप में विचार करना सिखाता है। बहुधा ब्रिटिश सरकार पर दोषारोप किया जाता है कि उसने आदमियों पर शासन करने के लिए उनमें फूट डाल दी है। परन्तु यदि वह अनावश्यक रूप से उनमें उस समय फूट डालती है, जब कि उसका इरादा उन्हें स्व-शासन के पथ का पथिक बनाना होता है, उसे दम्भी तथा अदूरदर्शी के दोषारोप का सामना करना कठिन मालूम पड़ेगा। मोटफोर्ड रिपोर्ट।

भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट.

४३. मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के मूलमन्त्र

प्रस्तावना—भारतीय सवैधानिक सुधारों के ऊपर माटेग्यू-चेम्सफोर्ड-प्रतिवेदन ८ जुलाई, १९११ को प्रकाशित हुआ था। इस प्रतिवेदन की सिफारशें १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट में संसक्त कर ली गई। इस एक्ट को ब्रिटिश संसद ने १८ दिसम्बर, १९१९ को पारित किया और पाँच दिन पश्चात् सम्राट् ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। एक्ट की प्रस्तावना में १९१७ की घोषणा के सारांश को दुहराया गया था।

मूलभूत सिद्धान्त- मॉटफोर्ड प्रतिवेदन ने, जो कि नूतन सविधान-एक्ट का आधार बना, घोषणा में कही हुई नीति को कार्यान्वित करने के लिए चार मूलभूत सिद्धान्तों को निर्धारित किया। वे सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) "जहाँ तक हो सके स्थानिक संस्थाओं में जनता का पूर्ण अधिकार हो। उनका नियन्त्रण उसी के द्वारा हो और बाह्य नियन्त्रण से उनको अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो", (२) प्रान्तीय सरकारों को सत्ता का विदान और प्रान्तों मे आंशिक उत्तरदायित्व का सूत्रपात, (३) भारत सरकार की ब्रिटिश-संसद के प्रति अनवरत उत्तरदायिता परन्तु केन्द्रीय विधान-मण्डलों का, जिन्हें कि शासन पर प्रभाव डालने का अधिक अवसर दिया जाए, विस्तार, (४) गृह सरकार के नियन्त्रण का शिथिलीकरण। भारतवर्ष के सवैधानिक ढांचे में, नूतन एक्ट द्वारा जो परिवर्तन किए गए, उनके आधार ये ही मूलभूत सिद्धान्त थे।

मुख्य विशेषताएँ—(१) गृह-सरकार के नियन्त्रण का शिथिलीकरण—सबसे पहली बात तो यह है कि सुधार-एक्ट का उद्देश्य भारतीय मामलों में गृह-सरकार के नियन्त्रण को शिथिल करना था, परन्तु उसने भारत-मन्त्री के अधिकारों में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नहीं किया। इस सम्बन्ध में केवल यह पवित्र आशा व्यक्त की गई थी कि उचित अभिसमयों की वृद्धि के साथ-ही-साथ यह शिथिलीकरण अपने आप सम्पन्न हो जाएगा।

(२) **केन्द्रीय कार्यपालिका को अनुत्तरदायी रखा गया परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका को उसे प्रभावित करने के लिए अधिक अधिकार दे दिए गए**—दूसरी बात यह

TOMMY

Come! I can't be left to rake all this in! (*Persuasively*) Lady Amersham!

LADY A. (*after a slight tremor*)

Two cards, Tommy.

[*Takes the two cards, utters a little cry of relief.* TOMMY *looks at his own cards.*]

TOMMY

H'm, I'll stay as I am.

DUCHESS

What cards he has! (*Looks fondly at him.*)

TOMMY

Yes, it's too bad to ask you all here, and then . . .

LADY A. (*pushing forward her counters*)

I stake my all!

TOMMY (*with a shrug of the shoulders*)

Sorry. Raise you a fiver. Can't help it.

LADY A. (*holding out her hand to her husband*)

Two fivers, Jack.

[LORD AMERSHAM *produces banknotes from pocket-book, and passes them to his wife, not taking his eyes off* TOMMY, *whose hands are below the level of the table.*]

LADY A. (*Lays down one note on table and says to* TOMMY :) *There.* (*She lays down the other.*) *See you for a fiver.*

मानों के लिए पुरःस्थापित पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन को ही कायम रखा, अपितु पद्धति को पंजाब में सिक्खों के लिए, तीन प्रान्तों को छोड़ कर बाकी सब प्रान्तों में यूरोपीयों के लिए, दो प्रान्तों में आंग्ल-भारतीयों के लिए और एक प्रान्त में भारतीयों के लिए और एक प्रान्त मे भारतीय ईसाइयोंके लिए भी लागू कर दिया। इस प्रकार मोंटफोर्ड प्रतिवेदन के रचयिताओं द्वारा निन्दित दोष को उस संविधान में और भी अधिक बढ़ा चढ़ा कर सम्मिलित किया गया, जिसका कि निर्माण उनकी सिफारिशों के अनुसार ही किया गया था।

(६) प्रयोगकालीन व संक्रान्तिकालीन उपाय—छठी बात यह है कि १९१९ का एक्ट स्पष्टतः एक प्रयोगकालीन व संक्रान्तिकालीन उपाय था। २० अगस्त, १९१७ की घोषणा में जो वायदे किए गए थे, उनको कार्यान्वित करने का यह प्रथम प्रयास था। उस समय भारतवर्ष में जो नौकरशाही प्रशासन विद्यमान था, इस एक्ट ने उसमें थोड़ा-सा सुधार करने की चेष्टा की यद्यपि यह सुधार आंशिक ही था। द्वैध-शासन इसका फल था। लार्ड मेस्टन के शब्दों में "स्वेच्छातन्त्र उस समय तक हाथ-में-हाथ मिला कर साथ-साथ चलने के लिए बाध्य थे, जब तक कि लोकतन्त्र स्वयं चलना न सीख ले और अकेला चलने के विश्वास-योग्य न हो जाय।" मोंटफोर्ड-सुधारों ने १० वर्ष बाद नई योजना के आधीन की गई उन्नति का अध्ययन करने के लिए और यह निश्चित करने के लिए कि पूर्ण उत्तरदायी शासन के लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे बढ़ाया जा सकता है या नहीं, एक रायल कमीशन की नियुक्ति का विधान करके स्वतः ही अपनी प्रयोगकालीन व संक्रान्तिकालीन प्रकृति का परिचय दिया था।

गृह-सरकार

४४. गृह-सरकार का आशय

सरकार के दो भाग—१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट का विस्तृत विश्लेषण करने के पूर्व उस एक्ट के आधीन स्थापित शासन की एक प्रमुख विशेषता की ओर इंगित कर देना बहुत आवश्यक है। यह प्रमुख विशेषता भारतीय थी, शासन का दो भागों में विभाजन, जिनमें से कि एक भाग तो इंगलैण्ड में कार्य करता था और दूसरा भारत में। यह द्वैधवाद भारतवर्ष में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के अनोखेपन का अनिवार्य परिणाम था। भारत के पूर्ववर्ती विजेता (उदाहरणार्थ मुसलमान) यहाँ स्थायी रूप से बस गए, उन्होंने इसी देश को अपनी मातृभूमि और पितृभूमि बनाया। वे किसी विदेशी सत्ता के दबाव में नहीं रहे। फलतः यहाँ उन्होंने जिस शासन प्रबन्ध की नींव डाली, वह किसी भी विदेशी सत्ता के आदेश या नियन्त्रण की आधीनता में नहीं था।

LADY AMERSHAM *now buries her face in her hands.* THE DUCHESS *gazes up in petrified agony to the ceiling.* ROBBINS *stands with chin sunk on breast.*]

LORD A. (*bringing clenched right hand down on open palm of left*)

And this—*this* is the man we—we've broken bread with! This is the man we've all of us for the past few years been calling Tommy till, damn it, I hardly remember his surname. . . . Dixon, that's it . . . Dixon the card sharper.

[*A low wail escapes from* LADY AMERSHAM]

Enid, my darling, go and get on your cloak This (*with increasing horror*) is the man I put up for Bains's—the one remaining club that *nobody* can get into—and got him in. You'll send in your resignation to night, sir.

[ROBBINS *utters a groan*]

TOMMY

Don't you try to bully *me!* I'm a member of Bains's and there I'll stick—till they expel me

LORD A.

I'll go straight there—Enid, you can drop me there—and I'll tell every man in the place (*To* TOMMY) And there'll be an end of *you!*

[*Simultaneously* TOMMY *presses button of electric bell in wall behind him. Another groan from* ROBBINS]

१६१६ के एक्ट ने एक असंगति को दूर कर दिया—ब्रिटिश-संसद के एक अभिकर्ता अथवा सेवक के रूप में भारत-मन्त्री के पद का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत-मन्त्री का वेतन अपने स्वामी अर्थात् ब्रिटिश संसद से ही मिलना चाहिए। परन्तु १६१६ के भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट के पारित होने के पूर्व ऐसा नहीं था। उस समय तक भारत-मन्त्री एवं उसके विभाग के वेतन का भार ब्रिटिश-संसद वहन नहीं करती थी, अपितु वह भारत के ही मत्थे पड़ता था। यह बात नीति विरुद्ध भी थी और न्याय विरुद्ध भी। इस पद्धति के समर्थन में यह लचर दलील उपस्थित की जाती थी कि चूँकि यह व्यय भारतीय प्रशासन के निरीक्षण में लगाया जाता है, अतः इसका भार भारत के ही कंधों पर पड़ना चाहिए। यह विशुद्ध उपनिवेशवाद था और उक्त तर्क में इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई थी कि भारत का और भारतीय जनता का उस मन्त्री पर, जिसके लिए उसे प्रतिवर्ष लाखों रुपए की राशि व्यय करनी पड़ती थी, तनिक भी नियन्त्रण नहीं था। यह बात नियम विरुद्ध थी क्योंकि अपराधियों (Dominions) और उपनिवेशों के लिए जो मन्त्री नियुक्त होते थे उन सबको ब्रिटिश राजकोष से वेतन मिलता था। इस कटु भेदभाव का भारतीय लोकमत ने सदैव विरोध किया था। १६१६ के एक्ट ने इस असंगति को दूर कर दिया और निर्धारित किया कि "भारत मन्त्री का वेतन, उसके उपमन्त्रियों का वेतन और उसके विभाग के अन्य व्यय भारतवर्ष की आय में से चुकाने के बजाय संसद द्वारा प्रदत्त राशि में से चुकाए जा सकते हैं और भारत-मन्त्री का वेतन इसी प्रकार चुकाया जायगा।" इस सम्बन्ध में 'जायगा' और 'सकते हैं' शब्दों का प्रयोग अर्थपूर्ण था। जो व्यवहार में हुआ, वह यह है कि जैसे ही एक्ट क्रियारूप में परिणत हुआ, भारत-मन्त्री का वेतन तो ब्रिटिश-आय में से चुकाया जाने लगा परन्तु विभाग के खर्चों के लिए ब्रिटिश राजकोष ने १५०,००० पौंड वार्षिक का ही अनुदान निश्चित किया। परन्तु इतनी अल्पराशि से भारत-मन्त्री के विभाग का सारा खर्चा नहीं चल सकता था, फलतः बाकी सारा व्यय भारत के मत्थे पड़ता था।

परिवर्तन का वैधानिक महत्त्व—वैधानिक दृष्टि से इस परिवर्तन का बहुत अधिक महत्त्व था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत-मन्त्री के ऊपर ब्रिटिश संसद का सीधा नियन्त्रण स्थापित हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम-से-कम सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद को भारत के मामलों में हस्तक्षेप करने का और भारत-मन्त्री व उसके विभाग की नीतियों की देखरेख करने तथा उन्हें निर्देश देने का सदैव ही अधिकार प्राप्त था। परन्तु यह नियन्त्रण उस समय, जबकि संसद को भारत-मन्त्री के वेतन और उसके विभाग के लिए कुछ व्यय प्रदान करने की नौबत आई, प्रत्यक्ष और नियमित हो गया। वार्षिक बजट में उस प्रयोजन के लिए जो राशि स्वीकृत की जाती

side of the room, with arms folded, looking him up and down. At sound of the slammed front door he moves slowly towards the door of the room, still gazing sternly at his friend, and goes out, shutting the door after him TOMMY *looks at the door, delightedly clasps his hands, beams, looks around, and anon begins to pirouette gracefully around the room. As he reaches the table where the glasses and decanters are, he stoops down (facing you), and airily pours some whisky into a tumbler, then some Apollinaris. As he does so, the door opens noiselessly, revealing* ROBBINS *in hat and overcoat.* ROBBINS *gives a violent start, strides down the stage. Just as* TOMMY *raises the tumbler to his lips* ROBBINS *from behind grips his friend's wrist with one hand and firmly removes the tumbler with the other.* TOMMY, *confounded, returns his stare.* ROBBINS, *not relaxing his grip, raises the tumbler to his nostrils, sniffs it, looks quickly round from it into his friend's eyes.*]

ROBBINS

Arsenic? (*He quickly sniffs tumbler again, then with another piercing and probing glance at* TOMMY) Strychnine? (*Sniff and glance repeated*) Hydrochloric? ... Anyhow ... (*He carefully inverts the tumbler and spills its contents to the carpet*) that's the place for it.

छोड़कर उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। संसद के दोनों सदनों की संयुक्त-प्रवर-समिति ने 'वित्तीय-स्वायत्तता-अभिसमय को अंगीकृत करने की सिफारिश उपस्थित की। यह सुझाव दिया गया कि आयात-निर्यात-करों के बारे में भारत की व्यवस्थापिका व सरकार, समझौते के द्वारा, उन करों को लागू करने के लिए, जिन्हें वे ब्रिटिश सौदागरों के हितों की अपेक्षा न रखते हुए, भारतीय सौदागरों व उपभोक्ताओं के हितों में आवश्यक समझती हों, स्वतन्त्र होनी चाहिएँ। इस अभिसमय को सिफारिश इस सन्देह को कि "भारतवर्ष की वित्तीय नीति, इंगलैण्ड के वाणिज्य के हित में, ह्वाइट हाल से बलात् प्रसारित की जाती है।" दूर करने के दृष्टिकोण से उपस्थित की गई थी।[1]

भारत-मन्त्री का गवर्नर जनरल के साथ सम्बन्ध—भारत-मन्त्री के अधिकारों के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कानूनी दृष्टि से, वह भारतीय प्रशासन के प्रमुख, गवर्नर जनरल का अधिपति होता था। गवर्नर जनरल के लिए यह आवश्यक था कि वह भारत-मन्त्री के आदेशों का उचित रूप से पालन करे। परन्तु उन दोनों के सम्बन्ध बहुत कम कानून के अक्षरशः अनुरूप होते थे। गवर्नर जनरल भारत में ही उपस्थित रहता था, यहाँ कानून और व्यवस्था के संधारण का उत्तरदायित्व पूर्णतः उसके ही कन्धों पर था, अतः यह सम्भव नहीं था कि वह भारतवर्ष से सात समुद्र की दूरी पर विराजमान भारत-मन्त्री के ही आदेशानुसार निरन्तर चलता। आवश्यकता से बाध्य होने पर बहुत से कार्य उसे स्वयं ही सोच-विचार कर करने पड़ते थे। भारत-मन्त्री ने भी उसे ऐसे कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रखी थी। भारत-मन्त्री ऐसा करने के लिए लाचार था। वह भारतवर्ष से समुद्र पार सहस्रों मीलों के फासले पर अवस्थित रह कर यहाँ के शासन का पूर्णतः नियन्त्रण करने में असमर्थ था। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ वैयक्तिक तत्त्व पर भी निर्भर रहता था। यदि भारत-मन्त्री, कोई दृढ़ स्वभाव का पुरुष होता, उसके पास कोई निश्चित नीति होती जिसे कि वह कार्यान्वित करना चाहता, तो वह गवर्नर जनरल को अपने अभिकर्त्ता के रूप में प्रयुक्त कर

---

१. मुकर्जी—"दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशन" भाग २, पृ० ५२३।

यह देखना बहुत सुगम है कि ब्रिटिश संसद के प्रति प्रत्यक्षतः उत्तरदायी भारतीय सरकार (अर्थात् गवर्नर जनरल और कार्यकारिणी परिषद्) और भारतीय लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय व्यवस्थापिका सभा, उन विषयों के सम्बन्ध में जो भारतीय वाणिज्य के अनुकूल और ब्रिटिश वाणिज्य के प्रतिकूल पड़ते थे, पूर्णतः एकमत नहीं हो पाती थीं। अतः यह पवित्र सिफारिश, जितनी देखने में मालूम पड़ती थी, उससे न्यूनतर युग-विधायिनी थी।

TOMMY

And left me to shift for myself—yes. It's that confounded unearned increment that has undermined me. Good-night, old man. Rising barristers can't afford to associate with card-sharpers.

ROBBINS (*with a groan*)

How long have you been——? (*Gesture to card-table.*)

TOMMY

Well, as a matter of fact, to-night was my début

ROBBINS (*throws back head, and sighs deeply*)

When I think of the splendid social position you'd made for yourself—made without effort—the great houses you had the run of—the great people and the gay and noble who . . . To-night, when I heard the Duchess calling you 'Tommy' . . . Charming woman, the Duchess (*meditatively removes hat from head*). It was very good of you to ask me to night, Tommy. . . . And Lord and Lady Amersham—what charming people! The best type of our old English——

TOMMY

You're becoming maudlin, old boy.

ROBBINS

Ah, Tommy, I can't take those people so lightly as you do. Perhaps that's the reason why they never seem to follow me up. . . . When I think of you dragging out a miserable existence in some shady foreign watering-place . . .

नियुक्त रहते थे और १२०० पौण्ड प्रतिवर्ष वेतन पाते थे। कौन्सिल का कार्य यह था कि वह भारतीय सरकार के साथ जो पत्र-व्यवहार हो, व इंगलैण्ड में भारतीय सरकार से सम्बन्धित जो कुछ भी कार्य-व्यापार हो, उस सबका भारत-मन्त्री के आदेशों अनुसार प्रबन्ध करे। कौंसिल की सप्ताह में एक बार बैठक होती थी और भारत-मन्त्री उसका अध्यक्ष होता था। कुछ उल्लिखित विषयों को छोड़कर भारत-मन्त्री कौंसिल के बहुमत के निर्णय का उल्लंघन कर सकता था। हाँ, उसे उन कारणों की व्याख्या अवश्य करनी पड़ती थी, जिनके फलस्वरूप कि उसने ऐसा किया। इसके अलावा, *भारत-मन्त्री गोपनीय व आवश्यक प्रश्नों को, जो कि भारत सरकार से सम्बन्धित हों, बिना कौंसिल के समक्ष उपस्थित किए ही भेज या प्राप्त कर सकता था।*

१८८६ में इण्डिया कौंसिल के सदस्यों की संख्या को १५ से कम कर १० कर देने का निश्चय किया गया। १९०७ में इसमें पुनः परिवर्तन किया गया। अब की बार यह निर्धारित किया गया कि कौंसिल के सदस्यों की संख्या १४ से अधिक नहीं और १० से कम नहीं होनी चाहिए। *नए एक्ट ने प्रत्येक सदस्य का कार्य-काल ७ वर्ष* निश्चित किया व वार्षिक वेतन १,६००पौ० से घटाकर १,००० पौ० कर दिया। उसी वर्ष सर्वप्रथम बार, दो भारतीयों को इण्डिया कौंसिल में नियुक्त किया गया।

मॉण्टफोर्ड सुधारों के पश्चात् इण्डिया कौंसिल में परिवर्तन—१९१९ के एक्ट के आधीन इण्डिया कौंसिल के संविधान में और भी परिवर्तन किए गए। (१) अब से उसके सदस्यों की संख्या ८ से कम नहीं और १२ से अधिक नहीं रखी गई। इन सदस्यों में कम-से-कम आधे ऐसे होते थे, जिन्होंने कम-से-कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में कार्य या निवास किया हो और इस देश को अपनी नियुक्ति की तिथि के ५ वर्ष पूर्व न छोड़ा हो। (२) इस पद का कार्य-काल ७ वर्ष से घटाकर ५ वर्ष का कर दिया गया। (३) प्रत्येक सदस्य की वार्षिक आय पुनः बढ़ाकर १,२०० पौ० कर दी गई। प्रत्येक भारतीय सदस्य को ६०० पौ० का अपर भत्ता मिलता था। (४) भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ३ कर दी गई। सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर का एक नया पद बनाया गया। हाई कमिश्नर इंगलैंड में भारत सरकार के एजेंट की हैसियत से कार्य करता था। भारतीय हाई कमिश्नर सपरिषद् गवर्नर जनरल के अधीन था। (५) कौंसिल की बैठकें अब सप्ताह में एक बार नहीं, अपितु महीने में एक बार होने लगीं। (६) बैठकों के लिए जो कानून-सम्मत कोरम था, उसे हटा दिया गया और उसके स्थान पर भारत-मन्त्री को इच्छानुसार कोरम विहित करने का अधिकार दे दिया गया। (७) उसे कार्य-व्यापार के संचालन के लिए भी नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया। (८) (क) भारतीय आमदनी के अनुदान या व्यय और (ख) अखिल भारतीय सेवाओं के लिए कानून बनाने से सम्बन्धित विषयों का निर्णय करने के लिए

in a shady foreign watering-place that you've found in the pages of Thackeray—nonsense! I shall stay just where I am.

ROBBINS

And face the music? Tommy, I shall stand by you.

TOMMY (*with a queer look*)

That's the worst of old friends—no shaking 'em off!

ROBBINS

Tommy!

TOMMY

I'm sorry. (*Lays hand on* ROBBINS' *shoulder*) I don't mind old friends Hang it, no: I don't want to be a hermit. Freedom!—that's all I wanted. And now (*flings wide his arms, gazing up beatifically*) I've got it!

ROBBINS

Freedom? Of course there'll be no question of gaol. But to be publicly branded, as. . . . Freedom? Freedom from what?

TOMMY

Why, from the whole cursed dog's-life I've been leading. Freedom to sit down cosily and lead my own life. Tranquillity, independence, quiet fun. Books. Pipes. D'you know, Robbins, I haven't been able to settle down to a book since . . . heaven knows when . . . ever since I got caught up into that infernal social merry-go round. To night I've jumped off. Jolly neatly, too. Pleasing air of finality about the whole thing.

प्रोत्साहन देने में कर सकती थी। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारतवर्ष के हितों की ओर क्यों ध्यान देने लगे? उन्हें तो अपने काम-से-काम था, भारत को चाहे लाभ पहुँचे चाहे हानि, इसकी उन्हें कोई चिन्ता न थी। फलतः करोड़ों रुपयों का उक्त सामान वे इंगलैण्ड तथा दूसरे देशों से खरीदते थे। यह कार्य राष्ट्र-विरोधी तो था ही इसमें एक बहुत बड़ी असंगति भी थी। वह भारत-मन्त्री को भारत सरकार का राजनीतिक प्रभु और व्यावसायिक अभिकर्त्ता दोनों ही बना देता था। फल यह होता था कि भारत सरकार का भारत-मन्त्री के अभिकरण कार्य के ऊपर बिलकुल नियन्त्रण नहीं था।

हाई कमिश्नर की नियुक्ति और स्थिति—भारत के हाई कमिश्नर के नूतन पद की सृष्टि के पश्चात् अभिकरण कृत्य भारत-मन्त्री के हाथों से लेकर हाई कमिश्नर के हाथों में दे दिए गए। गवर्नर जनरल सपरिषद् हाई कमिश्नर की नियुक्ति करता था और उसका वेतन भारतीय कोष में से चुकाया जाता था। इस प्रकार वह भारत सरकार का सेवक था और भारत सरकार पूरे तरीके से उसके कार्य का निरीक्षण व नियन्त्रण कर सकती थी। वह और उसका कार्यालय लंदन में रहता था। साधारणतः वह पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता था। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो इस परिवर्तन का बड़ा महत्त्व था, परन्तु व्यवहारतः स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। हाई कमिश्नर पूर्णरूप से भारत-सरकार के अधीन था। परन्तु सरकार की बेढंगी रफ्तार जो पहले थी, वही कायम रही। भारत के हितों की अब भी निरन्तर उपेक्षा की जाती था।

हाई कमिश्नर के कर्तव्य—ठेके देना, स्टोर-विभाग की देखभाल करना, भारतीय ट्रेड कमिश्नर के कामों का निरीक्षण करना, भारतीय विद्यार्थियों की देखभाल करना आदि भारतीय हाई कमिश्नर के मुख्य कर्तव्य थे। भारत सरकार को जिस-जिस सामान की इच्छा होती, उसे वह भारत सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में विदेशों से खरीदता था।

भारत सरकार

४८. केन्द्र में कोई उत्तरदायित्व नहीं

केन्द्रीय शासन भारतीय जनता के प्रति नहीं वरन् ब्रिटिश-संसद के प्रति उत्तरदायी बना रहा—यद्यपि १९१९ के भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका का तो नए सिरे से संगठन किया, परन्तु केन्द्रीय शासन की प्रकृति को लगभग पूर्ववत् ही रहने दिया। मोंटफोर्ड प्रतिवेदन का तृतीय सूत्र, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार की रचना की गई, निम्नलिखित था, "भारत-सरकार पूर्णतया ब्रिटिश संसद के सम्मुख उत्तरदायी रहेगी और इस प्रकार के उत्तरदायित्व के अतिरिक्त मुख्य-मुख्य

ROBBINS

Society as it is *called?* Society is Society. And—surely there are other ways of getting out of it than . . .

TOMMY

No, there aren't

ROBBINS

You could have gone away—settled quietly down in the country—Cornwall——

TOMMY

But I love London. Not a drop of Cornish blood in my veins. Never happy away from London. Never do get away from it properly. It's in my bones.

ROBBINS

Well, what was to prevent you from leading a quiet life here in London, if you really wanted to?

TOMMY

Ah, there speaks the man who isn't a social success!

ROBBINS

You needn't remind me of that.

TOMMY

My dear chap, I'm only congratulating you. . . . A social success is a man who can't call his soul his own. Might as well be a trapped rabbit. Better. Agony not so prolonged Moment he shows his face—'Can you lunch to morrow?' If he stays at home 'Trr-trr-trr': telephone

छुटकारा मिला । इस एक्ट ने बंगाल के लिए एक उप गवर्नर जनरल की नियुक्ति कर दी । गदर के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त कर दी गई और भारत का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश 'क्राउन' के हाथों में चला गया । इसके कारण भारतीय गवर्नर जनरल की स्थिति में भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया । अब वह वायसराय हो गया तथा भारत में ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करने लगा ।

मोंटफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की नियुक्ति, पदावधि और वेतन—१८५८ के एक्ट के पश्चात् अन्य जितने भी एक्ट अधिनियमित हुए, उनमें से किसी ने भी गवर्नर जनरल की सत्ता व स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया यहाँ तक कि मोंटफोर्ड सुधारों ने भी प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व की पुनः स्थापना के अलावा गवर्नर जनरल की स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं किया । भारत के गवर्नर जनरल का पद महान् उत्तरदायित्व और गौरव से परिपूर्ण था । गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट् ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री की सलाह पर किया करते थे; इस सम्बन्ध में प्रधान-मन्त्री भारत-मन्त्री से परामर्श ले लिया करते थे । साधारणतः उसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता था । गवर्नर-जनरल को २,५६,००० रु० वार्षिक वेतन व रहने के लिए बिना किराए का शानदार भवन मिलता था । इसके अलावा उसे १,७२,७०० रु० वार्षिक से अधिक के विभिन्न भत्ते प्राप्त होते थे । कानून-निर्माण, वित्त व प्रशासन के क्षेत्र में उसके अधिकार बहुत बड़े-बड़े थे । भारत के शासन-प्रबन्ध की पूरी जिम्मेदारी उसके कन्धों पर थी । देश के सैनिक व नागरिक शासन का सचालन, निरीक्षण व नियन्त्रण करने का उसे पूरा अधिकार प्राप्त था । बंगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नर को छोड़कर बाकी सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ वही करता था । भारत-मन्त्री द्वारा नियुक्तियाँ की जाने की स्थिति में भी गवर्नर जनरल का परामर्श लिया जाता था और साधारणतः उसकी सिफारिशें स्वीकार की जाती थीं ।

गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तियाँ—गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तियाँ विपुल थीं । व्यवस्थापिका सभाओं के अधिवेशनों को आहूत करना, उनका भंग करना और उनका कार्यकाल बढ़ाना या घटाना उसके हाथों में था । व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन दिवस और स्थान को भी वही निश्चित कर सकता था, उसे व्यवस्थापक सभाओं में भाषण देने का अधिकार था । वह चाहता तो दोनों में अलग-अलग भाषण दे सकता था और चाहता तो दोनों के संयुक्त अधिवेशन में भाषण दे सकता था । कोई रोक-टोक न थी । अनेक ऐसे विषय (सार्वजनिक ऋण, भारत की आय, सेना, वैदेशिक मामले, प्रान्तीय विषयों आदि से सम्बन्धित) थे जिनके बारे में गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका सभाओं में कोई प्रस्ताव पेश न किया जा सकता था । यदि वह किसी विधेयक या उसकी किसी धारा को देश की

Foreign Office reception, I pretended to be drunk. Not a soul there but refused to see anything at all strange about me. There was a time when I used to sit in the bow-window of Bains's, wearing a motor-cap and a frock coat. They all admired my splendid moral courage. My dear fellow, I've tried scores of ways. This (*gesture to card-table*) was the only way out. Desperate remedy? Desperate disease. And here I am—cured. (*Finishes his whisky and Apollinaris*) By the way I'm sorry about Bains's. I should like to have got you in.

ROBBINS (*gloomily*)

Oh, I should never have got in.

TOMMY (*consolingly*)

No.

ROBBINS

Then why did you put me up?

TOMMY

Well, you were always saying you'd like me to. And —there it was . my amiability again. Unable to say 'No'.

ROBBINS (*nods his head, sinks down on to edge of arm-chair, and heaves a deep sigh*)

I had often wondered—forgive an old friend's frankness—what it was that people saw in you *I've* always liked you. But why should every one else? 'Tommy'—'Tommy' to every one. Nobody ever called me Harry.

TOMMY

Is your name—er—Henry?

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद्—ऊपर गवर्नर जनरल की जिन व्यापक शक्तियों का उल्लेख किया गया है, उनका प्रयोग करने में, उसकी कार्यकारिणी परिषद् उसे सलाह व सहायता देती थी। तथापि परिषद् केवल एक परामर्शदात्री समिति-मात्र ही थी। अधिकतर परिषद् गवर्नर जनरल के इशारे पर नाचा करती थी। यदि वह कभी गवर्नर जनरल के विरुद्ध भी जाती, तो गवर्नर जनरल उसके निर्णय को ठुकरा सकता था।

गवर्नर जनरल एक वैधानिक शासक नहीं, अपितु स्वेच्छाचारी शासक था—भारतीय गवर्नर जनरल एक अनूठा नौकरशाह था। उसके साधारण और असाधारण दोनों तरह के व्यापक अधिकारों ने उसे सामर्थ्यवान् सत्ताधारी पुरुष बना दिया था। भारतवर्ष के शासन-प्रबन्ध में उसे जो अधिकार प्राप्त थे, वे उन अधिकारों से बहुत बड़े-बड़े थे जिनका कि उपभोग अमेरिका के राष्ट्रपति और इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री अपने-अपने देशों में करते थे। वह भारत में एक वैधानिक शासक की तरह नहीं, अपितु स्वेच्छाचारी शासक की तरह शासन करता था। यह सही है कि ब्रिटिश संसद भारत-मन्त्री के द्वारा उस पर अपना नियन्त्रण रखती थी परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस नियन्त्रण के बावजूद भी गवर्नर जनरल को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। चूंकि वह सम्राट् का प्रतिनिधि था, इसीलिए उसका राजकीय गौरव व दबदबा बहुत बड़ा-चढ़ा था। जैसे दूसरे राज्यों के प्रमुखों को क्षमा और प्रविलम्बन करने का अधिकार प्राप्त होता है, ऐसे ही भारत के गवर्नर जनरल को भी यह अधिकार प्राप्त था। अपने कार्यों के सम्बन्ध में वह पूर्ण कानूनी विमुक्ति का उपभोग करता था। कार्यकारिणी जो कि उसे सलाह व सहायता देने के लिए थी, उसके हाथों में खिलौना मात्र थी। वह उनके निर्णयों को स्वतन्त्रतापूर्वक ठुकरा सकता था। व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था, लेकिन गवर्नर जनरल उसकी इच्छा को भी रद्द कर सकता था। सच तो यह है कि किसी भी उत्तरदायी यहाँ तक कि अनुत्तरदायी कार्यकारिणी को भी इतने प्रचुर अधिकार प्राप्त नहीं थे जितने कि भारत के गवर्नर जनरल को प्राप्त थे। यह कहा जाया करता था—"इंगलैण्ड का सम्राट् राज्य करता है, परन्तु शासन नहीं करता, अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता है, परन्तु राज्य नहीं करता, फ्रांस का राष्ट्रपति न राज्य करता है न शासन करता है परन्तु भारत का गवर्नर जनरल राज्य और शासन दोनों करता है।"

५०. गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद्

१६१६ के एक्ट के अधीन किए गए परिवर्तन—बंगाल, बम्बई और मद्रास की तीन प्रेसीडेन्सियों को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने के लिए जब *गवर्नर जनरल* के

ROBBINS

Do I understand that you were in the habit of behaving dishonourably?

TOMMY

Oh, no. Only, *I'm* the sort of fellow who happens to be attractive to—I know it sounds fatuous—but attractive to—well, to the *sillier* sort of women, don't you know?

ROBBINS

Married women?

TOMMY

Well, lots of silly women get married. There's no *competitive examination. But not necessarily married* women (*waves his hands vaguely*). Widows. All kinds.

ROBBINS

All widows?

TOMMY

The *sillier* sort of widows—like the Duchess.

ROBBINS (*rising from arm-chair*)

You really mean that the—there was a chance of your becoming a—a sort of Duke?

TOMMY

I think there was a sort of danger. May have been. . . . One never knows where one is with those people. They've such a lot of time to waste, and there's so much make-believe. . . . The married women, they don't want you

और सुरक्षा व सेना विभाग प्रधानमन्त्री की अधीनता में थे। अवशिष्ट विभागों में गृह-विभाग जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते थे, अंग्रेज पार्षदों के हाथों में रखे जाते थे और भारतीय सदस्यों को शिक्षा, स्वास्थ्य तथा श्रम विभागों से ही सन्तोष ग्रहण करना पड़ता था।

पोर्टफोलियो प्रणाली—पोर्टफोलियो, परिषद् के सदस्यों के बीच गवर्नर जनरल के द्वारा वितरित किए जाते थे। पोर्टफोलियो पद्धति के अन्दर अपने-अपने विभाग से सम्बद्ध सभी मामलों को प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्रतापूर्वक निबटाता था। उन विषयों को जो कि अधिक महत्त्व के थे और जो प्रान्तीय सरकारों के दृष्टिबिन्दुओं का प्रत्यादेश करते थे, गवर्नर जनरल की सलाह से निश्चित किया जाता था। परन्तु वे सब विषय जो कि बहुत ही अधिक महत्त्व के होते थे और जिनका प्रभाव दो या दो से अधिक विभागों पर पड़ता था, पूरी कार्यकारिणी परिषद् के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किए जाते थे।

कार्यकारिणी परिषद् की बैठकें—गवर्नर जनरल का प्रभुत्व—साधारणतः कार्यकारिणी परिषद् की बैठक एक सप्ताह में एक बार हुआ करती थी। बैठकें गवर्नर जनरल के द्वारा आहूत होती थीं। बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर जनरल करता था, और उसकी अनुपस्थिति में उसके द्वारा मनोनीत उप-सभापति। गवर्नर जनरल बैठकों के लिए कार्यक्रम भी निश्चित करता था। परिषद् के निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे, परन्तु गवर्नर जनरल को अधिकार था कि यदि वह देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो परिषद् के निर्णयों के प्रतिकूल भी जो चाहता सो कर सकता था। सच तो यह है कि गवर्नर जनरल परिषद् का पूरे तरीके से स्वामी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी व ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में आकाश-पाताल का अन्तर था। परिषद् के सदस्य गवर्नर जनरल के सहयोगी नहीं, सेवकमात्र थे। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रधानमन्त्री के सेवक नहीं, सहयोगी होते हैं।

कार्यकारिणी परिषद् व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी—ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल और कार्यकारिणी परिषद् में एक और बड़ा अन्तर था। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से कामन-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है और उसके द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से नहीं चुने जाते थे। चूंकि कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल की सलाह पर भारत-मन्त्री करता था, अतः उनमें किसी प्रकार की एकान्विति नहीं होती थी। इसके सिवा परिषद् के सदस्य सामुदायिक या व्यक्तिगत रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। कोई भी सदस्य, चाहे उसके कार्य और नीतियाँ कितने ही बदनाम क्यों न हों,

cards over the mantelpiece) Waste-paper! . . . Look at that telephone! Mute for evermore.

[TELEPHONE BELL: 'Trr-trr trr!' *Both men start and stare at telephone.*]

TOMMY *(raising a finger)*

Hark to the swan-song!

[TELEPHONE BELL: 'Trr-trr trr, trr-trr-trr.']

TOMMY

Pathetic, isn't it? *(Goes across to writing-table and raises the receiver)* Halloa! Yes. *(An instant later, with a violent start:)* Duchess? Duchess of—*Huntington?* . . . Yes, of course I knew your v-voice, but . . . *What?* *(His face becomes positively blank with horror)* You're sorry you . . . What? . . . Worse things in the world than cheating at . . . But, my dear woman . . . *What?* . . . *(Stares wildly at Robbins)* But . . .

[*Covers receiver with one hand, and, turning to* ROBBINS, *asks in a hissing whisper,* 'What shall I say?' *Puts it back to his lips.*]

Fact is I—I'm married already—years ago—unfortunate entanglement . . . N-no. No chance of a divorce. Lost sight of her. Living somewhere in the wilds of New Zealand. *Absolutely* respectable. N no, to-morrow I can't. Lunching with Robbins—my friend, H. Robbins. . . . Come round to you in the morning? Well, I . . . Well . . . No, not tea, I have to go out to tea . . Y yes, I could come in later, I suppose—d delighted—but——

[*At about the middle of this monologue, the*

(ख) भारतीय विधान-सभा—विधान-सभा के १४४ सदस्यों में से १०३ सदस्य निर्वाचित सदस्य थे और ४१ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत। मनोनीत सदस्यों में से अधिक-से-अधिक २५ ही सदस्य सरकारी पदाधिकारी हो सकते थे। एक्ट ने यह भी निर्धारित कर दिया कि विधान-सभा का प्रथम अध्यक्ष गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त एक ऐसा गैर-सरकारी सदस्य होगा, जिसका कि संसद अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा हो।"[२]

दोनों सदनों के लिए मताधिकार—राज्य-परिषद् के लिए बहुत संकुचित मताधिकार उपबन्धित किया गया था। मताधिकार मुख्यतः बहुत ऊँची सम्पत्ति अर्हताओं पर आधित था। राज्य-परिषद् के लिए मतदान का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त था, जो १०,००० रु० से लेकर २०,००० रु० तक की वार्षिक आय पर कर देते थे अथवा ७५० रु० से लेकर ५,००० रु० तक का वार्षिक भूमि-लगान देते थे। मतदान का अधिकार उन व्यक्तियों को भी दिया गया था जो कि—

(१) नगरपालिकाओं, जिला निकायों या केन्द्रीय सहकारी बैंकों के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष रह चुके हों।

(२) भारत के किसी विधायक निकाय के सदस्य रहे हों।

(३) सरकार द्वारा शम्सुल-उलेमा या महामहोपाध्याय जैसी प्राच्य-पाण्डित्य-सम्बन्धी उपाधियों से विभूषित किए गए हों।

१६२५ में राज्य परिषद् के लिए ब्रिटिश भारत से कुल मतदाताओं की संख्या १५,००० से कम थी। निर्वाचन क्षेत्र साम्प्रदायिक आधार पर निर्मित हुए थे, प्रत्येक प्रान्त को एक इकाई माना जाता था। स्त्रियों को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया था। अति उच्च पहुँची हुई ऊँची सम्पत्ति विषयक अर्हताओं ने राज्य परिषद् को न्यस्त स्वार्थों का एक अभेद्य दुर्ग बना दिया तथा दूसरी निर्वाचन विषयक अर्हताओं ने यह निश्चित् कर दिया कि उसमें बुद्धिजीवी व सार्वजनिक व्यक्तियों की उपस्थिति बहुत ही कम रह सकेगी।

असेम्बली के लिए मताधिकार तनिक कम प्रतिबन्धित था। मतदाताओं के पास निम्नलिखित अर्हताओं में से एक का होना आवश्यक था—

सदन' बनाने के पक्ष में फैसला किया। अंगतः राज्य परिषद् को पुनरीक्षण करने वाला एक ऐसा सदन बनाने का फैसला किया गया, जिसके पास कि अ-वित्तीय व्यवस्थापन में विधानसभा के तुल्य ही अधिकार हों।

२. सर फ्रेडरिक व्हाइट मनोनीत अध्यक्ष थे। असेम्बली के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष सुविख्यात वी० जे० पटेल थे।

LADY A. (*with quick suspicion*)
Who are you telephoning to?

TOMMY (*mechanically dropping receiver on to its groove*)
Enid, for heaven's sake—think of Amersham. . . .

LADY A.
I think of the man whom Amersham has exposed, ruined, hounded down—the man I——

TOMMY
But, Enid, he was quite right——

LADY A
According to his own lights, yes Oh, I don't judge him. Who am I that I should cast the first stone at him—I, who deserted you just when—— (*Buries her face in her hands for an instant. Unburies her face*) 'Think of Amersham'? I think of him as last I saw him, bounding up the steps of Bains's—and I telling the chauffeur to drive me home. It wasn't till I was almost at my door that I realised my baseness

TOMMY
But,—but—Robbins, do help me! Tell her she seems to be forgetting all about *my* baseness.

ROBBINS (*awkwardly*)
I certainly do think——

LADY A.
You! Who are you that you should come betwee——

एव कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझता तो उसे अपने हस्ताक्षर के आधीन ही पारित घोषित कर सकता था। इस रीति से पारित विधेयक सम्राट् की स्वीकृति के बिना लागू नहीं हो सकता था। इसके अलावा, देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। ये अध्यादेश ६ मास से अधिक काल के लिए लागू नहीं हो सकते थे।

(ख) **वित्तीय अधिकार**—भारतीय व्यवस्थापिका को कुछ नाममात्र की वित्तीय शक्तियां भी प्रदान की गई थी। सम्पूर्ण वर्ष की आय-व्यय का अनुमानित लेखा-जोखा गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका के सम्मुख उपस्थित करते थे। साधारण रूप से बजट के ऊपर वाद-विवाद किया जा सकता था। परन्तु मतदान बजट के थोड़े ही भाग पर हो सकता था। बजट का अधिकांश भाग (८०% से अधिक ऐसा था जिस) के ऊपर कि व्यवस्थापिका सभा को मतदान का अधिकार ही न था।[1] जिन विषयों पर बजट का ८०% से अधिक धन खर्च होता था, उन पर व्यवस्थापिका गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना वाद-विवाद भी नहीं कर सकती थी। खर्चे की निम्नलिखित मदो पर व्यवस्थापिका को मत देने का अधिकार न था—गवर्नर जनरल व उनके कार्यकारिणी परिषदों के वेतन, भारत-मन्त्री और सम्राट् द्वारा नियुक्त व्यक्तियों की पेंशनें और तनख्वाहें, चीफ कमिश्नरों अथवा जुडीशियल कमिश्नरों का वेतन, वह खर्च जिसे कि सपरिषद् गवर्नर जनरल ने धार्मिक, राजनीतिक अथवा सेना सम्बन्धी ठहराया हो। जहां तक उन मदों का प्रश्न है, जिन पर व्यवस्थापिका को मतदान का अधिकार प्राप्त था, वह उनका अनुमोदन करने, उनको अस्वीकार करने अथवा उनमें कमी करने के लिए अधिकृत थी। परन्तु यहां भी गवर्नर जनरल की सत्ता अबाध थी। उसे अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत मांगों को स्वयं मंजूर करके व्यवस्थापिका का निश्चय रद्द कर दे। विशेष परिस्थितियों में वह ऐसे खर्चे को भी मंजूर कर सकता था जो उसकी राय में देश की रक्षा और शान्ति के लिए आवश्यक था।

कार्यकारिणी को प्रभावित करने के अधिकार—यद्यपि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति अनुत्तरदायी ही रही, परन्तु व्यवस्थापिका कार्यकारिणी की *नीतियों और कार्यों की कई तरह से आलोचना कर सकती थी। व्यवस्थापिका के*

[1] १. १३१ करोड़ के कुल जोड़ में से (रेलवेज को बाहर रखते हुए) केवल १६ करोड़ ही मतापेक्षी है। पुनश्च इस अ-मतापेक्षी राशि में से ६७ करोड़ सैनिक व्यय के लिए है। पट्टाभि सीतारामय्या कृत "दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस" में प० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के वक्तव्य से उद्धृत पृ० ४४६।

TOMMY (*to* ROBBINS *while he himself stands guard over telephone*)

Tell Hawkins—quick—not at home—to anybody.

[ROBBINS *crosses to door, opens it, starts back, almost closing door.* LORD AMERSHAM'S *voice is heard saying,* 'Mr. Dixon still up? Very well. I'll go straight in.']

TOMMY (*to* ROBBINS)

Stop him!

ROBBINS (*throwing* LADY AMERSHAM'S *cloak behind a chair*)

Hadn't Lady Amersham better——? (*Points to screen as he darts out into hall. His voice and* LORD AMERSHAM'S *are heard without.* LADY AMERSHAM *has darted towards screen.*)

TOMMY

Don't do that! Only done on stage! Most compromising thing possible.

LADY A. (*with a look of quick illumination*)

Exactly! So much the better!

[*She darts behind the screen and, as the door flies open, it is too late to stop her.*]

LORD A. (*to* ROBBINS)

I tell you——

[*He sees* TOMMY, *who has backed to a corner, and strides towards him.*]

तो उस स्थिति में, दोनों सदन अपने मतभेदों को एक संयुक्त सम्मेलन के लिए सहमत होकर दूर कर सकते थे। संयुक्त सम्मेलन में दोनों सदनों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। यदि संयुक्त सम्मेलन आपस में वाद-विवाद करके किसी एक समझौते पर पहुँच जाता, उस स्थिति में वह दोनों सदनों के पास कुछ सिफारिशें भेजता था, जिन्हें कि साधारणतः स्वीकार कर लिया जाता था।

(ग) संयुक्त अधिवेशन—यदि संयुक्त सम्मेलन भी कोई समझौता कराने में असफल रहता, तो गवर्नर जनरल दोनों सदनों का एक संयुक्त अधिवेशन करा सकता था। संयुक्त अधिवेशन में राज्य परिषद् का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता था और प्रत्येक निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत के द्वारा होता था। अधिवेशन के बहुमत द्वारा पारित विधेयक को दोनों सदनों के द्वारा पारित मान लिया जाता था। चूँकि संयुक्त अधिवेशन में असेम्बली के सदस्यों की संख्या राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या से अधिक होती थी, अतः असेम्बली की ही इच्छा के कार्यान्वित होने की अधिक सम्भावना रहती थी।

५२: मॉटफोर्ड के अधीन केन्द्रीय व्यवस्थापिका का मूल्यांकन

प्रतिगामी राज्य परिषद् के बावजूद भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका अधिक लोकतन्त्रात्मक थी—१६१६ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने निश्चित रूप से ही केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल को अधिक लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रदान किया। १६१६ के सुधारों के पूर्व भारतीय व्यवस्थापक मण्डल एक दरबार या बनावटी सदन के ही तुल्य था। इन सुधारों ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का प्रभावशाली बहुमत करके, व उसके वित्तीय व वाद-विवाद सम्बन्धी अधिकारों को बढ़ाकर उसे जनमत की प्रतिनिधिक संस्था बनाने का प्रयत्न किया। १६१६ के एक्ट के अन्तर्गत जिस प्रतिगामी राज्य परिषद् की सृष्टि की गई, उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सपरिषद् गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियाँ काफी बढ़ी-चढ़ी थीं। वह लोक सदन की प्रत्येक ऐसी चेष्टा को, जिसे कि वह अनुचित समझता, अपनी इन विशेष शक्तियों के द्वारा निष्फल कर सकता था। यह सही है कि व्यवस्थापिका अटल और स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी के समक्ष बिलकुल निस्सहाय थी। तथापि यह भी सही है कि नई व्यवस्थापिका नौकरशाह कार्यकारिणी के बिलकुल अधीन भी नहीं थी।

व्यवस्थापिका कार्यकारिणी को प्रभावित कर सकती थी—वह उन अनुदानों को अस्वीकार कर सकती थी जो कि "शासन यन्त्र के कुछ पहियों के सञ्चालनार्थ" आवश्यक थे। उसे कार्यकारिणी द्वारा वाञ्छित कानूनों को अस्वीकृत कर देने का भी अधिकार प्राप्त था। यह सही है कि गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत

you see, when I got there—nobody in the hall. Went into the coffee room. Not a soul. Drawing room deserted. Went up into card room. One rubber going on—hard at it. Didn't like to interrupt. Found myself cooling off a bit. Occurred to me: worse things in the world than—(*gesture to card table*). Many a good fellow . . . Awful temptation, those wide shirt cuffs . . . Went down and had a whisky and a quiet think. . . . Understand all, forgive all. Damned hypocritical world. Pardons any sin but the sin of being found out Who was I that I should . . . Tommy, old man (*grips* TOMMY'S *hand*) . *That's* all right.

TOMMY

I'm—really, I'm——

LORD A

My only fear is that Enid may . . you know how difficult it is for a woman not to *talk* And Enid—between you and me—is the most awful little chatterbox in the British Empire

[*At this moment* LADY A 's *hand appears grasping the top of the screen* TOMMY *sees it, and, behind* LORD A 's *back, makes a frantic prohibitive gesture in its direction*]

However, I know how to frighten her, and I'll undertake to——

[*The screen falls revealing* LADY A *in the act of propelling it* LORD A *starts and stares round at her. She instantly folds her hands and stands with downcast eyes*]

वह उन्हें उन बस्तियों के साथ जोडती गई, जिनके कि वे सान्निध्य में पड़ते थे। इस प्रकार तीन बड़ी प्रेसीडेन्सियों का विकास हुआ। इनमें से प्रत्येक प्रेसीडेन्सी एक गवर्नर की अधीनता में थी। गवर्नर स-परिषद् अध्यक्ष के रूप में अपनी-अपनी अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों का शासन करते थे। प्रारम्भ में ये प्रेसीडेन्सियाँ एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र थीं, वे सीधे लन्दन से शासित होती थीं। परन्तु इस सम्बन्ध में कई खतरे निहित थे। इस बात की बढ़ती आवश्यकता मालूम पड़ने लगी कि प्रेसीडेन्सियों को भारत में ही केन्द्रीय सत्ता के निरीक्षण व नियन्त्रण में रखा जाए। फलतः १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट से केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

नूतन प्रान्तों की सृष्टि—१७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अनुसार बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल का नाम दे दिया गया और उसे तीनों प्रेसीडेन्सियों का निरीक्षण व नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया गया। वह बंगाल के ऊपर १८५४ तक सीधे शासन करता रहा। इसके बाद बंगाल के शासन-प्रबन्ध के लिए एक उप-गवर्नर की नियुक्ति की गई। इसी बीच भारतवर्ष में ब्रिटिश अधीनस्थ प्रदेशों का निरन्तर विस्तार होता रहा था, जो प्रेसीडेन्सियाँ बहुत बड़ी हो गई थीं, उनको कई प्रान्तों में बाँट दिया गया और फिर बाद में इन प्रान्तों को भी उप-विभाजित कर दिया गया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (जिसे कि बाद में आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त नाम दिया गया) को बंगाल से अलग किया गया। १८५९ में पंजाब की सृष्टि हुई। कुछ समय बीतने पर मध्य प्रान्त, बर्मा, आसाम और उत्तर-पश्चिम-सीमा-प्रान्त का निर्माण किया गया। यह प्रक्रिया १९३५ तक चलती रही। १९३५ में उड़ीसा को बिहार से और सिन्ध को बम्बई से अलग कर दिया गया।

प्रान्तों के भेद—नए प्रान्तों की सृष्टि में किसी योजना के अनुसार कार्य नहीं किया गया। उसमें संस्कृति व भाषा विषयक समस्त प्रश्नों की उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था। इस प्रकार के प्रत्येक विभाजन में केवल एक ही सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया गया था और वह सिद्धान्त था शासन की सुविधा का प्रश्न। फलतः ब्रिटिश भारत बेमेल इकाइयों का एक जमघट-सा बन गया। रेगुलेशन और नान-रेगुलेशन प्रान्तों के बीच भेद किया गया। पुनश्च, प्रान्तों को गवर्नर के प्रान्तों, उप गवर्नर के प्रान्तों और चीफ कमिश्नर के प्रान्तों में भी बाँटा गया।

प्रान्तों में एक-रूपता—इन प्रान्तों में केवल एक ही प्रकार की समानता थी और वह यह थी कि वे सब एक ही केन्द्रीय सत्ता की पूर्ण अधीनता में थे। १७७३ के पश्चात् से जिस केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ था, वह लार्ड कर्जन के शासन-काल में अति तक पहुँच गई। यह बात सर्वथा अवांछनीय थी। प्रान्त केन्द्र के प्रशासनीय अभिकर्ता-मात्र ही रह गए। प्रशासनीय, व्यवस्थात्मक और वित्तीय विषयों

her on with it. LORD A., *reminded of his existence, returns down stage to* TOMMY.]

LORD A. (*sotto voce*)

That fellow Robertson . . .

TOMMY

Robbins.

LORD A.

There's something about him that. . . Was it he who put you up to—— (*gesture to card-table*)

TOMMY

Robbins? Good heavens! He's the soul of honour.

LORD A.

Well, it would be just like you to shield him, but (*looks round and sees his wife standing cloaked. She has moved away without thanking* ROBBINS, *who stands midway between her and her husband*) I don't like the look of him.

TOMMY

I assure you . . .

LADY A. (*querulously*)

Jack!

LORD A

Good night, dear old fellow. And—I'm *glad* it's happened Only—don't do it again, eh?

प्रति उत्तरदायी थे।

वित्तीय विधान—केन्द्र और प्रान्तों के वित्तीय स्रोतों को भी १६१६ के एक्ट में लोकतन्त्रात्मक कर दिया गया। भूमिकर, सिंचाई, अंत:शुल्क, जंगल, खान, मुहर, तथा पंजीयन और आयकर के एक भाग की रसीदें पाने के अलावा, जिन्हें कि केन्द्रीय सरकार एकत्रित करती थी, प्रान्तीय सरकारें अपनी आय की पूर्ति करने के लिए, कुछ उल्लिखित करों को केन्द्रीय सरकार की बिना अनुमति के भी लागू करने के लिए अधिकृत थी। प्रान्तीय सरकारें इसी प्रकार के कुछ अन्य करों को केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर लागू कर सकती थी। पुनश्च वे गवर्नर जनरल व भारत-मन्त्री का अनुमोदन पाकर क्रमशः भारतवर्ष में और विदेशों से सार्वजनिक ऋण भी एकत्रित कर सकती थी। राजस्व की मदों के विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप यह भय उत्पन्न हो गया कि केन्द्रीय सरकार आर्थिक दृष्टि से स्वाश्रयी नहीं रह सकेगी। केन्द्रीय सरकार के १० करोड़ रु० के वार्षिक घाटे को पूरा करने के लिए यह निर्धारित किया गया था कि प्रान्तीय सरकारें उसे कुछ वार्षिक अनुदान दिया करेंगी।

प्रत्येक प्रान्त का ठीक-ठीक अनुदान मेस्टन पचाट के अनुसार निश्चित किया गया। परन्तु प्रान्तीय सरकारों ने इस बन्दोबस्त की निरन्तर शिकायतें कीं, फलतः प्रान्तीय अनुदानों की पद्धति को १६२८ में समाप्त कर दिया गया। १६१६ के एक्ट के अन्तर्गत वित्तीय विषयों के वितरण में सबसे बड़ा दोष यह था कि आय के विस्तारशील व दमनशील स्रोतों को केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारों के कन्धों पर राष्ट्र का निर्माण करने वाले कर्त्तव्य-कर्मों का भार रखा गया, परन्तु उनकी आय के स्रोत भूमिकर और अन्तः शुल्क आदि अत्यन्त अप्रिय व अदमनशील थे। परन्तु फिर भी यह बात निर्विवाद है कि १६१६ के एक्ट ने संघवाद की ओर एक निश्चित पग बढ़ाया। १६३५ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने इसी को कतिपय सुधारों व संशोधनों के सहित क्रियान्वित किया गया।

५४. प्रान्तीय कार्यकारिणी—द्वैध शासन प्रणाली

प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में प्रथम पग—कीथ के अनुसार मोंटफोर्ड-सुधारों की 'नवीनता' इस बात में सन्निविष्ट थी कि उन्होंने दोनों ही अर्थों—अर्थात् केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण के शिथिलीकरण व प्रान्तीय कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व में प्रान्तीय स्वायत्तता की पुनःस्थापना की। २० अगस्त, १६१७ की घोषणा में जिस उत्तरदायी शासन की स्थापना का वचन दिया गया था, १६१६ का एक्ट उस दिशा में प्रथम पग था। इस अध्याय के प्रारम्भिक खण्ड में हम देख चुके हैं कि भारतीय संवैधानिक ढाँचे की एकात्मक प्रकृति में कोई विशेष अन्तर किए

TOMMY

Lunch? Y-yes—delighted——

[TELEPHONE-BELL: 'Trr-trr-trr.' TOMMY *casts agonised glance at it, wavering between it and the* AMERSHAMS, *as he passes out into the hall.* ROBBINS *sits down dejected on a small chair.*

TELEPHONE-BELL: 'Trr - trr - trr——*trrrrrrrrr,' while the* CURTAIN *falls.*]

निर्णय गवर्नर का ही मान्य होगा।

राजस्वों का वितरण—१९१९ के एक्ट ने सरकार के दोनों भागों के बीच प्रान्तीय राजस्वों के वितरण का भी विधान किया। यह सुझाव दिया गया था कि यह वितरण "सामान्य बुद्धि व तर्क संगत आदान-प्रदान की सरल प्रक्रिया" द्वारा सम्पन्न होगा। तथापि यह निश्चित किया गया कि यदि कहीं मतभेद उठ खड़े होंगे तो गवर्नर को इस बात का अधिकार होगा कि वह राजस्वों को संरक्षित और हस्तान्तरित विभाग के बीच बाँट दे। सार्वजनिक ऋण एकत्रित करने के प्रस्तावों पर शासन के दोनों भाग संयुक्त रूप से विचार करते थे परन्तु निर्णय उनमें से हरेक अलग-अलग करता था।

४५. गवर्नर

नियुक्ति और पदावधि—द्वैध शासन-प्रणाली में गवर्नर का स्थान बड़े महत्त्व का था। वह कार्यकारिणी का प्रधान था और इसकी शक्तियाँ बहुत विस्तृत थीं। प्रेसिडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्ति भारत-मन्त्री की सलाह के अनुसार सम्राट् करते थे। आमतौर पर जिन व्यक्तियों को प्रेसीडेन्सियों का गवर्नर बनाया जाता था, वे उच्चकुलोत्पन्न अंग्रेज होते थे, उनको सार्वजनिक जीवन का काफी गहरा अध्ययन होता था। दूसरे प्रान्तों[1] के लिए सम्राट् गवर्नर जनरल की सलाह के अनुसार गवर्नर नियुक्त करते थे। दूसरे प्रान्तों के लिए आमतौर पर जो गवर्नर नियुक्त किए जाते थे, वे ऊँचे नागरिक सेवकों में से होते थे। साधारणतः एक गवर्नर का कार्यकाल पाँच वर्षों का होता था।

गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद्—गवर्नर 'संरक्षित' विषयों का शासन प्रबन्ध एक कार्यकारिणी परिषद् की सहायता से करता था। इस कार्यकारिणी परिषद् में अधिक से अधिक ४ और कम से कम २ सदस्य सम्मिलित होते थे।[2] १९१९ के एक्ट के अनुसार कार्यकारिणी में कम से कम एक ऐसे सदस्य का होना आवश्यक था जो कि भारतवर्ष में कम से कम १२ वर्षों से सिविल सर्विस करता रहा हो। दूसरे

---

१. १९२१ में यू० पी०, पंजाब, बिहार और उड़ीसा, सी० पी० तथा आसाम पूरे तरीके से गवर्नर के प्रान्त हो गए। १९२३ में बर्मा को और उसके एक वर्ष पश्चात् उत्तर-पश्चिमी-सीमा-प्रान्त को यह प्रस्थिति प्राप्त हो गई।

२. केवल तीन ही प्रेसीडेन्सियाँ ऐसी थीं जिनमें कि गवर्नर की कार्यकारिणी-परिषद् में ४ सदस्य होते थे। शेष सभी प्रान्तों में परिषद् में २ सदस्य होते थे। इन सदस्यों में से एक अंग्रेज सिविलियन होता था और दूसरा गैर-सरकारी भारतीय।

THE STORY OF THE SMALL BOY AND THE BARLEY-SUGAR

1807

Little reader, unroll your Map of England
Look over its coloured counties and find Rutland
You shall not read this story until you have found Rutland For it was there, and in the village of Dauble, that these things happened
You need not look for Dauble , it is too small to be marked

THERE was only one shop in the village, and it was kept by Miss Good, and everybody was very proud of it.

A little further down the street, there was indeed a black, noisy place with flames in it. This was kept by a frightening man who wore a great beard and did not go to the church on Sundays. But I do not think it was a real shop, for only horses went there. The children always ran past it very quickly. But the children never ran past Miss Good's unless they were late for school.

They used to crowd round the window and talk about the red and yellow sweets that were banked up against the panes in a most tempting and delightful fashion. Sometimes one of the boys, greedier than the rest, would stand on tiptoe and press his lips [illegible] the glass, declaring he could almost taste the sweets, or ' lollypops,' as he called them Sometimes Miss Good would come and nod her ringlets to the children, over the bottles of home-made peppermint. How they envied her, living always, as she did, in company so splendid !

पर नियुक्त रहते थे। यदि गवर्नर चाहता तो बिना किसी कारण का अध्यारोप किए भी उन्हें अपने पद से हटा सकता था।

साधारणतः गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि वह मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करे, परन्तु उसे मन्त्रियों के निर्णयों में हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। वह यदि उचित समझता तो किसी भी मन्त्री के परामर्श को ठुकरा सकता था। वह मन्त्री, जिसके कि परामर्श की इस प्रकार अवहेलना की जाती, अपने पद का त्याग कर सकता था। आपात की स्थिति में मन्त्रियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति न करने के लिए गवर्नर स्वतन्त्र था। उस स्थिति में वह हस्तान्तरित विभागों का प्रबन्ध सीधे अपने ही हाथों में ले सकता था।

गवर्नर के व्यवस्थात्मक अधिकार—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि गवर्नर किसी प्रकार वैधानिक प्रमुख ही न था। उसको जितने व्यापक अधिकार प्राप्त थे, उनके कारण उसकी स्थिति एक स्वेच्छाचारी शासक के तुल्य हो गई थी। इस बात को इस तथ्य से ही समझा जा सकता है कि वह न केवल कार्यकारिणी परिषदों को ही अपनी अधीनता में रख सकता था, अपितु प्रान्तीय व्यवस्थापिका की इच्छा को भी बहुत अंशों में कुचल सकता था। इसके अलावा व्यवस्थापिका द्वारा पारित सभी कानूनों पर वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। कुछ ऐसे विधेयक थे जिन्हें कि उसकी पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका में पुरःस्थापित तक भी नहीं किया जा सकता था। यदि गवर्नर किसी विधेयक को आवश्यक समझता, और व्यवस्थापिका उसे पारित करना अस्वीकार कर देती तो उस स्थिति में गवर्नर अपनी 'प्रमाणीकरण' की शक्ति के प्रयोग द्वारा उस विधेयक को पारित घोषित कर सकता था। उसे गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करके, अध्यादेशों की निर्मिति का भी अधिकार प्राप्त था।

गवर्नर के वित्तीय अधिकार—गवर्नर के वित्तीय अधिकार भी इसी प्रकार बहुत विशाल थे। सुरक्षित विषयों की स्थिति में व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या घटाई गई 'ग्रांट' को भी वह जैसी की तैसी रख सकता था। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में भी, व्यवस्थापिका के विरोध के बावजूद भी, गवर्नर यह कह कर किसी भी व्यय को प्रमाणीकृत कर सकता था कि वह प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा अथवा अमुक विभाग के शासन-प्रबन्ध के लिए आवश्यक है।

५६. प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल

प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की नूतन स्थिति—१९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की रचना व शक्तियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। उनके आकार

her, in the distance, eating their sweets or running races with them or playing at kiss in-the-ring with them, his cheeks grew very red, and his eyes filled with tears. But somehow he loved her all the more. And he often used to dream of Jill, and of pennies, and of the window that Jill loved.

There were other things than sweets in this window, but they were seldom sold. There were strips of bacon, which were not wanted, because every cottager had a pig There were bright ribands round reels, but the girls of that village were not vain, and fairs were few From the low ceiling hung bunches of tallow candles, that seemed to grow there like fruit, but every one in that village went to bed at sunset. There was starch, but why stiffen linen? And bootlaces, but they always break

So Miss Good, like a sensible person, had devoted herself to the study of sweets, how to make them cheaply and well, and, as she was fond of little children, she was pleased that they were her chief customers But it so happened that she herself was also very fond of sweets She enjoyed tasting them, not only when she wished to see if they were good, but also when she knew quite well that they were good.

Now, one summer's evening, when all the children had gone home to bed, and she was putting up her humble shutters, Miss Good remembered suddenly that it was her birthday. You see, she had not had one for a whole year, and had forgotten that there were such things She smiled to herself as she bolted the door of her shop, murmuring softly, 'I really must celebrate my birthday' So she cut down one of the tallow candles and, having lit it, set it upon the counter. 'Illuminations!' she mur

वह रहा काफी संकुचित । १९२० में, ब्रिटिश भारत में २४१.८ प्रयुत (Million) की कुल जनसंख्या में केवल ५.३ प्रयुत लोगों को अथवा वयस्क जनसंख्या के केवल ९ प्रतिशत भाग को ही मतदान देने का अधिकार प्राप्त था। मतदाताओं की अर्हताएँ अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग थीं। साधारणतः नगर निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो या तो कम से कम २,००० रुपए वार्षिक आय पर आयकर देते हों अथवा ऐसे किसी मकान में रहते हों जिसका किराया कम से कम ३६ रुपए प्रतिवर्ष हो अथवा कम से कम ३ रुपया प्रतिवर्ष के म्युनिसपल उपशुल्क देते हों। देहाती निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो कि कम से कम १० रु० प्रतिवर्ष से लेकर ५० रु० प्रतिवर्ष तक का भूमि-कर देते हों। जमींदार निर्वाचन क्षेत्रों में विहित की गई अर्हता यह थी कि जो लोग ५०० रु० प्रतिवर्ष (पंजाब में) से लेकर ५००० रु० प्रतिवर्ष (यू० पी० में) तक का भूमिकर देते हों, वे ही मतदान के अधिकारी हो सकते हैं। विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्रों में ७ वर्षों की 'स्टैंडिंग' वाले रजिस्टर्ड ग्रेजुएट, ५ वर्षों की स्टैंडिंग वाले एम० ए० और विश्वविद्यालयों के पार्षद (Fellows) मतदान के अधिकारी थे। सैनिक सेवा भी एक अर्हता मानी जाती थी और पंजाब व यू० पी० में लम्बरदार तथा गाँव के मुखिया मतदाता हो सकते थे। मॉटफोर्ड सुधारों ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों की प्रणाली विहित की।

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचक मण्डल—सभी निर्वाचनों का आधार "जातियों और हितों" के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त रखा गया। मोटफोर्ड प्रतिवेदन ने निम्न आधारों पर पृथक् निर्वाचक मण्डलों का खण्डन किया था (१) वे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच द्वेष भाव की सृष्टि करते हैं। (२) वे अल्पसंख्यक वर्गों की अनुन्नत दशा को यथापूर्व रखते हैं। (३) वे नागरिकता की श्रेष्ठ भावना के विकास में बाधा डालते हैं और (४) उत्तरदायी शासन के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। इस अलोकतन्त्रात्मक पद्धति को समाप्त कर देने के लिए ये तर्क काफी वजनदार थे। परन्तु प्रतिवेदन ने इस पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए ही कायम रखने की, अपितु उसे सिक्खों के ऊपर और लागू कर देने की सिफारिश की। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्ध एक्ट के अधीन जो नियम बने, वे इससे भी आगे बढ़ गए और उन्होंने भारतीय ईसाइयों, यूरोपियनों तथा आंग्ल-भारतीयों को पृथक् निर्वाचक मण्डल प्रदान किए। इसके अलावा उन्होंने बहुल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में मद्रास में अ-ब्राह्मणों के लिए और बम्बई में मरहठों के लिए-स्थानों के संरक्षण को भी उपबन्धित किया। जमींदारों, व्यावसायिक और औद्योगिक हितों तथा विश्वविद्यालयों के लिए भी विशेष प्रतिनिधित्व की गारण्टी दी गई। एक दूसरा भेद 'देहाती' और 'नागरिक' निर्वाचन क्षेत्रों में किया गया। देहाती निर्वाचन क्षेत्रों को नागरिक निर्वाचन क्षेत्रों की अपेक्षा

My head aches sadly. I am best alone. Thanks. Remember me kindly to the King.'

With a gracious inclination of her head, the Queen stepped into her chariot and was gone.

Now, as it happened, Tommy Tune's father came home that morning from another village, where for some days he had been making hay. The kind farmer whose hay it was had paid him very handsomely for his work And when Tommy, having eaten his dinner, took his slate and was starting again for school, his father called him back

'Tommy son,' he said, 'I have brought back something for you Shut your eyes and give me your hand.'

Tommy obeyed in wonder. When he opened his eyes and looked to see what was in his hand, he saw—what do you think?—a real, brown penny!

'Oh Father,' he cried, 'how wonderful it is! And can you really spare it?'

'I'm not sure that I can,' replied Mr Tune, rather grimly. 'Run away now before I ask for it back'

Tommy scampered off.

Far down the road, on the way to school, walked a little girl, whose brown hair curled over her pinafore It was Jill. Tommy shouted to her to stop and ran still faster Yesterday he would not have dared to speak to her—certainly not to shout.

When he came nearer, the little girl heard him and looked round At first, she shook her head and began walking on, but Tommy called to her so eagerly that at length she waited for him

'Jill!' he said to her, shy and breathless. 'Will you come with me after school and buy barley sugar?'

'No, I won't,' she said 'I'm going to play at horses

व्यय की आवश्यकता होती, तो गवर्नर उसे व्यवस्थापिका के अनुमोदन के बिना अधिकृत कर सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का कार्यकारिणी से सम्बन्ध—जहाँ तक प्रान्तीय व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के सम्बन्धों का प्रश्न है, मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। मन्त्रियों के वेतन और उनके विभागों से सम्बद्ध धन के अधिकांश अनुदानों पर व्यवस्थापिका को मतदान देने का अधिकार था। वह किसी भी मन्त्री को उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकती थी। परन्तु द्वैधात्मक कार्यकारिणी का दूसरा भाग अर्थात् कार्यकारिणी परिषद् प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं था व्यवस्थापक मण्डल न तो उन्हें (कार्यकारिणी-परिषदों को) पदच्युत ही कर सकता था। परन्तु यदि व्यवस्थापिका सभा इस अर्द्ध आधी कार्यकारिणी को नियन्त्रित नहीं कर सकती थी, तो कई परोक्ष रीतियों से प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रश्नों व स्थगन-प्रस्तावों के द्वारा और मरक्षित विभागों से सम्बद्ध उन अनुदानों को जिनके ऊपर कि उसे मतदान देने का हक था, अस्वीकृत करके या घटा कर, व्यवस्थापिका-सभा कार्यकारिणी के ऊपर काफी जोर का दबाव डाल सकती थी और कभी-कभी उससे अपनी बात मनवा लेती थी।

५७. द्वैधशासन प्रणाली की असफलता

द्वैधशासन प्रणाली के प्रयोग को सोलह वर्षों तक (१९२१-१९३७) चलाया गया परन्तु सक्षम निरीक्षकों ने उसे एक बहुत बड़ी असफलता बताया। यह ठीक है कि उसने कुछ सफलताएँ प्राप्त कीं। परन्तु वह अपने मुख्य उद्देश्य प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित भाग में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने में सर्वथा असफल रही। ब्रिटिश लेखकों ने द्वैधशासन प्रणाली की असफलता का सारा दोष कांग्रेस के सिर मढ़ने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि स्वराज्य दल ने अड़गा नीति का आश्रय लिया इसलिए द्वैधशासन प्रणाली असफल सिद्ध हुई। परन्तु असफलता के असली कारण तो मोंटफोर्ड सुधारों के अधीन योजित उत्तरदायी शासन की अपरिपक्वता में ही समाविष्ट थे।

गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियों ने उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अवरुद्ध किया—१९१९ के एक्ट का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसने गवर्नरों को हस्तान्तरित विभागों के सम्बन्ध में भी इतने अधिक अधिकार दे दिए कि वे उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अत्यन्त सफलतापूर्वक अवरुद्ध कर सकते थे। गवर्नर को मन्त्रियों द्वारा प्रदत्त परामर्श की अवहेलना करने का अधिकार प्राप्त था। फलतः गवर्नर मन्त्रियों के साथ केवल परामर्श-दाताओं अथवा गौरवान्वित सेक्रेटरियों का सा ही व्यवहार करता

together, all alone in the field, with a stick of barley-sugar.

When Jill went up with the others to the high desk, she did look round at Tommy, with her finger to her lips, just where he had kissed her. In another instant she had clasped her hands behind her and was looking up at the Teacher.

She was near the top of her class, and her turn came soon. She was given a very easy word to spell; but she must have been thinking of other things, I am afraid, for she failed in the given word: she spelt Cow with an U. Tommy, in his corner, blushed scarlet.

When her turn came round again, she spelt KITE with a C. The Teacher, who had always thought her to be one of the best of her pupils, frowned. 'Be careful, Jill Trellis!' she said sharply. Tommy held his slate very tightly with both hands.

Jill was told to spell Box. 'B,' she said, 'o,'—and she stopped short.

'Be very careful,' said the Teacher. 'You cannot be attending. B, o,—well?'

Jill shook her head.

'x,' said the Teacher, 'you very abominable little girl! Fetch the Dunce's Cap and stand on the stool. You will stay here for an hour after school is over and learn two pages of hard words.'

So Jill fetched the Dunce's Cap and climbed up on to the stool and clasped her hands behind her.

Nor did she look at Tommy when the clock struck four and the school-children trooped out.

For some time Tommy stood in the porch. There, at least, he was near his poor sweetheart. He would wait there till she was set free.

मन्त्री थे, मन्त्रिमण्डल नहीं।[1] वस्तुतः मन्त्री अपने-अपने विभाग के व्यक्तिगत प्रमुख होते थे। वे उस सुसंगठित टीम की तरह नहीं होते थे जो एक इकाई के रूप में व्यवस्थापिका का सामना करती है। कभी-कभी मन्त्री लोग सभा-भवन में ही एक-दूसरे का विरोध करने लगते थे।[2] यह ठीक है कि इस अवस्था के लिए कुछ हद तक राजनीतिक दल पद्धति का अभाव भी दोषी था। परन्तु इस अवस्था के मुख्य उत्तरदायी गवर्नर लोग ही थे। मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कई भूतपूर्व मन्त्रियों ने इस दोष की जिम्मेदारी गवर्नरों के सिर मढ़ी थी। पंजाब के सम्बन्ध में गवाही देते हुए स्वर्गीय लाला हरिकिशन लाल ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था, "दो मन्त्री किसी बात पर एक साथ विचार न करते थे, प्रान्तीय गवर्नर मुझसे कहा करते थे कि नियमानुकूल प्रत्येक मन्त्री को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के आधार पर ही सारा कार्य करना चाहिए।" जब कि व्यवस्थापिका में इतने अधिक वर्गीय व साम्प्रदायिक समूहों को प्रतिनिधित्व दे दिया गया, तो स्वस्थ दल-पद्धति का विकास कैसे हो सकता था? फलतः प्रान्तों में उस प्रकार का उत्तरदायी शासन स्थापित न हो सका, जिसकी आशा की गई थी।

हस्तान्तरित और संरक्षित विषयों का भेद—द्वैध शासन-प्रणाली की असफलता का चौथा कारण हस्तान्तरित और संरक्षित विषयों का भेद था। उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त था। इन विषयों की अलग-अलग सूचियाँ अवश्य बनाई गई परन्तु व्यवहार में इस प्रकार का विभाजन पूर्णतः दोषयुक्त सिद्ध हुआ। मद्रास के के० वी० रेड्डी ने एक बार कहा था—"मैं जंगलों के बिना विकास मन्त्री था। मैं कृषि मन्त्री था, परन्तु सिंचाई मेरे नियन्त्रण में न थी। मैं उद्योग मन्त्री था, परन्तु कारखानों, बिजली, जल-शक्ति, खानों और श्रम आदि किसी पर मेरा

---

१. इस सम्बन्ध में सम्भवतः मद्रास ही एक अपवाद था। वहाँ अ-ब्रह्मणों की जस्टिस पार्टी का बहुमत था। उसने कुछ-कुछ संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का पालन किया। संयुक्त प्रान्त में, श्री सी० वाई० चिन्तामणि और पं० जगतनारायण ने इस प्रथा का चलाना प्रारम्भ किया। गवर्नर और श्री चिन्तामणि में शिक्षा-विभाग के एक कर्मचारी के कार्यों के विषय में मतभेद हुआ। पं० जगतनारायण का उसमें कोई सम्बन्ध न था, फिर भी दोनों मन्त्रियों ने एक ही साथ अपना त्यागपत्र गवर्नर के पास भेजा।

२. बंगाल में यही हुआ। वहाँ कलकत्ता म्युनिसिपल विधेयक के ऊपर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और उनके एक मुस्लिम साथी ने एक-दूसरे का विरोध किया। पंजाब में भी दो मन्त्रियों के बीच संघर्ष हो गया था।

your wishes will come true. Say "Thank you" and give me your penny.'

Tommy opened his eyes very wide and thanked her.

'Good afternoon,' she said, dropping his penny into the till.

Tommy ran, as hard as he could, to a certain field. He held the barley sugar tightly in his hand. He knew what he was going to wish for first. His eyes sparkled as he ran. Visions of what he would wish for later on floated vaguely in his mind—a lovely garden of vegetables for his mother, a lovely farm for his father, for himself a regiment of wooden soldiers, taller than he was. But these fair visions he hardly heeded. He was thinking only of his first wish.

That he might get more quickly into the field, he climbed through a break in the hedge, caring not how the brambles scratched him, and jumped over the ditch on to the grass beyond. There, after his run, flushed and trembling with excitement, he put the yellow stick to his lips He set his teeth upon the very edge of it, so as not to take more than a tiny bite. Then, shutting his eyes tight, he said aloud,

'I wish Jill to come here at once.'

And, when he looked, there stood Jill before him, in her Dunce's Cap. In her hand she held a spelling-book, and her eyes were full of tears But Tommy flung his arms round her neck, so quickly that the book and the cap both fell to the ground. Tommy kissed away all her tears

'Leave go, Tommy!' she cried at last. 'Tell me why I am here. Why am I in this field?' she asked, staring around.

'I wished for you to come, Jill,' the boy answered

'But I was in the school-room. Why am I in the field?'

प्रमुख या सेक्रेटरी होते थे। इनमें से अधिकांश व्यक्ति भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि मन्त्री जो भी आदेश दे, उसके अधीनस्थ पदाधिकारी उन आदेशों का अविलम्ब पालन करें। परन्तु द्वैध शासन प्रणाली के अन्दर यह स्थिति नहीं थी। साम्राज्यीय सेवाओं के ऊपर भारत-मन्त्री का ही नियन्त्रण बना रहा। १९१९ के एक्ट के अधीन सिविल सर्विसों के अधिकारों व प्राधिकारों की रक्षा करना गवर्नर का कर्तव्य ठहराया गया। व्यवहार में इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी पदाधिकारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और तरक्की पर गवर्नर का नियन्त्रण होता था, न कि उस मन्त्री का, जिसकी अधीनता में वे कार्य करते थे। उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु हो सकती थी। एक ओर तो अपने विभाग के समुचित शासन-प्रबन्ध के लिए मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी था और दूसरी ओर उसे इस बात की भी पूरी शक्ति नहीं दी गई थी कि वह अपने उन अधीनस्थ कर्मचारियों को दण्डित कर सकता, जो कि उसकी नीतियों को कार्यान्वित करने में बाधक होते थे। यदि मन्त्रियों और सिविल सर्विस के सदस्यों में किसी प्रकार का मतभेद होता, तो सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियों की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियों की सहायता से अपनी ही बात रख सकते थे। यद्यपि अधिकांश अवसरों पर सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियों के साथ सहयोग करते रहे, फिर भी प्रत्येक प्रान्त में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आए, जब सिविल सर्विस के सदस्यों ने मन्त्रियों की बात न मानी और यदि मानी भी तो बेमन से। सिविल सर्विस और मन्त्रियों के पूर्वोक्त सम्बन्ध के कारण भी द्वैध शासन प्रणाली कार्यरूप में दोषयुक्त और असफल सिद्ध हुई।

सारांश

१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने भारत की केन्द्रीय सरकार में कोई सारभूत परिवर्तन नहीं किया। उसने केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को कुछ शिथिल कर दिया और केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों की संख्या और उनकी शक्तियों में थोड़ी-सी वृद्धि कर दी। केन्द्रीय कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रही। व्यवस्थापिका को इतनी शक्तियाँ दे दी गईं, जिनसे कि वह कार्यकारिणी को नियन्त्रित तो नहीं, परन्तु प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली के रूप में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। यद्यपि ब्रिटिश भारत की एकात्मक प्रवृत्ति तो पूर्ववत् ही रही, तथापि प्रान्तों को थोड़ी स्वायत्तता दे दी गई।

गृह-सरकार—भारतवर्ष के सम्पूर्ण शासन संचालन का केन्द्र लन्दन ही रहा।

YAI AND THE MOON

1897

THE Bay of Yedo is all blue and yellow The village of Haokami is pink And Umanosuké, who ruled the village worthily, was a widower And Yai, his daughter, was wayward

The death of his wife had grieved Umanosuké 'She was more dear to me, he had cried over her tomb, 'than the plum tree in my garden, more dear than the half of all my pied chrysanthemums And now she is dead The jewelled honeycomb is taken from me Void is the pavilion of my desire As an untrod island, as a little island in a sea of tears, so am I My wife is dead What is left to me?' Yai, not more then than a baby, had sidled up to him, cooing, 'I, father!' And the villagers had murmured in lowly unison, 'We, great sir!' And so the widower had straightway put from him his hempen weeds and all the thistles of his despair, had lifted his laughing child upon his shoulder, and touched with his hand the bowed heads of the villagers, saying, 'Bliss, of all things most wonderful, is fled from me But Authority remains, and therefore will I make no more lamentation'

Henceforth Umanosuke lived for Authority Full of wisdom were his precepts, and of necessity his decrees Whenever the villagers quarrelled, as villagers will, among themselves, and struck one another with their paper fans and parasols, at his coming they would lie flat upon the

को राज्य-परिषद् कहते थे। उसके सदस्यों की संख्या ६० होती थी जिसमें कि ३४ सदस्य निर्वाचित होते थे। निम्न सदन को भारतीय व्यवस्थापिका सभा कहते थे। उसके कुल सदस्यों की संख्या १४५ होती थी जिसमें कि ४१, सरकारी और गैर-सरकारी सदस्य, मनोनीत होते थे। इस प्रकार दोनों सदनों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता था। परन्तु निर्वाचित सीटों की पूर्ति पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक गणों, और वर्ग निर्वाचक गणों के माध्यम से होती थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के पास प्रभुत्व-शक्ति का अभाव था। वह कानून बनाने वाली संस्था थी परन्तु उसकी क्षमता के ऊपर गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों के कारण बहुत प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

प्रान्तीय शासन—१६१६ के एक्ट ने प्रान्तों में उत्तरदायी शासन के प्रयोग को प्रारम्भ किया। प्रान्तीय शासन प्रबन्ध को दो भागों में बाँटा गया। एक भाग में गवर्नर अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सहित सम्मिलित था। यह भाग, राजस्व, कानून और व्यवस्था, इत्यादि सुरक्षित विभागों का प्रबन्ध करता था। शासन के इस भाग के ऊपर प्रान्तीय व्यवस्थापिका का बिलकुल नियंत्रण नहीं था। दूसरे भाग में गवर्नर और मन्त्री सम्मिलित थे। यह भाग कृषि, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन इत्यादि 'हस्तान्तरित' विषयों का प्रबन्ध करता था। मन्त्री लोग व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका उनके वेतन में कमी कर सकती थी और उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें पदच्युत कर सकती थी।

गवर्नर ही सम्पूर्ण प्रान्तीय प्रशासन का सूत्रधार था। द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना ने उसे हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में भी वैधानिक शासन नहीं बनाया। मन्त्री के परामर्श को मानना न मानना उसके हाथ की बात थी, वह उसकी अवहेलना कर सकता था। इसके अलावा, गवर्नर जनरल की ही तरह, उसकी भी कार्यकारिणी, विधायिनी और वित्तीय शक्तियाँ बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं।

१६१६ के एक्ट के अधीन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं—व्यवस्थापिका परिषदों को काफी विस्तृत कर दिया गया। मन्त्रियों से उनके द्वारा किए गए कार्यों का कारण पूछने का उन्हें नया अधिकार दिया गया। परन्तु गवर्नरों की प्रशासनिक सत्ता के कारण उनकी व्यवस्थात्मक व वित्तीय शक्तियों के ऊपर प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

१६१६ के एक्ट के अधीन जिस द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की गई, उसे *अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली अर्थात् वह प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित विभागों* में उत्तरदायी सरकार की स्थापना न कर सकी। गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना में सबसे बड़ी, अलंघ्य बाधाएँ थीं। मन्त्री मनोनीत सदस्यों के गुट की सहायता से अपनी गद्दी पर जमे रह सकते थे। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापिका के प्रति वे कम उत्तरदायी रहते थे। प्रान्तीय शासन में संयुक्त उत्तर-

than which I can find no better simile for your mother, it is already fifteen round years. And lo! in nothing but dreams and truancy have you spent your girlhood. I, who begat you, have grown sad in contemplating all your faults. Had I not, knowing the wisdom of the philosophers, believed that in the span of every life there is good and evil equally distributed, and that your evil girlhood was surely the preamble of a most perfect prime, your faults had been intolerable. But I was comforted in my belief, and when I betrothed you to young Sanza, the son of Oiyâro, my heart was filled with fair hopes. Only illusions!'

'But, father,' said Yai, 'I do not love Sanza.'

'How can you tell that you do not love him,' her father demanded, 'seeing that you hardly know him?'

'He is ugly, father,' said Yai. 'He wears strange garments. His voice is harsh. Twice we have walked together by the side of the sea, and when he praised my beauty and talked of all he had learned at the university, and of all he wished me to learn also, I knew that I did not love him. His thoughts are not like mine.'

'That may well be,' Umanosuke answered, 'seeing that he was held to be the finest student of his year, and that you are more ignorant than a hare. As for his face, it is topped with the highest forehead in Haokami. As for his garments, they are symbols of advancement. In fourteen languages he can lift his voice. I am an old man now, a man of the former fashion, and many of Sanza's thoughts seem strange to me, as to you. But when I am in his presence I bow humbly before his intellect. He is a marvellous young man, indeed. He understands all things. If you mean that you are unworthy of him, I certainly agree.'

असहयोग आन्दोलन

५८. प्रथम विश्वयुद्ध और भारतीय राष्ट्रीयता

युद्ध और राष्ट्रीयता—कूपलैंड ने लिखा है कि "युद्ध राष्ट्रीयता को प्रकृष्ट कर देता है।"[1] प्रथम विश्वयुद्ध ने इसका एक दृष्टान्त प्रदान किया। ब्रिटिश और अमेरिकन राजनीतिज्ञों द्वारा घोषित राष्ट्रीय 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त ने यूरोप में एक उत्तेजना उत्पन्न कर दी। इसी सिद्धान्त के अनुसार कई नूतन राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की गई। पूर्व भी इससे अप्रभावित न रह सका। चीन और मध्यपूर्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन जोर-शोर से प्रादुर्भूत हुए। युद्ध ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को भी अपूर्व सामर्थ्य प्रदान की। युद्ध के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और दिशा दोनों में परिवर्तन हो गया।

आन्तरिक कारण : (क) आर्थिक कठिनाइयाँ---कई ऐसे आन्तरिक कारणों ने भी जो कि सीधे युद्ध से सम्बद्ध थे—राष्ट्रीय आन्दोलन की गति को तीव्र कर दिया। युद्धकाल में भारतवर्ष को भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। अनिवार्य सामग्रियों की कमी और महँगी के कारण जनता को बहुत कष्ट उठाने पड़े थे। मध्यवर्ग और निर्धन वर्ग की जनता की तो मानो कमर ही टूट गई थी। चीजों के दाम बहुत ऊँचे चढ़ गए थे, दूकानदार भरपेट मुनाफा कमाते थे, अनुचित लाभ उठाने पर अंकुश रखने अथवा बहुत जरूरी चीजों पर राशन लगाने की कोई कोशिश नहीं की गई थी। एक ओर तो भारत में भुखमरी फैल रही थी, दूसरी ओर सरकार ने महायुद्ध के लिए धन एकत्र करने में ज्यादती से काम लिया। भारत सरकार ने देश की आर्थिक दुर्व्यवस्था का तनिक भी ध्यान न रखते हुए ब्रिटेन को दस करोड़ पौ० की भेंट दी। जनता की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि कुछ स्थानों पर मजदूरों ने हड़तालें कीं, कहीं-कहीं बलवे हो गए और बाजार लूट लिए गए।[2] चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) में हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। वहाँ की

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट," पृ० ११७।

२. "इण्डिया इन १६१७-१८," पृ० ६०।

desolate. Of no man but him can I be the bride.'

Umanosuké raised his hand. 'The Moon,' he said, 'is the sacred lantern that our God has given us. We must not think of it but as of a lantern. I do not know the meaning of your thoughts. There is mischief in them and impiety. I pray you, put them from you, lest they fall as a curse upon your nuptials. I did but send for you that I might counsel you to bear yourself this afternoon, in Sanza's presence, as a bride should, with deference and love, not with unmaidenly aversion. It is not well that the bridegroom, when he comes duly on the eve of his wedding to kiss the hand of his bride, and to sprinkle her chamber with rose-leaves, should be treated ungraciously and put to shame. Little daughter, I will not argue with you. Know only that this wedding is well devised for your happiness. If you love me but a little, try to please me with obedience. I am older than you, and I know more Behave, I beseech you, better!'

Yai ran into the garden, weeping.

She paced up and down the long path of porcelain She beat her hands against the bark of her father's favourite uce-tree, whose branches were always spangled with fandangles, and cursed the name of her bridegroom. For hours she wandered among the flower beds, calling upon the name of her love.

The gardeners watched her furtively from their work, and murmured, smiling one to another, 'This evening we need not carry forth our water-jars, for Yai has watered all the flowers with her tears'

When the hour came for her bridegroom's visit, Yai had bathed her eyes in orange-water, and sat waiting at her

बिलकुल बेकार गई।

खिलाफत-प्रश्न—खिलाफत प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रुष्ट हुए। जब लड़ाई चल रही थी, ब्रिटिश सरकार ने उन्हें यह वचन देकर कि न तो टर्की-साम्राज्य का ही विघटन किया जाएगा, और न खिलाफत का ही अन्त किया जाएगा उनकी सहायता प्राप्त की थी। परन्तु युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भारतीय मुसलमानों को पता चला कि अंग्रेजों के ये सब वचन केवल उन्हें भुलावे में डालने के लिए ही थे। इस बात की काफी अफवाहें थीं कि मित्र राष्ट्र टर्की-साम्राज्य का विघटन करने और खिलाफत को समाप्त करने के लिए कमर कसे हुए हैं। सीवर्स की सन्धि ने अंग्रेजों की दोहरी चाल का पर्दा फाश कर दिया। इससे भारत के मुसलमानों को गहरा धक्का पहुँचा और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन को प्रारम्भ किया। राष्ट्रीयता की नई भावना के उत्पन्न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि १९१५ में गोखले की मृत्यु होने के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व में परिवर्तन हो गया था।

उदारवादियों का अलगाव और राष्ट्रीय नेतृत्व में परिवर्तन—१९१८ में उदारवादी कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने अपने एक अलग संगठन—अखिल भारतीय उदारवादी संघ—की स्थापना की। चूँकि उनका वैधानिकवाद में ही विश्वास था अतः वे होमरूल आन्दोलन की प्रकृष्टता द्वारा प्रदर्शित राष्ट्रीय संघर्ष की नूतन प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुपयुक्त थे। परन्तु उनके कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद करने का असली कारण १९१८ में प्रकाशित मोंटफोर्ड प्रतिवेदन में निहित वैधानिक सुधारों के प्रति उनका अपना दृष्टिकोण था। वे इन सुधारों को ब्रिटिश सद्भावना का प्रतीक मानते थे। इसके विपरीत उस समय कांग्रेस में उग्रवादियों का जोर था। वे मोंटफोर्ड प्रतिवेदन से सर्वथा असहमत थे। उदारवादियों के निकल जाने के बाद कांग्रेस महात्मा गांधी के गतिशील नेतृत्व में आ गई और उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नूतन दिशा और नवीन गति प्रदान की।

५९ रौलट एक्ट

रौलट एक्ट की पृष्ठभूमि—१९१८ में सरकार ने सर सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी यह जाँच करने के लिए नियुक्त की कि भारतवर्ष में किस *प्रकार और किस हद तक क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्बन्धी षड्यन्त्र फैले हुए हैं और* उनका मुकाबला करने के लिए कैसे कानूनों की आवश्यकता है। भारत-रक्षा कानून की अवधि अब शीघ्र ही समाप्त होने वाली थी और सरकार 'विध्वंसात्मक' कार्यवाहियों को कुचल डालने के लिए अपने आपको शस्त्र सज्जित कर लेना चाहती थी। यद्यपि महायुद्ध अब समाप्त होता जा रहा था, फिर भी सरकार शंकाकुल थी। उसे

'Sanza,' she said, when he ceased, 'will you release me? If you think me mad, you cannot wish me to be your bride.'

For a moment Sanza hesitated—only for a moment.

'*Madness*,' he said, '*is a question of degree. We are* all potentially mad. If you were left to indulge in these absurd notions, you would certainly become mad, in time. As it is, I fancy you have a touch of Neuromania. And when you speak I have noticed a slight tendency to Echolalia But these are trifles, my dear. Any sudden change of life is apt to dispel far more serious symptoms. Your very defects, small though they are, will make me all the more watchful and tender towards you when I am your husband.'

'You are very cruel and very cowardly,' sobbed Yai, 'and I hate you!'

'Nonsense!' said Sanza, snatching one of her hands and kissing it loudly.

In another minute the room had been sprinkled with rose-leaves, and Yai was alone.

At sunset her father came to the room and bent over her and kissed her. 'Do not weep, little daughter,' he said 'It is well that you should be wed, though you are so unwilling. Sleep happily now, little daughter. To-morrow, all in your honour, the way will be strewn with anemones and golden grain. Little lanterns will waver in the almond trees.'

Yai spoke not a word.

But when her father had reached the threshold of her room, she ran swiftly to him and flung her arms around his neck, and whispered to him through tears, 'Forgive me for being always an evil daughter.'

गांधी अपने साथ जीवन का एक विशिष्ट दर्शन और एक ऐसी राजनीतिक टेकनीक लाए थे, जिनकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी।[1]

स्पष्ट घोषित राजभक्त—उस समय महात्मा गांधी 'स्पष्ट घोषित राजभक्त' थे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी राजभक्ति का वह गर्वपूर्वक उल्लेख किया करते थे। उनका कथन था कि "ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनसे मुझे प्रेम हो गया है।" सरकार ने भी उन्हें कैसरे-हिन्द-स्वर्ण-पदक प्रदान कर उनकी प्रतिष्ठा की थी। भारतवर्ष में आकर उन्होंने गोखले को अपना राजनीतिक गुरु बनाया और उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त किया। गोखले ने उन्हें सलाह दी कि भारतीय राजनीति में कूद पड़ने से पूर्व कुछ समय तक वे उसका गम्भीर अध्ययन करें। महात्मा गांधी ने तदनुसार दो वर्ष के करीब सारे देश का भ्रमण करने में व्यय किए। जहाँ कहीं भी महात्मा गांधी गए, उनका यश उनके आगे-आगे गया और जनता ने सन्त और वीर के रूप में उनका आदर किया। अपनी इस यात्रा के काल में महात्मा गांधी ने सक्रिय राजनीति में कोई भाग नहीं लिया।

चम्पारन—१९१७ में चम्पारन ने महात्मा गांधी का आह्वान किया। वहाँ नील की खेती होती थी और अंग्रेज उसके मालिक थे। वे लोग किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। महात्मा गांधी ने किसानों की कठिनाइयों के बारे में सूक्ष्म जांच-पड़ताल की और वे उनके कष्टों को दूर करने में सफल हुए। इससे गांधीजी की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई।

खेड़ा—अगले वर्ष उन्होंने खेड़ा में 'कर नहीं' आन्दोलन का संगठन किया। खेड़ा में उस वर्ष वर्षा नहीं हुई थी, इससे फसल पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था। इस आन्दोलन में ही महात्मा गांधी सरदार पटेल के निकट सम्पर्क में आए। खेड़ा में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का जो प्रयोग किया था वह समझौते के रूप में सफल हुआ, गांधीजी के अनुयायियों ने इसको अपनी बहुत बड़ी विजय समझा।

अहमदाबाद—उसी वर्ष अहमदाबाद के मिल-मजदूरों ने भी महात्मा गांधी से सहायता की याचना की। वे लोग अपनी वेतन वृद्धि के लिए आन्दोलन कर रहे थे। महात्मा गांधी ने मजदूरों को सहायता का वचन दिया और मिल-मालिकों से कहा कि वे उनकी मांगों को पूरा करें। जब मिल-मालिक नहीं माने, तो गांधी जी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। उपवास के चौथे दिन मिल-मालिकों ने गांधी जी की शर्तों को स्वीकार कर लिया और मजदूरों के वेतन में ३५ प्रतिशत वृद्धि हो गई।

---

१. एच० एस० पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० ६५।

sound as of weeping, she had no fear, but only love in her heart. Gazing steadfastly before her at that glimmering white line where the sky curves down upon the sea, and ever whispering through her lips the name of her love, she held her swift course over the waters.

Clearer, clearer to her gaze grew the white line and the arched purple that rested on it. Another minute, and she could hear the waves lapping its surface, a sweet monotony of music, seeming to call her on. A few more strokes of her paddle, swept with a final impulse, and the boat bore her with a yet swifter speed. Soon she suffered it to glide on obliquely, till it grazed the white line with its prow. She had reached the tryst of her devotion. Faint and quivering, she lay back and waited there.

After a while, she leant over the side of the boat and peered down into the sea Far, far under the surface she seemed to descry a little patch of silver, of silver that was moving. She clasped her hands to her eyes and gazed down again. The silver was spreading, wider and wider, under the water, till the water's surface became even as a carpet of dazzling silver.

The Moon rose through the sea, and paused under the canopy of the sky.

So great, so fair was he, of countenance so illustrious, that little Yai did but hide her head in the folds of her garment, daring not to look up at him.

She heard a voice, that was softer and more melancholy than the west wind, saying to her, 'Child of the ruler of Haokami, why sought you to waylay me?' And again the voice said, 'Why sought you to waylay me?'

'Because,' Yai answered faintly, 'because I have long loved you.'

पर भगड़े हो गए। दिल्ली में जनता और पुलिस के बीच संघर्ष हो गया। पुलिस ने गोली चला दी जिसमें आठ आदमियों की मृत्यु हो गई। बम्बई, ग्रहमदाबाद, कलकत्ता, लाहौर और अमृतसर में भी इसी तरह के खतरनाक झगड़े हो गए। इन हालतों को देखकर महात्मा गांधीजी की आत्मा को अपार क्लेश हुआ और उन्होंने १८ अप्रैल को अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया क्योंकि जनता अहिंसा का पालन करने में असफल रही थी। महात्मा गांधी ने सारा दोष अपने सिर ले लिया। उन्होंने इस बात की घोषणा कर दी कि आन्दोलन शुरू करना उनकी 'भयंकर भूल' थी। अपनी इस भूल के प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने तीन दिन का उपवास रखा और जनता से भी एक दिन का उपवास रखने का निवेदन किया।

६१. पंजाब की दुर्घटनाएँ

पंजाब का अशान्तिमय वातावरण—अप्रैल १६१६ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में चिरस्मरणीय महीना है। रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गांधी ने जिस सत्याग्रह आन्दोलन को खड़ा किया था, उसने देश में अत्यन्त भयावह वातावरण उत्पन्न कर दिया था। परन्तु पंजाब की हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। इस प्रान्त में रौलट एक्ट विरोधी आन्दोलन के सिलसिले में लाहौर और अमृतसर आदि स्थानों पर कुछ हिंसात्मक घटनाएँ भी हो गई थीं। "परन्तु वहाँ कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं था'''और जनता के नेता आन्दोलन के शान्तिपूर्ण व वैधानिक उपायों में विश्वास रखते थे।"[१]

सर माइकेल ओडायर—उस समय पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर थे। वह पंजाब के लौह पुरुष के नाम से विख्यात थे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वह शासक बहुत अच्छे थे, परन्तु राजनीतिज्ञता का उनमें सर्वथा अभाव था।[१] उन्होंने लड़ाई के लिए सिपाही भरती करने और धन एकत्रित करने में जिन अमानुषीय साधनों का प्रयोग किया था, उनसे वह पहले ही जनता में काफी बदनाम हो चुके थे। उन्होंने अपने प्रान्त में सारी राजनीतिक हलचलों को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने पंजाब के चारों ओर लोहे का एक आवरण डाल दिया और महात्मा गांधी तथा अन्य चोटी के राष्ट्रीय नेताओं को पंजाब में प्रवेश करने से रोक दिया। ७ अप्रैल, १६१६ को पंजाब व्यवस्थापिका सभा में भाषण देते हुए उन्होंने जन-आन्दोलन के

---

१. जी० एन० सिंह—"लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट," पृ० ३८२।

१. सी० वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स म्यूटिनी", पृ० १२८।

married that impertinent little fellow, who is always spying at me through his confounded telescope. And there he is, to be sure! up betimes and strutting about his garden, with a fine new suit on! Quite the bridegroom!'

लगातार १० मिनट तक गोलियों की बौछार को जारी रखा मनुष्यों के उस आतंकित झुण्ड पर, जिसे कि चूहों के तुल्य पिंजड़े में पकड़ रखा गया था।"[1] डायर ने हण्टर-कमेटी के सामने यह कहा था, मैं तो एक फौजी गाड़ी (आर्मर्ड कार) ले गया था, लेकिन वहाँ जाकर देखा कि वह बाग के भीतर घुस ही नहीं सकती थी इसलिए उसे वहीं बाहर छोड़ दिया था।"

मार्शल ला और आतंक का राज्य—पंजाब में अधिकारी वर्ग ने जो नृशंसताएँ कीं, जलियाँवाला बाग की घटना उन सबमें भयकर थी। इस कत्लेआम के दो दिन बाद पंजाब के ५ जिलों में सैनिक विधान (Martial Law) घोषित कर दिया गया और उसे अमानवीय निर्दयता के साथ लागू किया गया। 'जनरल डायर के राज्य में कुछ ऐसी सजाएँ देखने को मिलीं, जिनका स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता था।' अमृतसर के नलों में पानी बन्द कर दिया गया था और बिजली काट दी गई थी। जिस गली में मिस शेरवुड पर आक्रमण हुआ था, उस गली में लोगों को पेट के बल रेंगकर जाने की आज्ञा थी। सबके सामने बेंत लगाना आम तौर पर चालू था। रेलवे स्टेशनों पर तीसरे दर्जे का टिकट बेचने की मनाही कर दी गई थी। स्कूल और कालिज के छात्रों के लिए यह आज्ञा थी कि वे दिन में चार बार फौजी अफसरों के सामने विभिन्न स्थलों पर हाजिरी दिया करें। कई स्थानों पर किसानों की भीड़ पर गोलियाँ चलाई गईं और हवाई जहाजों से मशीनगन चलाई गई। यह आदेश जारी कर दिया गया था कि जब कोई हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर को मिले तो वह उसको सलाम करे, अगर सवारी में जा रहा हो या घोड़े पर सवार हो तो उतर जाए, अगर छाता लगाए हुए हो, तो नीचे झुका दे। यह आदेश इसलिए दिया गया था ताकि लोगों को मालूम हो जाए कि "उनके नए मालिक आए हैं।" यदि स्कूल और कालिज के लड़के साहबों को सलाम नहीं करते, तो उनके कोमल बदन पर नृशंसता-पूर्वक बेंतों की मार पड़ती थी।

हण्टर-कमेटी—जब पंजाब की इन दुर्घटनाओं का समाचार देश के दूसरे भागों में पहुँचा, तो जनता में चारों ओर सनसनी-सी फैल गई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस नौकरशाही बर्बरता के विरोध में अपनी 'सर' की उपाधि को त्याग दिया। चारों ओर से इस बात की माँग आने लगी कि पंजाब की इन सारी दुर्घटनाओं की जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए। सरकार ने इस सम्बन्ध में बड़ी शिथिलता का परिचय दिया। जलियाँवाला बाग की दुर्घटना के चार महीने बाद उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए

१. वही।

सरकार के साथ सहयोग करने का समर्थन करते थे। सुधार-कानून के सम्बन्ध में पहले कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि सुधार-कानून "अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशापूर्ण है।" लेकिन बाद में महात्मा गांधी के प्रभाव से उक्त प्रस्ताव में यह टुकड़ा और जोड़ दिया गया कि "लोग सुधारों को इस प्रकार काम में लाएँगे जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके।" ब्रल्सफोर्ड ने लिखा है—"अब भी, १९१९ के अन्तिम दिनों में भी, वह (महात्मा गांधी) राजभक्त थे, अब भी वह अपने गुरु गोखले के शिष्य थे।

सीवर्स की संधि—परन्तु १९२० की गरमी के दिनों में हालत बिलकुल बदल गई। हन्टर कमेटी की रिपोर्ट और सीवर्स की सन्धि के प्रकाशन ने भारतीय जनता को और भी अधिक हिलाकर रख दिया। सीवर्स की सन्धि के फलस्वरूप टर्की को अपने प्रदेशों से वंचित होना पड़ा। थ्रेस यूनान को नजर कर दिया गया और टर्की-साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को ब्रिटेन और फ्रांस ने लीग के आज्ञा-पत्रों के बहाने आपस में बाँट लिया। मित्र-राष्ट्रों के द्वारा एक हाई कमीशन नियुक्त किया गया जो हर लिहाज से टर्की का असली शासक बना दिया गया और सुल्तान एक कैदीमात्र रह गया। हम (इस बात को) पहले देख चुके हैं कि टर्की के प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रोषावेष्टित हो गए थे। लेकिन उन्होंने इंगलैण्ड की सहायता उन वचनों पर विश्वास करके की थी, जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज ने दिए थे। लॉयड जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि "हम टर्की को उसके एशिया माईनर और थ्रेस के प्रसिद्ध और समृद्ध द्वीपों से वंचित करने के लिए, जिनकी आबादी मुख्यतः तुर्क है, लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं।" लेकिन जब युद्ध समाप्त हुआ, तो इंगलैण्ड ने अपने वचन को बुरी तरह भंग कर दिया। टर्की के सुल्तान के स्थान पर खलीफा पद के लिए मक्का के हाकिम और कर्नल लारेंस के कृपापात्र शेख हुसन के दावों को स्वीकार किया गया और उनका प्रचार किया गया।

भारत में असन्तोष—इंगलैण्ड के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों को तीव्र आघात पहुँचा और देश में एक शक्तिशाली खिलाफत आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उनकी माँग थी, "टर्की साम्राज्य का संधारण किया जाए और एक ऐहिक व आध्यात्मिक संस्था के रूप में खिलाफत का अविच्छिन्न अस्तित्व बना रहे।" १९ जनवरी, १९२० को डॉ० अन्सारी की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला और [illegible] उन्हें बताया कि टर्की साम्राज्य और खलीफा को बनाए रखना कितना आवश्यक [illegible]र शिष्टमण्डल का संगठन महात्मा गांधी के मार्ग-दर्शन में किया गया था। १९२० के मार्च में एक मुस्लिम शिष्टमण्डल मौलाना मोहम्मद अली के नेतृत्व में इंगलैण्ड गया, लेकिन वहाँ से निराश होकर वापस आ गया। अली-बन्धु कांग्रेस में

सम्मिलित हो गए और उन्होंने खिलाफत ग्रान्दोलन का नेतृत्व सम्भाल लिया। मुस्लिम मौलवियों और उलेमाओं ने १९१९ में अपना एक संगठन 'जमीयतउल उलेमा' स्थापित कर लिया था। वे भी खिलाफत आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ अत्यन्त उग्र हो गईं।

महात्मा गांधी द्वारा असहयोग प्रारम्भ करने का निश्चय—महात्मा गांधी टर्की के प्रश्न पर मुसलमानों के साथ पहले ही संवेदना व्यक्त कर चुके थे। कई हिन्दू राष्ट्रवादियों ने भी अपने मुस्लिम सहयोगियों के सुर में सुर मिलाया। महात्मा गांधी की दृष्टि में खिलाफत का प्रश्न एक ऐसा सुअवसर प्रदान करता मालूम पड़ता था जिससे कि हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित की जा सकती थी और जो १०० वर्षों में भी हाथ नहीं आ सकता था।" सीवर्स सन्धि की शर्तों में संशोधन कराने, पंजाब के अन्यायों को दूर करने और भारत को स्वराज्य की ओर ले जाने के उद्देश्य से उन्होंने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इस प्रकार के आन्दोलन के लिए इस समय भारतवर्ष में बिलकुल उपयुक्त वातावरण तैयार था।" खिलाफत और पंजाब के अत्याचारों तथा अपर्याप्त सुधारों की फल्गु ने उबलती हुई त्रिवेणी का रूप धारण कर लिया। इस त्रिधारा ने राष्ट्रीय असन्तोष के प्रवाह को और भी प्रबल कर दिया।[1]

६३. असहयोग आन्दोलन पर कांग्रेस की स्वीकृति

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन: कलकत्ता, सितम्बर १९२०—अब महात्मा गांधी को इस बात का दृढ़ विश्वास हो गया था कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को ही समान भाव से अपने असहयोग आन्दोलन की पताका के नीचे एकत्रित कर सकते हैं। सितम्बर, १९२० में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने अहिंसक असहयोग की नीति को अपनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि कांग्रेस अहिंसक असहयोग की नीति पर उस समय तक चलेगी "जब तक कि कथित अन्याय दूर नहीं हो जाएँगे और स्वराज्य की स्थापना नहीं जाएगी।"[2] प्रस्ताव के पक्ष में १८८६ और विपक्ष में ८८४ मत पड़े थे। विपिनचन्द्रपाल, देशबन्धु चितरंजनदास, पं० मदन मोहन मालवीय, मि० जिन्ना और श्रीमती एनी बीसेण्ट ने प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। तिलक की ३ जुलाई, १९२० को मृत्यु हो चुकी थी, उनके अनुयाइयों ने खापड़े के नेतृत्व में महात्मा

१. पट्टाभि सीता रामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस", पृ० ३३५।
२. वही, पृ० ३४१।

गांधी की योजना का प्राणपण से विरोध किया। और तो और इस के अधिवेशन अध्यक्ष लाला लाजपतराय तक भी महात्मा गांधी के इस असहयोग के प्रस्ताव के विरुद्ध थे।

नागपुर अधिवेशन, दिसम्बर, १६२०—कांग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्बर, १६२० में नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी के प्रोग्राम को विधिवत् स्वीकार कर लिया गया। इस बार प्रस्ताव के पक्ष में बहुत अधिक मत पड़े। सी० आर० दास ने प्रस्ताव का जी-जान से विरोध किया लेकिन उनकी एक भी नहीं चली। लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया, तब उन्होंने महात्मा गांधी को पूरा सहयोग देने का वचन दिया।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—नागपुर अधिवेशन का महत्त्व इस कारण भी है कि उसके बाद से कांग्रेस की नीति में परिवर्तन हो गया। नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय "इस तर्ज से बदल दिया गया कि उसमें ब्रिटिश सम्बन्ध व वैध-आन्दोलन का, जिसमें कांग्रेस अभी तक विश्वास करती थी, कोई उल्लेख ही न रहा।" अब कांग्रेस का ध्येय "शान्तिमय व उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना"[१] घोषित किया गया। कलकत्ता और नागपुर के अधिवेशनों ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अब गांधी-युग का निश्चित रूप से सूत्रपात हो चुका था। कांग्रेस के समूचे दृष्टिकोण को, उसकी तर्ज को बदलने में गांधी जी को सफलता मिली। पहले जहाँ यूरोपीय वस्त्रों की प्रधानता रहती थी वहाँ अब खादी के वस्त्र सुशोभित होने लगे।

कांग्रेस में एक नूतन उत्साह का, नूतन प्राणधार का, नूतन प्रेरणा का सचार हुआ। अब तक कांग्रेस की गति में कुछ विशेष जान नहीं मालूम पड़ती थी, अब उसने वेगवान महानदी का रूप धारण कर लिया और वह द्रुतगति से अपने निश्चित लक्ष्य की ओर चल पड़ी। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में—"नागपुर कांग्रेस से वास्तव में भारत के इतिहास में एक नया युग पैदा होता है। निर्बल क्रोध और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं का स्थान उत्तरदायित्व के एक नए भाव और स्वावलम्बन की एक नई भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव कर लिया, कि यदि उसे स्वतन्त्र होना है, तो उसे उसके लिए स्वयं प्रयास करना पड़ेगा।"[२]

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस", पृ० ३५२।

२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस", पृ० ३५३।

६४. असहयोग आन्दोलन

असहयोग का कार्यक्रम—महात्मा गांधी ने अगस्त, १९२० में असहयोग आन्दोलन को प्रारम्भ किया। असहयोग का कार्यक्रम निम्नलिखित था—(१) सरकारी उपाधियाँ और अवैतनिक पद छोड़ दिए जाएँ और स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्य अपना स्थान रिक्त कर दें। (२) न तो सरकारी उत्सवों या दरबारों में शामिल हुआ जाए और न सरकार द्वारा या सरकार के सम्मान में किए गए सरकारी या गैरसरकारी उत्सवों में। (३) सरकारी, या सरकारी सहायता-प्राप्त या सरकार के अधीन स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार किया जाए और इन स्कूलों और कालिजों के स्थान पर राष्ट्रीय स्कूल और कालिज स्थापित किए जाएँ। (४) धीरे-धीरे सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाए और झगड़ों के निबटारे के लिए पंचायती अदालतें स्थापित की जाएँ। (५) सैनिक, क्लर्की और मजदूरी पेशेवाले लोग मेसोपोटामिया में काम करने के लिए भर्ती न हों। (६) सुधार योजना के अनुसार बनने वाली व्यवस्थापक सभाओं के उम्मीदवार उम्मीदवारी वापस ले लें और कांग्रेस के निर्णय के प्रतिकूल खड़े होने वाले उम्मीदवारों को कोई वोटर वोट न दे। (७) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए। प्रत्येक घर में हाथ की कताई व बुनाई पुनर्जागृत की जाए। कांग्रेस के और खिलाफत के नेताओं ने साथ-साथ मिलकर काम किया। हिन्दू मुस्लिम एकता का नारा हर जिल्ला से सुनाई देता था। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है-- "सर्वत्र हिन्दू-मुसलमान की जय का बोल बाला था।" महात्मा गांधी ने यह खुले तौर पर कह दिया था कि इस आन्दोलन में अहिंसा का कड़े रूप से पालन होना चाहिए। जब अली-बन्धुओं ने कुछ ऐसे भाषण दिए जिनसे कि इस बात का सन्देह हो सकता था कि वे हिंसा को उत्तेजित करते हैं तो महात्मा गांधी ने सार्वजनिक रूप से इस प्रकार के प्रत्येक इरादे की निन्दा करवाई जो कि हिंसा के प्रचार करने का उद्देश्य अपने सामने रखता हो। महात्मा गांधी का तो केवल आत्म-बल और अहिंसा में ही विश्वास था। वह इसी शक्ति के द्वारा सरकार के पाशविक बल का सामना करना चाहते थे।

महात्मा गांधी ने कह तो यह रखा था कि असहयोग आन्दोलन के द्वारा एक ही वर्ष में स्वराज्य प्राप्त हो जाएगा। यद्यपि उनका यह वचन तो पूरा नहीं हुआ, परन्तु फिर भी असहयोग आन्दोलन का प्रभाव अत्यन्त सराहनीय पड़ा। नई कौंसिल का जो बहिष्कार किया गया, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। कांग्रेस के आदमियों ने अपनी उम्मीदवारी को वापस ले लिया और २/३ से अधिक मतदाताओं ने अपने मत ही नहीं डाले। कुछ स्थानों पर तो मतदान पेटियाँ बिलकुल खाली की खाली पड़ी रहीं। राज्य-नियन्त्रित स्कूलों और कालिजों से विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में बाहर निकल

जाए। महात्मा गांधी ने स्कूलों और कालिजों के बारे में कहा था कि ये तो क्लर्क तैयार करने के कारखाने हैं। कई स्थानों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की गई। काशी विद्यापीठ, बंगाल और पंजाब के राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों और दिल्ली की जामिया-मिलिया आदि की स्थापना उसी समय की गई थी। वकीलों ने भी बहुत बड़ी तादाद में अदालतों का बहिष्कार किया। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले वकीलों के भरण-पोषण के लिए सेठ जमनालाल बजाज ने एक लाख रुपए का दान दिया। कांग्रेस और खिलाफत के स्वयं सेवकों ने विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग की। खिलाफत-परिषद ने किसी भी मुसलमान के लिए ब्रिटिश सरकार की नौकरी करना 'हराम' घोषित कर दिया और एक फरमान जारी करके सहृदय मुसलमानों से यह मांग की कि वे सेना और पुलिस की नौकरी को बिलकुल त्याग दें। संक्षेप में असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की जो भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ हैं, उन सबका बहिष्कार कर दिया जाए और इस प्रकार सरकार की मशीनरी बिलकुल ठप्प हो जाए।[1]

प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत-यात्रा—असहयोग आन्दोलन ने जनता के उत्साह को बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँचा दिया था। इस आन्दोलन ने जनता के हृदय में आशा-वाद, स्वावलंबन, उत्तेजना और निर्भीकता का अपूर्व संचार किया था। सरकार की समझ में नहीं आता था कि इस परिस्थिति का कैसे सामना किया जाय। वह हैरान और परेशान थी। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने *'अमन सभाएँ' स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु यह चेष्टा नितान्त असफल सिद्ध हुई। १६२१-२२ के जाड़े में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आने वाले थे। सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी, कि जब तक प्रिंस ऑफ वेल्स भारत में ठहरें, यहाँ के वातावरण में पूर्ण शान्ति बनी रहे।* लेकिन कांग्रेस ने निश्चय किया कि प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत के सम्बन्ध में जो भी उत्सवादि हों, उन सबका बहिष्कार किया जाए। कांग्रेस ने अपने इस निश्चय को कार्यरूप में भी परिणत किया। प्रिंस ऑफ वेल्स २७ नवम्बर को भारत पधारे; देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक जहाँ कहीं भी वह गए, हड़तालों और शोक-प्रदर्शनों से उनका स्वागत हुआ। यह परिस्थिति बहुत कुछ दुर्भाग्यपूर्ण थी क्योंकि बेचारे युवराज का तो कोई दोष था नहीं। पं० मदनमोहन मालवीय और मि० जिन्ना ने *समझौते के लिए कठिन परिश्रम किया। वायसराय भी समझौता करने के इच्छुक थे,* वह 'शान्ति के लिए ऊँची कीमत देने को तैयार थे,' लेकिन महात्मा गांधी ने समझौते की किसी वार्ता में भाग लेने से इनकार कर दिया। उस समय अली बन्धु जेल में थे।

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० ११८-१६।

गांधी जी ने कहा कि जब तक सरकार अली बन्धुओं को जेल से मुक्त नहीं कर देती, समभौते की वार्ता से कोई लाभ नही निकलेगा। फलतः सरकारी अफसरों और कुछ राजभक्त भारतियों के सिवा प्रिंस ऑफ वेल्स का किसी ने भी स्वागत नहीं किया। कुछ स्थानों पर तो थोड़ी-सी हिंसक घटनाएँ भी हो गई वैसे आमतौर पर प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार सब स्थानों पर शान्तिपूर्ण रीति से हुआ। बम्बई में बल्वा हो गया, जिस पर महात्मा गांधी ने घोर व्यथा व्यक्त की।

सरकार का दमन-चक्र—अब नौकरशाही ने अपना दमन-चक्र पूरे जोशो-खरोश के साथ चलाना शुरू किया। भारत-सरकार ने सभी स्थानीय सरकारों को इस बात का आदेश दिया कि वे असहयोग आन्दोलन को बिना किसी झिझक के पूरी तरह से कुचल कर रख दे। १६२२ के समाप्त होने के पूर्व ही पूर्व; जब कि महात्मा गांधी के वचनानुसार भारत को स्वराज्य मिलने वाला था, अधिकांश नेताओं, अली बन्धुओं, मोतीलाल नेहरू, चितरंजनदास, अबुल कलाम आजाद, लाला लाजपतराय, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस आदि को पकड़कर जेल में ठूँस दिया गया। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों को बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया और कैदियों की संख्या शीघ्र ही ५०,००० तक पहुंच गई। सभी सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दी गई और राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को गैर-कानूनी निकाय घोषित किया गया।

कांग्रेस का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय—सरकार की इस दमन नीति की कांग्रेस के ऊपर यह प्रतिक्रिया हुई कि उसने अपने अहमदाबाद अधिवेशन (१६२१) में व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों रूपों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव द्वारा महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सर्वाधिकारी नियत किया। सच तो यह है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन एक प्रकार से कुछ स्थानों पर पहले से ही प्रारम्भ हो गया था। १६२१ में मिदनापुर में एक 'कर-नहीं' आन्दोलन का सफलतापूर्वक संचालन किया गया था। महात्मा गांधी ने वायसराय को स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया कि वे बारदोली और गन्तूर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहते हैं। गांधीजी ने अपने पत्र में यह भी लिखा कि अगर सरकार "उन सभी कैदियों को मुक्त कर दे जो अहिंसात्मक कार्यों के लिए जेल गए हैं" और "देश की सारी अहिंसात्मक हलचल के सम्बन्ध में तटस्थता की घोषणा कर दे" तो "मैं निःसंकोच भाव से सलाह दूँगा कि दूसरे पर हिंसात्मक दबाव न डालते हुए देश अपनी निश्चित माँगों की पूर्ति के लिए और भी ठोस लोकमत तैयार करे।"[१]

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस", पृ० ३६६।

चौरी चौरा कांड और असहयोग का अन्त—महात्मा गांधी ने अपनी मांगों को स्वीकार करने के लिए सरकार को सात दिनों का समय दिया। लेकिन यह समय अभी पूरा भी नहीं हो पाया था कि गोरखपुर जिले के चौरी चौरा नामक स्थान पर एक ऐसी दुःखद घटना हो गई जिसने भारतीय इतिहास की धारा को बिलकुल पलट दिया। ५ फरवरी को चौरी चौरा में एक कांग्रेसी जलूस निकल रहा था। इस अवसर पर क्रोधवेष्टित भीड़ ने २१ सिपाहियों और थानेदार को थाने में खदेड़ दिया और आग लगा दी। वे सब आग में जल मरे। जब यह भयावह समाचार महात्मा गांधी को मिला, तो उन्हें मर्मस्पर्शी आघात पहुंचा। उन्होंने सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का विचार तुरन्त छोड़ दिया। रचनात्मक कार्यक्रम पर अधिक बल दिया गया "जिसमें कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलना, मादक-द्रव्य-निषेध और पंचायतें संगठित करना आदि शामिल था।"[1] सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन ठण्डे पड़ गए।

महात्मा गांधी के कार्य का विरोध—परन्तु महात्मा गांधी ने आन्दोलन को इस आकस्मिक रूप से जो स्थगित किया था, उसका कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने विरोध किया। "पण्डित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लम्बे-लम्बे पत्र लिखे। उन्होंने गांधीजी को किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया।"[2] सुभाष बोस के अनुसार "सी० आर० दास को इसमें अपार क्लेश पहुंचा।" बोस ने लिखा, "इस समय जबकि जनता का उत्साह 'दुर्दुदांक' पर पहुंच रहा था, मैदान छोड़ने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्विपाक से कुछ कम न था।"[3] जवाहरलाल नेहरू ने लिखा, "हमने बड़े आश्चर्य और उद्वेग के साथ जेल में सुना कि गांधीजी ने हमारे संघर्ष के उग्र पहलुओं को रोक दिया है, और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया है।"[4] मुसलमानों पर इस सारी कार्य-वाही का बहुत बुरा असर हुआ, वे कांग्रेस से खिंचते से गए और "पुनः उस विश्वास और बन्धुत्व की प्रतिष्ठा करना असम्भव था जिसने कि एक बार मित्रता के इस संक्षिप्त काल में दोनों जातियों को एकता के सूत्र में ग्रथित कर दिया था।"[5]

६२ असहयोग आन्दोलन की सफलताएँ और असफलताएँ

महात्मा गांधी का कारावास—असहयोग आन्दोलन के समाप्त होने के साथ

१. वही पृ० ३९८।
२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस", पृ० ३९९-४००।
३. सुभाष बोस—"दी इण्डियन स्ट्रगल", पृ० १०८।
४. जवाहरलाल नेहरू—"आटोबायग्राफी" पृ० ८१।
५. एच० एस० पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १५३।

ही साथ उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी प्रारम्भ हो गई। ४ मार्च, १९२२ को महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए। राजद्रोह के अपराध में उन्हें ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। परन्तु जेल में स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उन्हें दो वर्ष बाद ही छोड़ दिया गया। कांग्रेस द्वारा नियत की गई सविनय अवज्ञा जाँच समिति के मत में असहयोग आन्दोलन ने बहुत कम सफलता प्राप्त की थी। वस्तुतः यह आन्दोलन अपने ध्येयों, पंजाब और खिलाफत के अन्यायों के निवारण और स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य में नितान्त असफल सिद्ध हुआ।

असहयोग आन्दोलन की दुर्बलताएँ—बहुत से राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आन्दोलन की असफलता का उत्तरदायित्व महात्मा गांधी के सिर मढ़ा। सुभाष बोस के अनुसार "एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण ही था अपितु बालक सदृश भी था।"[1] भारतीय राजनीति में खिलाफत के प्रश्न को सम्मिलित करना दुर्भाग्यपूर्ण था। "खिलाफत आन्दोलन की बुनियाद गलत थी''''''इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लामी थियोक्रेसी की पुरानी दुनिया की रूमानी परम्पराएँ पुनर्जीवित कर रहे थे, दूसरी ओर टर्क जिनके हित के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि वे यह काम कर रहे हैं, इसका मजाक बनाते थे और इसे मध्ययुगीन भौंडापन कहते थे।"[2] कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की धर्म-निरपेक्ष गणराज्य के रूप में अवतरित हुआ और १९२२ में खिलाफत का अन्त कर दिया गया तथा खलीफा को निर्वासित कर दिया गया। फलतः भारत में खिलाफत आन्दोलन की जड़ ही कट गई।

असहयोग आन्दोलन के आकस्मिक रूप से ठप्प हो जाने से कांग्रेस-लीग की मित्रता भी समाप्त हो गई। इसके बाद हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना भी कुण्ठित होने लगी। १९२१ के अन्त में मलाबार में 'खिलाफत राज्य' की स्थापना के उद्देश्य से मोपला विद्रोह हुआ। बर्बर मोपलों ने "न केवल कुछ ब्रिटिश अधिकारियों को ही मारा, अपितु उससे कहीं अधिक अपने हिन्दू पड़ौसियों की हत्या कर डाली।"[3] जब महात्मा गांधी जेल में थे, सारे देश में साम्प्रदायिक उपद्रव होने प्रारम्भ हो गए। भारतीय राजनीति में धार्मिक तत्त्व की वृद्धि कोई अच्छी बात नहीं थी। इसकी वजह से देश में धर्मान्धता की ऐसी शक्तियाँ पैदा हो गई, जिन्हें फिर वश में नहीं किया जा सकता था।

असहयोग आन्दोलन की महत्ता—लेकिन असहयोग आन्दोलन की उक्त दुर्बल-

---

१. सुभाष बोस—"दी इण्डियन स्ट्रगल", पृ० १०४।
२. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १६०।
३. साइमण्ड्स—"दी मेकिंग ऑफ पाकिस्तान", पृ० ४७-४८।

ताओं से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि उसकी महत्ता किसी प्रकार से कम है। इस आन्दोलन ने भारत की राष्ट्रीयता में नए जीवन का संचार किया। इसने स्वतन्त्रता और निर्भीकता की नई भावना को पैदा किया। असहयोग आन्दोलन में भारतीयों के हृदय में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का भाव उत्पन्न हुआ। लोगों के हृदयों में पहले जो डर का और आतंक का भाव समाया रहता था, पुलिस का, सरकार का और कानून का, असहयोग आन्दोलन ने मानो छूमंतर उड़ा दिया और जनता की नस-नस में साहस की बिजली भर दी। अपने मन की बात कहने में पहले लोग जिस झिझक का अनुभव करते थे, अब वह दूर हो गई। इसके अलावा, असहयोग आन्दोलन सच्चे अर्थों में, भारत का पहला जन-आन्दोलन था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन भी जन-आन्दोलन था, परन्तु असहयोग आन्दोलन का प्रसार उस आन्दोलन से कहीं अधिक व्यापक हुआ। १९१७ तक का राष्ट्रीय आन्दोलन उच्च मध्यम-वर्गीय लोगों तक ही सीमित था, लेकिन अब यह आन्दोलन देहातों में भी पहुँच गया, किसानों ने इसमें जी खोलकर हिस्सा लिया और अब राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ें जनसाधारण के अन्तराल में जम गई। असहयोग आन्दोलन की क्या महत्ता थी, इस पर कूपलैण्ड ने निम्न शब्दों में बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है, "उन्होंने, (गांधीजी ने) वह काम किया जिसे तिलक नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में बदल दिया। उन्होंने उसे स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया, सरकार के ऊपर वैधानिक दबाव डालकर नहीं, वाद-विवाद और समझौते के द्वारा नहीं, अपितु शक्ति के द्वारा और शक्ति भी अहिंसा की। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी ही नहीं बनाया, अपितु उसे लोकप्रिय भी बना दिया। अभी तक वह नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह देहात की जनता तक भी पहुँच गया···गांधीजी के व्यक्तित्व ने भारत के देहातों में जागृति पैदा कर दी थी।"[1]

६६. स्वराज्य-दल और कौंसिल-प्रवेश

अपरिवर्तनवादियों और परिवर्तनवादियों के बीच रस्साकशी—*१९२२ में कांग्रेस राजनीति में एक नई विचारधारा का विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि १९१९ में महात्मा गांधी ने मॉटफोर्ड सुधारों के प्रति सहयोग करने का विचार व्यक्त किया था लेकिन इसके विपरीत बंगाल के महान् नेता चित्तरंजनदास ने उनका पूर्ण बहिष्कार करने का समर्थन किया था। १९२० में स्थिति उल्टी हो गई। महात्मा गांधी असह-*

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० ११९।

योग के समर्थक हो गए। कांग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार किया जिसमें कौंसिलों का बहिष्कार भी शामिल था। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू इस प्रश्न के ऊपर व्यक्तिगत रूप से महात्मा गांधी से मतभेद रखते थे लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया, उन्होंने गांधीजी को सहयोग देने का आश्वासन दिया। १९२२ में कांग्रेस पुनः दो दलों में बँटती हुई मालूम पड़ती थी। सी० आर० दास ने अपनी कारावास-अवधि में स्वराज्य दल संगठित करने की योजना तैयार की। १९२२ की गया कांग्रेस के वह सभापति हुए। कांग्रेस के इस अधिवेशन में परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच में जोर की खींच-तान हुई। अपरिवर्तनवादी महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित असहयोग और रचनात्मक कार्यक्रम पर ही डटे रहना चाहते थे। इस समय महात्मा गांधी जेल में थे। इसके विपरीत परिवर्तनवादी असहयोग आन्दोलन को एक नई दिशा देना चाहते थे। चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू और वी० जी० पटेल इन लोगों के नेता थे। इन लोगों का झुकाव अड़ंगा नीति की तरफ था। वे चाहते थे कि कौंसिलों में प्रवेश करें और वहाँ पर असहयोग व अड़ंगे की नीति द्वारा मौंटफोर्ड सुधारों को बिलकुल नष्टभ्रष्ट कर दें। गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादियों की ही विजय रही।

स्वराज्य-दल—गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी जीत तो गए लेकिन वे अपनी जीत का उपभोग अल्पकाल तक ही कर सके। १९२३ की शुरू साल में ही चितरंजन दास ने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्याग-पत्र दे दिया और स्वराज्य-दल का संगठन करने का अपना निश्चय घोषित किया। इस बात के चिन्ह दिखाई देते थे कि असहयोग अब क्षत-विक्षत हुआ जा रहा है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन को चालू रखना असम्भव प्रतीत होने लगा था। खिलाफत नेताओं का उत्साह भी ठण्डा पड़ता जा रहा था। गया कांग्रेस के पूर्व ही जमीयत-उल-उलेमा ने एक फतवा प्रकाशित किया जिसमें कौंसिल-प्रवेश को 'हराम' तो नहीं पर 'ममनून' घोषित किया। सितम्बर, १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद थे।

कांग्रेस कौंसिल-प्रवेश की अनुमति देती है—कौंसिल प्रवेश का समर्थन करने वाले दल ने बिना कठिनता के कांग्रेस से अनुमति-सूचक प्रस्ताव पास करा लिया कि 'जिन कांग्रेसियों को कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या और किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हें अगले निर्वाचनों में खड़े होने और अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की आजादी है।" स्वराजिस्टों ने अपनी विजय को महात्मा गांधी की अध्यक्षता में सम्पन्न बेलगाँव कांग्रेस में दृढ़ कर लिया। महात्मा गांधी को स्वयं स्वराज्य-दल की इस योजना से बहुत कम सहानुभूति थी कि कौंसिलों के अन्तर्गत विरोध के द्वारा

अपर्याप्त मोंटफोर्ड सुधारों की कार्यान्विति में अड़ंगा लगाया जाए। लेकिन जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस में स्वराजिस्टों का बहुमत है तो उन्होंने कौंसिल प्रवेश पर अपनी 'मौन' अनुमति दे दी। यद्यपि महात्मा गांधी ने स्वयं को स्वराज्य-दल की सासद-हल-चलों से बिलकुल पृथक् रखा, तथापि स्वराज्य-दल का संगठन कांग्रेस के राजनीतिक पक्ष के रूप में किया गया था। महात्मा गांधी ने कताई, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार तथा रचनात्मक कार्यक्रम के अन्यान्य पहलुओं पर सर्वाधिक बल दिया। स्वराजिस्टों ने इस कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की और इस प्रकार सूरत-विच्छेद की पुनर्वतारणा होने से बच गई।

स्वराज्य-दल के सिद्धान्त और कार्यक्रम—जैसा कि स्वराज्य-दल के नाम से ही स्पष्ट होता है, उसका लक्ष्य स्वराज्य को प्राप्त करना था। स्वराज्य से उसका अभिप्राय साम्राज्य के अन्तर्गत 'डोमीनियन स्टेट्स' को उपलब्ध करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गांधीवादी जिन साधनों का समर्थन करते थे, उनसे स्वराजिस्टों का मतभेद था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्वराजिस्टों का बहुत कम विश्वास था। कौंसिलों के बहिष्कार के भी वे विरोधी थे। उन्होंने असहयोग का एक नया अर्थ लगाया। वे चाहते थे कि निर्वाचनों में पूरा हिस्सा लिया जाए और व्यवस्थापक मण्डलों की अधिक-से-अधिक सीटों पर कब्जा कर लिया जाए, सरकार के साथ सहयोग करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु उसकी नीति में 'एकरूप, अविच्छिन्न और सतत रोड़ा' अटकाने के उद्देश्य से। स्वराजिस्टों का मूलमन्त्र था सरकार के कार्यों में बाधा उपस्थित करना, रोड़े अटकाना। वे कौंसिलों के अन्दर प्रवेश करके मोंटफोर्ड सुधारों को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर डालना चाहते थे। पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित-रंजन दास ने 'अड़ंगा' शब्द को स्पष्ट कर दिया था "हमने अपने कार्यक्रम में अड़ंगा शब्द का जो व्यवहार किया है, सो ब्रिटेन की संसद के इतिहास के वैधानिक अर्थ में नहीं। मातहत और सीमित अधिकारों वाली कौंसिलों में उस अर्थ में अड़ंगा डालना असम्भव है क्योंकि सुधार-कानून के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल के अधिकार गिने-चुने हैं। पर हम यह कह सकते हैं कि हमारा विचार अड़ंगा डालने की अपेक्षा स्वराज्य के मार्ग में नौकरशाही द्वारा डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना अधिक है।"[1]

स्वराजिस्ट इस बात को दावे के साथ कहते थे कि "कौंसिल-प्रवेश का प्रोग्राम असहयोग के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल"[2] था। उनका प्रोग्राम व्यवस्थापक-मण्डलों के अन्दर असहयोग करने का था। वे चाहते थे कि नौकरशाही की नाक के नीचे उसके

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस" पृ० ४५६।
२. वही, पृ० ४२६।

गढ़ में प्रवेश करके असहयोग के झण्डे को ऊँचा रखा जाए। कौंसिलों के अन्दर स्वराजिस्टों की योजना (१) बजटों को रद्द करने और (२) उन सब कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करने की थी जिनके द्वारा नौकरशाही अपनी स्थिति को दृढ़ करने की चेष्टा करती थी। 'अड़ंगा' स्वराज्य-दल के कार्यक्रम का विध्वंसात्मक पक्ष था। रचनात्मक पक्ष में स्वराज्य-दल का कार्यक्रम उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को पेश करना था जो राष्ट्रीय जीवन की वृद्धि करने के लिए और फलतः नौकरशाही की जड़ उखाड़ने के लिए आवश्यक हों। कौंसिलों के बाहर स्वराजिस्टों ने महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम को हार्दिक सहयोग देने का और कांग्रेस संगठनों के द्वारा उसे कार्यरूप में परिणत करने का वचन दिया। उन्होंने इस बात की भी घोषणा कर दी थी "कि ज्यों ही हमें मालूम पड़ेगा कि सत्याग्रह के बिना नौकरशाही की स्वार्थपूर्ण हठधर्मी का सामना करना असम्भव है, हम तत्काल कौंसिलों को छोड़कर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करने में, यदि वह स्वयं ही उस समय तक तैयार न हो सका तो, उनकी (महात्मा गांधी की) सहायता करेंगे। तब हम बिना हीले-हवाले के उनके पीछे हो लेंगे और कांग्रेस की संस्थाओं द्वारा उनके झण्डे के नीचे काम करेंगे जिससे सब मिलकर सत्याग्रह का ठोस कार्यक्रम पूरा कर सकें।"

स्वराज्य-दल की सफलताएँ : (क) केन्द्र में—द्वैध शासन-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट करने के कार्यक्रम को अपने सामने रखकर और कांग्रेस का पूरा समर्थन पाकर स्वराज्य दल १९२२ के चुनावों के अखाड़े में कूद पड़ा। चुनावों में स्वराज्य दल को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। बंगाल और सी० पी० में तो स्वराज्य दल की सफलता को देखकर लोग दंग रह गए। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में १४५ सीटों में से ४५ सीटें स्वराज्य-दल के कब्जे में आ गईं। पंडित मोतीलाल नेहरू के समर्थ नेतृत्व में राष्ट्रवादी और स्वतन्त्र उम्मीदवारों का समर्थन व सहानुभूति प्राप्त कर स्वराज्य दल ने अपना काम चलाऊ बहुमत बना लिया। १८ फरवरी, १९२४ को पंडित मोतीलाल नेहरू ने उस प्रस्ताव को पास करवाने में स्वराज्य दल ने सफलता प्राप्त की जिसमें कि एक ऐसी गोलमेज परिषद् की माँग की गई थी जो कि पूर्ण उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त पर आधारित भारत के लिए एक संविधान की सिफारिश करे। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप ही मोंटफोर्ड सुधारों की क्रियान्विति की जाँच-पड़ताल करने के लिए मुडीमैन कमेटी की नियुक्ति हुई। पं० मोतीलाल नेहरू को इस कमेटी में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रण दिया गया लेकिन उन्होंने अस्वीकार कर दिया।[1] स्वराजिस्टों ने कई महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों पर सरकार को पराजित कर दिया।

१. इस कमेटी में सर तेजबहादुर सप्रू, मि० जिन्ना और सर सी० पी० शिव स्वामी अय्यर सम्मिलित थे।

इन प्रस्तावों में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव वह था जिसमें कि कुछ राजनीतिक कैदियों के छुटकारे और १८१८ के रेगुलेशन (III) को रद्द करने की माँग की गई थी। १९२४-२५ के बजट के मतापेक्षी भाग को अस्वीकार कर दिया गया और सरकार को उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा था। स्वराजिस्टों ने गवर्नर जनरल के उत्सवों और भोजों में सम्मिलित न होने का नियम बना लिया था। यह ठीक है कि स्वराज्य-दल सरकार की गति में अड़ंगा लगाने में सफल हुआ, लेकिन वह उसे रोक नहीं सका। स्वराज्य-दल के सदस्यों का अपना विरोध प्रदर्शित करने का एक प्रिय तरीका व्यवस्थापिका सभा से 'वाक् आउट' कर जाना था। सर तेजबहादुर सप्रू उनके इन नाटकीय प्रदर्शनों को "देशभक्ति का गमनागमन" कहा करते थे।

(ख) प्रान्तों में—जहाँ तक प्रान्तों का सम्बन्ध है स्वराज्य दल ने बंगाल और मध्य प्रान्त में विशेष सफलता प्राप्त की। इन दोनों प्रान्तों में स्वराजिस्टों ने द्वैध शासन प्रणाली की मशीनरी को बिलकुल ठप्प कर दिया। बंगाल में स्वराजिस्टों का स्पष्ट बहुमत था। उनके नेता चितरंजनदास से कहा गया कि वे अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें। उन्होंने न केवल स्वयं ही मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार किया, अपितु और किसी को भी मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं करने दिया। २३ मार्च, १९२४ को लेजिस्लेटिव कौंसिल ने दो मन्त्रियों के वेतन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में ६३ और विपक्ष में ६६ मत पड़े। फलतः मन्त्रियों को अपना त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९२५ में सी० आर० दास ने द्वैध शासन-प्रणाली के कफन में अन्तिम कील ठोकने और उसके ऊपर एक मरसिया लिखने के अपने निश्चय में सफलता प्राप्त कर लेने का दावा ठीक ही किया था। जून, १९२५ में दास बाबू की मृत्यु हो गई। इससे बंगाल में स्वराज्य दल के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। लेकिन तीसरी बार भी उसने मन्त्रिमण्डल के निर्माण को असम्भव कर दिया और गवर्नर को सदन भंग कर देने के लिए विवश होना पड़ा। स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध में एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा, "मेरे विचार से अड़ंगा लगाने की नीति बिलकुल ठीक थी क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दलवालों को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध शासन प्रणाली अव्यवहार्य है।"[1] ब्रेकेनहेड ने स्वराज्य दल के सम्बन्ध में कहा कि "वह भारतवर्ष में सबसे अधिक संगठित राजनीतिक दल है।"[2]

स्वराज्य दल का सहयोग की ओर झुकाव—१९२५ में देशबन्धु चितरंजन

---

१. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १६५।

२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस", पृ० ४८४।

दास की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल की शक्ति का शनैः शनैः ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। सरकार के कामों में अड़ंगा लगाने की जिस मूल नीति को लेकर स्वराज्य दल का जन्म हुआ, अब इस नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। वैसे तो स्वराज्य दल दास बाबू की मृत्यु के पूर्व ही "सतत और अविच्छिन्न अड़ंगा लगाने" के रास्ते से अलग हटता मालूम पड़ने लगा था। अक्टूबर, १९२४ में स्वयं दास बाबू ने सरकार से सहयोग करने के लिए कुछ शर्तें रखी थीं। उन्होंने कहा था "मैं हृदय परिवर्तन के लक्षण हर जगह देख रहा हूं। मेल-जोल के चिह्न मुझे हर जगह दिखाई पड़ रहे हैं। संसार संघर्ष से थक गया है और उसमें मुझे सर्जन और संगठन की इच्छा दिखाई पड़ रही है।" उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल सरकार के साथ सहयोग करने की दिशा में अधिकाधिक झुकता गया। "व्यवस्थापक मण्डलों को अन्दर से नष्ट-भ्रष्ट कर देने की नीति का स्थान क्रमशः व्यवस्थापक मण्डलों में भाग लेने, उनका उपयोग करने और सरकार के साथ सहयोग तक करने की नीति लेने लगी।" १९२४ में स्वराज्य दल के प्रतिनिधि स्टील प्रोटेक्शन कमेटी में सम्मिलित हुए। दूसरे वर्ष पंडित मोती-लाल नेहरू ने स्कीन कमेटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। १९२६ के चुनावों से प्रकट हुआ कि स्वराज्य दल का प्रभाव अब घटने लगा है। बंगाल और मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल का बहुमत बहुत कम हो गया, फलतः वहाँ सरकार को द्वैध शासन प्रणाली की पुनर्प्रतिष्ठा करने में सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय असेम्बली में स्वराज्य दल की स्थिति इस कारण कमजोर पड़ गई क्योंकि पंडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय के नेतृत्व में नेशनलिस्ट पार्टी ने इस बात का अनुभव किया कि हर बात में सर-कार का विरोध करने की नीति हिन्दुओं के लिए अहितकर है।

प्रतियोगी सहयोगी और असहयोगी—स्वराजिस्टों के बीच ही दो दल हो गए। एक दल प्रतियोगी सहयोग करने की नीति का प्रतिपादक था और दूसरा असहयोग करने की नीति का। स्वराज्य-दल के बीच उक्त मतभेद उस समय पराकाष्ठा पर पहुंच गया जब कि मध्यप्रान्तीय विधान सभा के स्वराजिस्ट अध्यक्ष श्री एस० बी० ताम्बे गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य बन गए। बम्बई में स्वराजिस्टों ने प्रतियोगी सहयोग का खुल्लम-खुल्ला समर्थन किया। पंडित मोतीलाल नेहरू की इस धमकी ने कि "वे स्वराज्य दल के रोगी अंग को काटकर फेंक देंगे" मतभेद की खाई को और भी चौड़ा कर दिया। पंडित मोतीलाल नेहरू के 'उद्धत स्वर' ने जयकर, केलकर और मुंजे को खुली बगावत करने के लिए खड़ा कर दिया। १९२६ का अन्त होते-होते स्वराज्य दल की अधिकांश शक्ति नष्ट हो चुकी थी।

६७. साम्प्रदायिक तनाव की वृद्धि

उपद्रवों की कहानी—खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष भारतवर्ष के अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण थे क्योंकि इन वर्षों में साम्प्रदायिक विद्वेष की आग ने भयावह रूप धारण किया। इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि मलाबार में मोपलों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों की निर्ममता से हत्याएँ कीं। सन् १६२२ से लेकर १६२७ तक हिन्दू मुस्लिम उपद्रवों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि उनकी एकता का प्रायः अन्त हो गया। सन् १६२३ में मुल्तान, अमृतसर, मुरादाबाद, मेरठ, पानीपत, जबलपुर, आगरा, बरेली आदि में साम्प्रदायिक झगड़े हुए, सन् १६२४ में कोहाट में, सन् १६२५ में दिल्ली, कलकत्ता और इलाहाबाद में, सन् १६२६ में कलकत्ता में और सन् १६२७ में मुल्तान, लाहौर, बरेली और नागपुर में। "कलकत्ता के साम्प्रदायिक उपद्रव भयंकरतम थे। वे पन्द्रह दिन तक चलते रहे, इनमें ६७ आदमी मारे गए और ४०० से अधिक जख्मी हुए।"

कारण—इन उपद्रवों के तात्कालिक कारण बहुत ही तुच्छ थे। कभी गोवध का सवाल मतभेद उत्पन्न कराके झगड़े करवाता था और कभी दशहरा के जलूस के अवसर पर मस्जिद के सामने बाजे का प्रश्न। लेकिन ये तो उपद्रवों के ऊपरी कारण थे, असली कारण कुछ गहरे थे। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता यथार्थ साम्प्रदायिकता नहीं थी, वह साम्प्रदायिकता नकाब के पीछे छिपी हुई राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया थी।" असहयोग आन्दोलन की समाप्ति का अभिप्राय कांग्रेस-लीग मैत्री की समाप्ति था। शनैः-शनैः मुस्लिम लीग प्रतिगामी नेतृत्व की अधीनता में चली गई और मुसलमानों के बीच, हिन्दू राज का हौवा दिखा-दिखाकर, अपनी जड़ें मजबूत करनी प्रारम्भ कर दीं। "हिन्दुओं के बीच भी साम्प्रदायिक भावनाओं ने उग्र रूप धारण कर लिया।" तथाकथित मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध हिन्दुओं के अधिकारों की रक्षा करने के लिए हिन्दू महासभा का संगठन किया गया। सच तो यह है कि ये दोनों ही संस्थाएँ न्यस्त स्वार्थों के नियन्त्रण में थीं। ये न्यस्त स्वार्थ अपने पारस्परिक विरोध को प्रचण्ड और विषमय साम्प्रदायिक प्रचार में छिपाए रखते थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के बीच इन प्रतिगामी तत्त्वों को निस्पन्द पड़ा रहने के लिए बाध्य कर दिया गया था। "अब वे अपने सन्यास से समुदित हुए। बहुत से दूसरे गुप्तएजेन्टों और लोगों ने जो कि साम्प्रदायिक मतभेद की सृष्टि कर अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे, इसी परम्परा पर काम किया।"[1]

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"आउटोग्राफी", पृ० ४५६।

महात्मा गांधी का उपवास और एकता सम्मेलन—सितम्बर, १६२४ में महात्मा गांधी ने साम्प्रदायिक विद्वेष और हत्याकाण्ड का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से, जिसके लिए कि उन्होंने स्वयं को ही उत्तरदायी ठहराया २१ दिनों का उपवास किया। दूसरों के पापों के लिए उन्होंने जिस तपस्या को अपने ऊपर लागू किया, उसका जनता के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और कलकत्ता में एक एकता सम्मेलन किया गया। काफी देर के विचार-विमर्श के फलस्वरूप एक राष्ट्रीय पंचायत नियुक्त की गई। महात्मा गांधी इसके अध्यक्ष बने और हकीम अजमल खाँ, लाला लाजपतराय, जी० के० नरीमैन, ड० एस० के० दत्त और मास्टर सुन्दरसिंह इसके सदस्य बने। इस पंचायत का उद्देश्य अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की वृद्धि करना था। एक वर्ष के लिए उपद्रव रुक गए। परन्तु साम्प्रदायिक रोग का उक्त निदान अस्थायी था। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान-दोनों जातियों के प्रतिगामी तत्वों ने 'भेद डालो और राज्य करो' की नीति में साम्राज्य-वादियों को पुनः सक्रिय सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। नौकरशाही को अपनी इस सफलता के ऊपर सकारण गर्व था। कोई आश्चर्य नहीं कि संयुक्त प्रान्त में एक गवर्नर ने अपने विदाई-भाषण में अभिमानपूर्वक इस बात को कहा था कि उसे, "अपने पाँच वर्षों के शासन-काल में कम-से-कम ८३ साम्प्रदायिक उपद्रवों का सामना करना पड़ा था।"[1]

सारांश

प्रथम विश्व-युद्ध ने संसार के अन्यान्य भागों की तरह भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र कर दिया। इसके अलावा भी अन्य कई ऐसे कारण थे, जिन्होंने कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को अधिक वेगयुक्त करने में सहायता दी। जनता की आर्थिक कठिनाइयों, मंहगी, बीमारियों, नौकरशाही दमन अध्यादेश-शासन और लड़ाई के लिए धन एकत्रित करने व सिपाही भरती करने में जिस कठोरता का बर्ताव किया गया था उन सब कारणों की वजह से जनता विदेशी आधिपत्य से अधि-काधिक असन्तुष्ट होती गई। मुसलमान खिलाफत प्रश्न के ऊपर विशेष रूप से रुष्ट थे। मौंटफोर्ड सुधारों के ऊपर भी जन साधारण के बीच आम निराशा की भावना व्याप्त थी।

१६१८ में भारतीय जनमत के लाख विरोध करने के बावजूद भी सरकार ने रौलट-एक्ट को पास कर दिया। रौलट एक्ट सरकार की निर्मुक्त स्वेच्छाचारिता का एक स्पष्ट प्रमाण था, इससे जनता की स्वतन्त्रताओं के ऊपर कुठाराघात होता था। इस दमनमूलक कानून के अधिनियम ने महात्मा गांधी को स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रिम मोर्चे

१. जवाहरलालनेहरू—"आटोग्राफी", पृ० ८६-८७।

पर ला खड़ा किया। पहले महात्मा गांधी स्पष्ट घोषित राजभक्त थे लेकिन सरकार की दमन-नीति ने उनको राजद्रोही बना दिया। रोलट एक्ट के विरोध में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ किया। कुछ स्थानों पर जनता ने हिंसात्मक घटनाएँ कर डालीं, इससे दुखी होकर गांधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

इसी बीच में पंजाब की हालत बहुत खराब हो गई। वहाँ रौलट-एक्ट विरोधी आन्दोलन ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया और कुछ स्थानों पर हिंसात्मक घटनाएँ भी हो गईं। जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड ने सारे देश में सनसनी फैला दी। जनता ने सरकार से इस बात की मजबूत माँग की कि वह पंजाब की दुर्घटनाओं की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त करे। फलतः सरकार ने लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त की लेकिन इस समिति की रिपोर्ट ने जनरल डायर के दुष्कृत्य पर पर्दा डालने की कोशिश की।

१९२० के ग्रीष्मकाल में सीवर्स की सन्धि प्रकाशित हुई। इस सन्धि ने भारतीय मुसलमानों को गहरा धक्का पहुँचाया। युद्धकाल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात का वचन दिया था कि टर्की साम्राज्य का किसी प्रकार से अहित या विघटन नहीं किया जाएगा। लेकिन युद्ध बीत जाने पर ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ अपने वचनों को भूल गए। सीवर्स की सन्धि के अनुसार टर्की साम्राज्य का विघटन कर दिया गया और सुलतान की जो कि इस्लाम का खलीफा था, मानहानि की गई। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार के इस विश्वासघात का जोरदार विरोध किया। उन्होंने मुसलमानों के साथ हार्दिक सहानुभूति व्यक्त की तथा खिलाफत और पंजाब के अन्यायों के निवारणार्थ व स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया।

असहयोग आन्दोलन काफी जोर-शोर से चला। ५०,००० से अधिक देशभक्त जेल में चले गए। बहिष्कार के कार्यक्रम को आश्चर्यजनक सफलता मिली। असहयोग आन्दोलन के काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता को देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती थी। फरवरी, १९२१ में जनता की एक भीड़ ने क्रोध में आकर २१ सिपाहियों और थानेदार को मार डाला। इस दुर्घटना का समाचार पाकर महात्मा गांधी को अपार क्लेश पहुँचा और उन्होंने आन्दोलन को तुरन्त ही स्थगित कर दिया। असहयोग आन्दोलन में कुछ कमियाँ अवश्य थीं, लेकिन फिर भी उसने महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। इस आन्दोलन ने जनता के हृदय में स्वतन्त्रता व निर्भीकता की एक नूतन प्राणधारा उत्पन्न की। महात्मा गांधी के गतिशील नेतृत्व ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन और जन-आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के पश्चात् देशबन्धु चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य दल का समुदय हुआ। स्वराज्य-दल कौंसिल-

प्रवेश का समर्थन करता था। उसका सिद्धान्त था कि व्यवस्थापक-मण्डलों के अन्दर पहुँचकर सरकार के कार्यों में अड़ंगा लगाया जाय। स्वराजिस्टों का कहना था कि यह कार्यक्रम असहयोग के कार्यक्रम के सर्वथा अनुकूल है। वे विश्वास करते थे कि हम वैधानिक गत्यवरोध उत्पन्न करके मोंटफोर्ड सुधारों को नितान्त असफल सिद्ध कर देंगे।

दिल्ली के विशेष अधिवेशन (सितम्बर १९२०) में स्वराज्य-दल के प्रोग्राम पर कांग्रेस ने अपनी अनुमति दे दी। उसी वर्ष नवम्बर में चुनाव हुए। स्वराज्य-दल ने उन चुनावों में भाग लिया और कुछ स्थानों पर विस्मयजनक सफलता प्राप्त की। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल में उन्होंने ४५ स्थानों पर अधिकार कर लिया और कई महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों पर सरकार को पराजित किया। बंगाल और मध्यप्रान्त में, जहाँ स्वराजिस्टों का बहुमत था, उन्होंने द्वैध-शासन प्रणाली की क्रियान्विति को बिलकुल रोक दिया। १९२६ के बाद से स्वराज्य दल में फूट पैदा हो गई और उसके कुछ शिरोरत्न सदस्यों ने सरकार के साथ प्रतियोगी सहयोग करने का रास्ता पकड़ लिया।

असहयोग आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय है। इन वर्षों में देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। सितम्बर, १९२४ में महात्मा गांधीने अन्तःसाम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से २१ दिनों का उपवास किया। महात्मा गांधी के बलिदान से कुछ समय के लिए साम्प्रदायिक विद्वेष की आग पर पानी पड़ गया, लेकिन वह हमेशा के लिए ठण्डी नहीं हो सकी।

अध्याय १०

साइमन कमीशन से गोलमेज परिषद् तक

६८ महात्मा गांधी पुनः मैदान में

राजनीति से दूर—१९२७ का वर्ष भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है। इस वर्ष महात्मा गांधी कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर पुनः अवतरित हुए। १९२४ में कारागार से छूटने के पश्चात् उन्होंने सक्रिय राजनीति से हाथ खींच लिया था और अपना समय चर्खे को लोकप्रिय बनाने, सारे देश में भ्रमण कर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने और अस्पृश्यता के अभिशाप से युद्ध करने में व्यतीत किया था। १९२५ के अन्त में उन्होंने एक वर्ष के लिए 'राजनीतिक मौन और निश्चलता' का व्रत ले लिया। इस अवधि में स्वराजवादी कांग्रेस के राजनीतिक नेता थे और गांधीवादी मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम में संलग्न रहे। लेकिन १९२६ तक विधान मण्डलों के भीतर असहयोग करके नौकरशाही शासनयन्त्र को छिन्न-भिन्न करने का स्वराजवादी कार्यक्रम नष्ट-प्रायः हो चुका था। घटनाचक्र ने महात्मा गांधी को शीघ्र ही राष्ट्रीय मोर्चे के अग्र भाग पर पुनः ला खड़ा किया।

वामपक्षी विचारों की वृद्धि—जिस समय महात्मा गांधी ने कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर सम्हाली, राष्ट्रवादी आन्दोलन में वामपक्षी प्रवृति दृष्टिगत होने लगी थी। समाजवादी और साम्यवादी विचारों ने देश के युवक राष्ट्रवादियों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया था। "रूस में समाजवादी क्रान्ति की सफलता और समाजवादी राज्य की स्थापना ने भारत के क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।"[1] कमकरों और किसानों के संगठन प्रकट होने लगे। बम्बई के गिरनी कामगर संघ के सदस्यों की संख्या १९२८ तक ६५ हजार से अधिक पहुंच गई थी। श्रमिक संघवाद और वर्ग-चेतना का औद्योगिक मजदूरों के बीच शीघ्रतापूर्वक विकास हुआ और उसने १९२८-१९२९ में कई बड़ी-बड़ी हड़तालों

१. ए० आर० देसाई—"सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म", पृ० ३२४।

के रूप में स्वयं को व्यक्त किया। स्वयं कांग्रेस के भीतर जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में वामपक्ष जोर पकड़ने लगा। इसी काल में युवक संघों और विद्यार्थी संघों का भी जन्म हुआ। सुभाष बोस और जवाहरलाल नेहरू उनके सामर्थ्यवान् नेता थे।

६६. साइमन कमीशन

साइमन कमीशन की नियुक्ति—५ नवम्बर, १६२७ को महात्मा गांधी तथा दूसरे भारतीय नेताओं को वायसराय का यह आमन्त्रण मिला कि वे उनसे दिल्ली में भेंट करें। महात्मा गांधी उस समय मंगलौर में थे, वायसराय का आमन्त्रण पाकर शीघ्र ही वहाँ से चल पड़े और एक हजार मील की यात्रा तय कर लार्ड इर्विन से भेंट करने के लिए दिल्ली पहुँचे। लार्ड इर्विन ने उनके हाथों में कागज का एक टुकड़ा थमा दिया जिसमें अनुविहित साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई थी। महात्मा गांधी ने खिन्न होकर कहा कि वायसराय इस सूचना को उन्हें एक आने के लिफाफे में भेज सकते थे, लेकिन यह घटना भारत के इतिहास में युगान्तकारी सिद्ध होने को थी।

कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व क्यों नियुक्त किया गया?—यह स्मर्त्तव्य है कि १६१६ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने मोंटफोर्ड सुधारों की कार्यान्विति की जाँच-पड़ताल करने और इस बात की कि भारत उत्तरदायी स्वशासन की दिशा में अग्रेतर पदोन्नति के लिए कहाँ तक तैयार है, रिपोर्ट करने के लिए १० वर्ष की समाप्ति पर एक अनुविहित कमीशन की नियुक्ति निर्धारित की थी। इस प्रकार भारत में कमीशन १६२६ में भेजा जाना चाहिए था। लेकिन इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थिति ने अनुदार दल के भारत-मन्त्री लार्ड बर्केनहेड को इस सम्बन्ध में जल्दी करने के लिए विवश कर दिया। १६२६ में साधारण निर्वाचन होने को थे और उनमें श्रमिक दल की विजय की स्पष्ट सम्भावना थी। निसर्गतः अनुदार दल भारत के राजनीतिक भविष्य को अपने विरोधी दल के हाथों में नहीं छोड़ना चाहता था। यही कारण है कि कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व नियुक्त किया गया।

भारत के लिए अपमानजनक—साइमन कमीशन की नियुक्ति भारतवर्ष के लिए अपमानजनक थी। कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था। "उसके सातों के सातों सदस्य अंग्रेज थे।[1] कमीशन में भारतीयों को न लेने का कारण यह बताया गया था कि चूंकि उसे ब्रिटिश संसद को रिपोर्ट देनी है, इसलिए उसमें केवल ब्रिटिश संसद के ही सदस्य सम्मिलित हो सकते हैं। लेकिन यह तो खाली एक बहाना था क्योंकि उस

१. सी० वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी", पृ० १७१।

समय ब्रिटिश संसद में भारत के भी दो प्रतिनिधि—प्रत्येक सदन में एक-एक उपस्थित थे।

कमीशन का उद्देश्य—कमीशन का उद्देश्य "शासन-प्रणाली की क्रियान्विति, शिक्षा की वृद्धि तथा ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधिक संस्थाओं के विकास का अनुशीलन करना और इस बात की कि उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त की स्थापना वांछनीय है या नहीं, यदि है तो किस सीमा तक एवं ब्रिटिश भारत में उस समय वर्तमान उत्तरदायी शासन की मात्रा को बढ़ाया जाए, संशोधित किया जाए अथवा कम प्रतिबन्धित किया जाए, रिपोर्ट करना था।"

कमीशन का बहिष्कार—इस प्रकार, "भागवत अंग्रेज" यह निर्णय करने को थे कि भारतीय अपना शासन आप करने के योग्य है या नहीं।"[1] इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य के न रखे जाने की बात को भारतीय लोकमत के सभी वर्गों ने अपना 'घोर अपमान'[2] समझा और इसका प्रबल विरोध किया। कमीशन को राजनीतिक धूर्तता के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया गया। भारतीयों के प्रवर्जन के अतिरिक्त कांग्रेस ने कमीशन के विचारणीय विषयों के ऊपर भी आक्षेप किया। वह केवल जाँच-पड़ताल और रिपोर्ट करने वाला निकाय ही होने को था, कांग्रेस की पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग की ओर से उसने अपनी आँखें मूंद ली थीं। पंडित मोतीलाल नेहरू ने कहा था कि सरकार के लिए एकमात्र न्यायपूर्ण मार्ग यह था कि वह इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दे कि वह क्या करना चाहती है और इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के अभ्यसे एक योजना तैयार करने के लिए कमीशन नियुक्त करे।

मद्रास कांग्रेस-दिसम्बर, १९२७—कांग्रेस ने साइमन कमीशन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा नीति को दिसम्बर, १९२७ के मद्रास-अधिवेशन में स्पष्ट व्यक्त किया। चूंकि सरकार ने भारत के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार के प्रति घोर उपेक्षा प्रदर्शित की, अत. कांग्रेस ने "प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक रूप में" कमीशन के बहिष्कार करने का निश्चय किया। मद्रास कांग्रेस ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित करते हुए एक प्रस्ताव भी पास किया था, यद्यपि महात्मा गांधी ने इस प्रस्ताव के बारे में बाद में कहा था कि उसे "जल्दबाजी में सोचा गया था और बिना विचारे पास किया गया था।"

साइमन कमीशन के बहिष्कार का निर्णय केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं

---

१. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १६६।
२. राजेन्द्रप्रसाद—"खण्डित भारत", पृ० १६८।

था। मुस्लिम लीग (जिसमें इस प्रश्न के ऊपर फूट पड़ गई थी) के एक वर्ग को छोड़ कर सभी राजनीतिक दलों ने साइमन कमीशन के प्रति एक-सा दृष्टिकोण ग्रहण किया। सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के प्रतिगामी पक्ष ने कमीशन के स्वागत करने का निश्चय किया, लेकिन मि० जिन्ना और उनके वामपक्षी अनुयायी कांग्रेस के साथ हो गए।

साइमन कमीशन ३ फरवरी, १९२६ को बम्बई में उतरा। देशव्यापी हड़ताल द्वारा उसका अभिनन्दन किया गया। जहाँ कहीं कमीशन गया, काले झण्डों और "साइमन वापस जाओ" के नारों से उसका स्वागत किया गया। सरकार ने बहिष्कार को तोड़ने के लिए, जोर-ज्यादती के उपायों का प्रयोग किया लेकिन सब बेकार। लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में लाला लाजपतराय ने एक विराट जलूस का नेतृत्व किया। वह हृदय-रोग से पहले ही पीड़ित थे, जलूस में उनके ऊपर पुलिस की इतनी लाठियाँ पड़ीं कि उक्त घटना के एक पक्ष उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई। लाला लाजपतराय की मृत्यु से सारे देश में उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई। लखनऊ में जवाहर लाल नेहरू व गोविन्दवल्लभ पन्त के ऊपर पुलिस की लाठियाँ पड़ीं। जब तक कमीशन लखनऊ में रहा, लखनऊ की स्थिति एक सैनिक शिविर के तुल्य रही और वे सामाजिक उत्सव तक, जिनमें कमीशन के सदस्यों को आमन्त्रित किया जाता था, पुलिस की कठोर निगरानी में सम्पन्न होते थे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट—स्पष्टतः, साइमन कमीशन की जाँच-पड़ताल ने भारतीयों के बीच बहुत कम रुचि उत्पन्न की। दक्षिण की जस्टिस पार्टी और थोड़े से मुस्लिम संगठनों को छोड़कर, सभी राजनीतिक दलों ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार किया। कमीशन ने दो बार भारत की यात्रा की और अपनी रिपोर्ट को, जो मई, १९३० में प्रकाशित हुई, दो वर्ष से अधिक समय बाद पूरा किया। कूपलैण्ड के मत के अनुसार रिपोर्ट ने "ब्रिटिश राज्य-विज्ञान के पुस्तकालय में एक और श्रेष्ठ कृति की वृद्धि की।"[1] लेकिन भारतीय लोकमत ने रिपोर्ट को पूर्ण रूप से अस्वीकार किया।[2] सर शिवस्वामी अय्यर ने इन शब्दों में कि "साइमन रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए"[3] साइमन रिपोर्ट के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का अच्छा परिचय दिया था। ब्रिटिश सरकार ने भी रिपोर्ट के ऊपर, जिसकी सिफारिशें शीघ्र ही गोलमेज परिषद् के दीर्घ वितर्कों से अभिभूत हो गई थीं, कोई कार्यवाही नहीं की।

१. कूपलैण्ड—"इण्डियन प्रॉब्लेम, १८३३-१९३५", पृ० १००।
२. कीथ—"ए कंस्टीटयूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया", पृ० ३०४।
३. चिन्तामणि—"इण्डियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी", पृ० १७२।

साइमन रिपोर्ट ने भारतीय आकांक्षाओं के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति प्रकट नहीं की और डोमिनियन स्टेट्स की चर्चा तक नहीं की।

इसके विपरीत उसने जातिगत और सम्प्रदायगत मतभेदों का सविस्तार उल्लेख करते हुए भारतीय स्थिति का अनर्थी चित्र खींचा।

निष्कर्ष यह निकाला कि संसदीय अथवा उत्तरदायी शासन का प्रयोग सफल नहीं रहा था, लेकिन उसने इस बात की सिफारिश नहीं की कि इस पद्धति को त्याग दिया जाए।

प्रान्तों में रक्षाकवचों (Safeguards) के साथ पूर्ण उत्तरदायी शासन—इसके विपरीत उसने सुझाव दिया कि प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली के स्थान पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

प्रान्तीय प्रशासन के सब विभाग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एकल-मन्त्रि-मण्डल के हाथों में होने चाहिएं।

तथापि, उसने रक्षाकवचों (Safeguards) की आवश्यकता पर बल दिया।

यह सुझाव उपस्थित किया कि कतिपय महत्वपूर्ण मामलों में गवर्नरों को अपने मन्त्रियों के निर्णयों के उल्लंघन करने की विशेष शक्तियों से सज्जित कर देना चाहिए।

संघ—*रिपोर्ट में एक ऐसे भारतीय संघ की स्थापना का भी प्रस्ताव था जिसमें "प्रत्येक प्रान्त जहाँ तक हो सके, अपने क्षेत्र में अपना मालिक हो।"*

रिपोर्ट ने यह भी सुझाव दिया था कि केन्द्रीय विधानमण्डल को संघीय आदर्श पर पुनर्गठित करना चाहिए और निम्न सदन को, जिसका नाम संघीय सभा (Federal Assembly) हो, प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा परोक्षतः निर्वाचित किया जाना चाहिए। यह उसकी सर्वाधिक विस्मयकर सिफारिशों में से एक थी।

केन्द्र में कोई उत्तरदायित्व नहीं—*इसमें कहा गया था कि केन्द्र में किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं हो, कार्यपालिका बराबर अनुत्तरदायी बनी रहे।* जहाँ तक साम्प्रदायिक प्रश्न का सम्बन्ध है, साइमन रिपोर्ट ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा की लेकिन फिलहाल उसे अपरिहार्य ठहराया।

भारतीय राज्य—सुदूर भविष्य में, भारतीय संघ में भारतीय राज्यों के योगदान की भी अस्पष्ट कल्पना की लेकिन एक तात्कालिक पग के रूप में उसने वृहत्तर भारत की केवल एक ऐसी परामर्श परिषद् की सिफारिश की जिसमें देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत दोनों का प्रतिनिधित्व हो।

७०. नेहरू रिपोर्ट और जिन्ना की चौदह शर्तें

सर्व-दल-सम्मेलन, १६२८—साइमन कमीशन की, जिसके सब सदस्य अंग्रेज थे, नियुक्ति करते हुए अनुदार दल के भारत-मन्त्री लार्ड बर्केनहेड ने भारतीय जनता को एक धृष्ट चुनौती दी थी। उन्होंने कहा था कि भारतीय 'साम्प्रदायिक कलहों' के फलस्वरूप अपने लिए एक संविधान बनाने में असमर्थ हैं। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और कांग्रेस से फरवरी, १६२८ में, दिल्ली में सब दलों के सम्मेलन का संयोजन किया। सम्मेलन ने २५ बैठकें की तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित भारत के एक संविधान और साम्प्रदायिक सम्बन्धों व अनुपातों की समस्या पर विचार-विनिमय किया।

नेहरू-समिति—१६ मई को सम्मेलन की बैठक में इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया गया कि भारतीय संविधान के सिद्धान्तों का मसविदा तैयार करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में ६ सदस्यों की, जिनमें एक सिख और दो मुसलमान भी हों, एक समिति नियुक्त की जाए। सम्मेलन में भाग लेने वाले २६ संगठनों ने समिति के नियुक्त करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। जवाहरलाल नेहरू इस समिति के सेक्रेटरी बने।

नेहरू रिपोर्ट—(क) डोमिनियन स्टेटस और पूर्ण उत्तरदायी शासन—समिति ने तीन महीने के भीतर अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। अपनी रिपोर्ट में समिति ने इस बात का कि भारतीय संविधान को स्वशासित डोमिनियनों के नमूने पर पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित होना चाहिए, समर्थन किया और यह स्पष्ट कर दिया कि डोमिनियन स्टेटस की उपलब्धि "हमारे विकास की एक दूरस्थ अवस्था नहीं अपितु अगला तात्कालिक कदम है।" रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि केन्द्र और प्रान्तों, दोनों स्थानों पर; कार्यपालिका को पूर्णतः विधान-मण्डल के नियन्त्रण में तथा उत्तरदायी रहना चाहिए।

(ख) प्रान्तीय स्वायत्तता और अवशिष्ट शक्तियाँ—समिति संघ को भी केवल एक संभावना समझती थी। तथापि, उसने प्रान्तों के लिए स्वायत्तता की आवश्यकता पर बल दिया। उसने केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों के वितरण की एक योजना उपस्थित की, लेकिन अवशिष्ट शक्तियों को केन्द्र के लिए सुरक्षित रखा।

(ग) साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार की अस्वीकृति—जहाँ तक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के जटिल प्रश्न का सम्बन्ध है, नेहरू रिपोर्ट "साम्प्रदायिकता की कठिनाइयों का ठीक-ठीक सामना करने के लिए भारतीयों द्वारा अब तक की गई सुस्पष्टतम चेष्टा थी।" रिपोर्ट ने इस तथ्य को कि साम्प्रदायिक मतभेद समस्त राज-

नीतिक कार्य पर अपना प्रभाव डालते है, स्वीकार किया लेकिन यह विश्वास व्यक्त किया कि विदेशी सत्ता और हस्तक्षेप से विमुक्त स्वतन्त्र भारत में इस समस्या को सुलझाना सुगम होगा। रिपोर्ट के रचयिताओं ने घोषणा की "एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के ऊपर निरंकुश शासन करे, इस बात को सहन नहीं किया जा सकता।" उन्होंने "रक्षाकवचों, गारण्टियों और सांस्कृतिक स्वायत्तता" द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को सुरक्षा का आश्वासन देने की आवश्यकता पर बल दिया। लेकिन साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार के प्रश्न के ऊपर रिपोर्ट ने लखनऊ समझौते की शर्तों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उसने पृथक् निर्वाचनों का इस आधार पर खण्डन किया कि वे साम्प्रदायिक विरोधभाव की वृद्धि करते हैं और अल्पसंख्यक वर्गों को जेन्य सुरक्षा देने के अपने स्पष्ट घोषित प्रयोजन में ही असफल रहते हैं। फलतः "राष्ट्रीय हितों के लिए विचारित किसी भी प्रतिनिधित्व प्रणाली में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।" रिपोर्ट ने संयुक्त निर्वाचनों की सिफारिश की लेकिन साथ ही अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीटें सुरक्षित कर देने का प्रस्ताव किया। अल्पसंख्यक वर्गों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने लिए सुरक्षित सीटों के लिए भी चुनाव लड़ सकते हैं लेकिन किसी भी प्रकार के गुरुभार को अस्वीकार कर दिया गया।

(घ) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध—रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के वैधानिक धरातल पर ले आना चाहिए और सिन्ध को बम्बई से पृथक् कर देना चाहिए ताकि चार मुस्लिम बहुल प्रान्तों का निर्माण हो सके। नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यों की समस्या पर भी विचार किया। रिपोर्ट ने इस बात की सिफारिश की कि शासकों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा की जाय लेकिन इसके साथ ही साथ उसने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया था कि उन्हें भारतीय अल्स्टर के रूप में परिवर्तित करने के किसी प्रयास को सहन नहीं किया जायगा।

(ङ) भारतीय राज्य—रिपोर्ट में राजाओं को इस बात की चेतावनी दी कि यदि भारत के लिए संघीय संविधान अंगीकृत किया गया तो उन्हें उसमें उसी समय सम्मिलित होने दिया जाएगा जबकि राज्यों में स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली का अन्त हो जाएगा। चाहे जो हो नई केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार से "सार्वभौमत्व" में विवक्षित राज्यों के प्रति वर्तमान समस्त अधिकारों व दायित्वों को ले लेगी।

नेहरू रिपोर्ट की प्रतिक्रिया—अगस्त, १९२८ में लखनऊ में सर्व दल सम्मेलन ने नेहरू रिपोर्ट के ऊपर विचार-विनिमय किया और उसे थोड़े से संशोधनों सहित स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद कांग्रेस कार्य-समिति ने रिपोर्ट को "राजनीतिक विकास की दिशा में एक महान् पग" मानकर इसका अनुमोदन किया। लेकिन इस विषय पर

मुस्लिम लोकमत में भेद पड़ गया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने तो नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया लेकिन पृथक्तावादी तत्वों ने सर्वदल मुस्लिम सम्मेलन में, जिसका अधिवेशन ३१ दिसम्बर, १९२८ को दिल्ली में हुआ, एक स्वर से रिपोर्ट का विरोध किया। इस सम्मेलन के सभापति आगा खाँ थे और मौलाना मोहम्मद अली तक इसमें सम्मिलित हुए।

जिन्ना की चौदह शर्तें—मि० जिन्ना भी नेहरू समिति द्वारा तैयार की गई वैधानिक योजना के विरुद्ध थे। उन्होंने चौदह शर्तों[1] के आधार पर जिन्हें उन्होंने

---

१. डा० राजेन्द्रप्रसाद ने जिन्ना की चौदह शर्तों का निम्नलिखित सारांश उपस्थित किया है—"(१) भावी संविधान का रूप संघ-प्रणाली का हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में विहित हों। (२) सभी प्रान्तों में एक समान स्वायत्त शासनाधिकार रहे। (३) सभी प्रान्तों की विधान-सभाओं और लोकप्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों का निश्चित रूप से उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहे। जहाँ उनका बहुमत हो, वहाँ घटा कर समान या अल्पमत न कर दिया जाए। (४) केन्द्रीय विधान-मण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम न रहे। (५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन की पद्धति से हो परन्तु कोई भी साम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन की पद्धति स्वीकार कर सकता है। (६) किसी भी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब, बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई प्रभाव न पड़ना चाहिए। (७) सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक विश्वास, उपासना उत्सव, प्रचार, सम्मेलन और शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता रहनी चाहिए। (८) किसी भी विधान सभा अथवा लोकप्रतिनिधि संस्था में ऐसा कोई भी विधेयक या प्रस्ताव स्वीकृत न होना चाहिए जिसका कि किसी भी सम्प्रदाय के तीन चौथाई सदस्य अपने सम्प्रदाय के हितों का विरोध बताते हुए विरोध करें। (९) सिंध बम्बई प्रेसीडेन्सी से पृथक् कर दिया जाए। (१०) अन्य प्रान्तों में जिस प्रकार के सुधार किए जाएँ उसी प्रकार के सुधार सीमा प्रान्त और बिलोचिस्तान में किए जाएँ (११) विधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले। (१२) मुस्लिम संस्कृति-शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत कानून और धार्मिक संस्थाओं की रक्षा व उन्नति के लिए उचित संरक्षण तथा पर्याप्त सरकारी सहायता मिले। (१३) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में कम-से-कम तिहाई मन्त्री मुसलमान रहें। (१४) केन्द्रीय विधान मण्डल को संविधान में कोई परिवर्तन करने का केवल तभी अधिकार रहे जब भारतीय संघ में आबद्ध सभी इकाइयाँ उसे स्वीकार कर लें।"—"खण्डित भारत", पृ० २०२-२०३।

मुसलमानों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक बताया, लीग के दोनों पक्षों में पुनरैक्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। मि० जिन्ना की चौदह शर्तें साम्प्रदायिक समस्या का वास्तविक समाधान नहीं दे सकती थीं लेकिन "इनका इसलिए और भी अपना विशेष महत्त्व है कि श्री मेकडानेल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय में ये प्रायः मान ली गई थीं।"[1] नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यों के शासकों को, जो यह विचार सहन नहीं कर सकते थे कि स्वतन्त्र भारत की नई केन्द्रीय सरकार, ब्रिटिश साम्राट् से सार्वभौमत्व ले ले, त्रस्त कर दिया था।

७१. संघर्ष की ओर

कांग्रेस अल्टिमेटम् (कलकत्ता, दिसम्बर, १९२८)——यह हम पहले देख चुके हैं कि कांग्रेस ने अपने मद्रास-अधिवेशन के अवसर पर अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वतन्त्रता' अंगीकार किया। जब अगले अधिवेशन (कलकत्ता १९२८) में नेहरू रिपोर्ट उपस्थित की गई, उस समय कांग्रेस के दो पक्ष हो गए। एक पक्ष तो डोमिनियन स्टेटस से ही संतुष्ट था, और दूसरा पक्ष जिसके नेता सुभाष बोस व जवाहरलाल नेहरू थे, यह चाहता था कि कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य पर डटी रहे। इस पक्ष का कहना था, "जब तक अंग्रेजों से संसर्ग नहीं टूटता, (भारत को) सच्ची स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।" तथापि महात्मा गांधी दोनों पक्षों में समझौता कराने में सफल हुए और कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को एक अल्टिमेटम देने का का निश्चय किया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को जो अन्तिम चेतावनी दी, उसमें माँग की गई कि सरकार नेहरू संविधान को ज्यों-का-त्यों पूरा स्वीकार कर ले, यदि उसने ऐसा नहीं किया तो कांग्रेस "देश को यह सलाह देकर कि वह करों का देना बन्द कर दे, *अहिंसात्मक असहयोग का आन्दोलन* संगठित करेगी।"

इंगलैण्ड में श्रमिक सरकार (मई, १९२९)——मई, १९२९ में इंगलैण्ड के साधारण निर्वाचन में अनुदार दल की पराजय हुई और रैमजे मैकडानेल्ड के नेतृत्व में श्रमिक दल शासनारूढ हुआ। भारतवासियों की बड़ी-बड़ी आशाएं बँध गई, क्योंकि निर्वाचन के तुरन्त बाद ही राष्ट्रमण्डलीय देशों के श्रमिक दलों के सम्मेलन में मैकडानेल्ड ने निम्न घोषणा की थी—"मुझे आशा है कि वर्षों की तो कौन चलाई कुछ महीनों की ही अवधि में राष्ट्रमण्डल में एक अन्य डोमिनियन, एक अन्य प्रजाति का डोमिनियन, वह डोमिनियन जो राष्ट्रमण्डल में एक समकक्ष के रूप में आदर प्राप्त करेगा, सम्मिलित हो जाएगा। मेरा अभिप्राय भारत से है।"

१. राजेन्द्रप्रसाद—"खण्डित भारत", पृ० २०३

लार्ड इर्विन की घोषणा (३१ अक्टूबर, १६२६)—जून में दीर्घ विचार-विमर्श के लिए लॉर्ड इर्विन को इंगलैण्ड बुलाया गया। भारत वापस आने पर लॉर्ड इर्विन ने ३१ अक्टूबर, १६२६ को एक घोषणा की, जिसमें कांग्रेस की माँग को पूरी तरह से टाल दिया गया। वायसराय ने २० अगस्त, १६१७ की घोषणा का हवाला देते हुए कहा—"ब्रिटिश सरकार ने मुझे यह स्पष्ट घोषित कर देने का अधिकार दिया है कि १६१७ की घोषणा में यह अभिप्राय असंदिग्ध रूप से है कि भारत को अन्त में उपनिवेश का दर्जा मिले।" उन्होंने एक गोलमेज परिषद् के आयोजन की भी, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार से नए संविधान के सिद्धान्तों पर विचार-विनिमय कर लें, पूर्व सूचना दी।

दिल्ली का घोषणा-पत्र—लार्ड इर्विन की घोषणा कूटनीतिक अस्पष्टता की एक श्रेष्ठ उदाहरण थी। इस घोषणा से सरकार की वास्तविक नीति समझना कठिन था। घोषणा में डोमिनियन स्टेट्स को लक्ष्य बताया गया, परन्तु वह कब प्राप्त होगा, इसका कोई जिक्र नहीं था। राष्ट्रमण्डल में वर्षों की तो कौन कहे, कुछ महीनों के भीतर, भारत एक डोमिनियन के रूप में सम्मिलित होगा, इसके बारे में घोषणा में एक शब्द भी नहीं कहा गया था। इसके विपरीत, देशी राजाओं का सवाल उठाकर भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को और पेचीदा कर देने की कोशिश की गई। फिर भी भारत के बड़े-बड़े नेता और कांग्रेस कार्यसमिति के पुराने सदस्य एक ऐसी आशा लगाए रहे, जो तथ्यों के प्रकाश में भ्रामक सिद्ध हुई। दिल्ली से प्रकाशित एक वक्तव्य में उन्होंने वायसराय को धन्यवाद दिया और कहा—"हम समझते हैं कि प्रस्तावित परिषद् औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का समय निश्चित करने के लिए नहीं बुलाई जा रही है, बल्कि ऐसे स्वराज्य का संविधान तैयार करने को आमन्त्रित की जाएगी।" उन्होंने इस बात की अपील की कि वर्तमान शासन में उदार भावनाओं का संचार होना चाहिए और समझौते की नीति को अख्तियार करना चाहिए जिससे जनता इस बात का अनुभव करने लगे कि, "आज से ही नवीन युग आरम्भ हो गया है।" बहुत से युवक कांग्रेसी इस दृष्टिकोण से असहमत और असन्तुष्ट थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष बोस दोनों ने कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने एक अंग्रेज मित्र को लिखा था—"मैं तो सहयोग देने को मर रहा हूँ।" उन्होंने कहा था—"यदि मुझे व्यवहार में सच्चा औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाए, तो मैं उसके संविधान के लिए ठहरा भी रह सकता हूँ।" लेकिन उन्होंने इस बात को स्पष्ट कह दिया—"औपनिवेशिक स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यदि मैं चाहूँ तो आज ही ब्रिटिश सम्बन्ध विच्छेद कर सकूँ।"

इंगलैण्ड में प्रतिक्रिया—लार्ड इर्विन की घोषणा पर इंगलैण्ड में जो प्रतिक्रिया

हुई, वह किसी भी तरह से आशाजनक नहीं थी। "वायसराय की घोषणा में भारतवासियों को बहुत छोटी-सी चीज देने का वचन दिया गया था, फिर भी ब्रिटिश संसद में इसी पर तूफान खड़ा हो गया।"[1] टोरियों ने औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा तक का विरोध किया। श्रमिक दल की सरकार ने विरोधी दल की ठकुरसुहाती करने में कुछ उठा न रखा और वह "भारतीयों की आशाएँ पूर्ण करने के बजाय अनुदार दल की शंकाओं को दूर करने के लिए अधिक उत्सुक थी।" दूसरे शब्दों में श्रमिक सरकार दुमुँहेपन से बात करती थी। भारत में तो वह यह धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा करती थी कि अब भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति एक नई रीति ग्रहण की जाएगी। दूसरी ओर इंगलैण्ड में वह यह दिलासा देती थी कि नीति में किसी प्रकार का कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया है।

गांधी-इर्विन भेंट—इस भ्रान्तिमय वातावरण में महात्मा गांधी ने वायसराय से भेंट करके हरेक चीज को साफ-साफ कर लेना चाहा। २३ दिसम्बर, १९२९ को यह भेंट हुई। उसी दिन वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फटा था और वह बाल-बाल बच गए थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, वल्लभ भाई पटेल और जिन्ना भी बैठक में उपस्थित थे, तथापि इस बैठक से कोई विशेष फल नहीं निकला क्योंकि वायसराय यह आश्वासन देने की स्थिति में नहीं थे कि पूर्ण उत्तरदायी शासन गोलमेज परिषद् की कार्यवाही का आधार होगा।

लाहौर में—इस समाचार ने कि, "वायसराय भवन में भारत की आशाएँ चूर्ण हुईं"[2] लाहौर-कांग्रेस का, जिसका अधिवेशन रावी के तट पर हुआ, वातावरण गम्भीर कर दिया। इस वर्ष के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रवाद की उग्र भावना के प्रतीक थे। कांग्रेस ने घोषणा की कि औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रस्ताव को स्वीकार करने का समय बीत चुका है और अब भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य है। ३१ दिसम्बर, १९२९ की मध्य रात्रि में स्वतन्त्र भारत के तिरंगे झण्डे को फहराया गया। कांग्रेस ने गोलमेज परिषद् में भाग न लेने का निश्चय किया और महासमिति को यह अधिकार दिया कि, "वह जब चाहे, जहाँ चाहे, सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक का कार्यक्रम आरम्भ कर दे।"

२६ जनवरी, स्वतन्त्रता दिवस—कांग्रेस ने २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस निश्चित किया और इस अवसर पर पढ़े जाने को स्वतन्त्रता का एक घोषणा-पत्र अंगीकार किया। घोषणा-पत्र ने ब्रिटिश सरकार को भारत के आर्थिक, राजनीतिक,

१. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस", पृ० ५९४।
२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस", पृ० ६००।

सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पतन के लिए दोषी ठहराया और 'स्वतन्त्रता प्राप्त करने के भारतीय जनता के जन्मसिद्ध अधिकार' की घोषणा की।

७२. सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०-३१)

सविनय अवज्ञा की तैयारी—कांग्रेस और महात्मा गांधी ने जल्दबाजी में कोई काम नहीं किया। उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि उस संघर्ष के लिए जो कि अपरिहार्य हो गया था, देश को तैयार किया जाए। एतदर्थ उन्होंने अहिंसक प्रतिरोध की टेकनीक का व्यापक प्रचार किया। उस समय देश एक ऐसी विश्वव्यापी मन्दी के पंजे में था, जिसने अयनवृत्तीय आँधी के जोर से भारत पर प्रहार किया।[1] खेती सम्बन्धी चीजों के भाव ५० प्रतिशत से अधिक गिर गए थे और किसानों की हालत इतनी तंग थी कि, "वे एक गज कपड़ा या डेढ़ पाव लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा-सादा तथ्य यह था कि वे कर, लगान और ऋण को अदा करने में असमर्थ थे।"[2] व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपए की नई विनिमय दर के कारण असन्तोष पैदा हो गया था। सरकार ने रुपए की कीमत १६ पेंस से बढ़ाकर १८ पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंगलैण्ड को पूरा लाभ हुआ। "भारत के उद्योगपतियों और व्यापारियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोष में १९२० से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया।"[3] औद्योगिक कमकर भी असन्तुष्ट और उत्तेजित थे। दमन के फलस्वरूप उन्हें प्रभूत कष्ट उठाने पड़े थे। "श्रमिक आन्दोलन विचारधारा और संगठन दोनों में वर्ग-चैतन्य, उग्र तथा भयावह होता जा रहा था।"[4] सरकार ने मार्च, १९२९ में मजदूर संगठन के ३६ योग्यतम और उग्रतम नेताओं को गिरफ्तार करके और मेरठ षड्यन्त्र अभियोग का अभिनय करके जो लगातार शिथिलतापूर्वक चार वर्ष तक चलता रहा, जिसमें १६ लाख रुपए खर्च हुए और अन्त में २७ श्रमिक नेताओं को सम्राट् को भारत की प्रभुता से च्युत करने के अपराध में दीर्घ कारावास का दण्ड मिला था, श्रमिक संगठन पर भीषण आघात किया। इसके अलावा लाहौर षड्यन्त्र अभियोग ने भी सारे भारत के राजनीतिक वायुमण्डल को विद्युन्मय कर दिया था।

---

१. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १७३।
२. वही, पृ० १७३।
३. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १७५।
४. जवाहरलाल नेहरू—"आउटोबायग्राफी", पृ० १८८।

इस प्रकार उस समय चारों ओर गर्मी छाई हुई थी और इस बात के चिन्ह वर्तमान थे कि यदि महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश न किया होता, तो तत्कालीन आर्थिक दुरवस्था व नौकरशाही दमनचक्र भारत में एक ऐसी क्रान्ति का सूत्रपात कर देते, जिसका स्वरूप निश्चिततः अहिंसात्मक न होता। गांधी इस बात से अवगत थे। २ मार्च, १९३० को उन्होंने वायसराय को चेतावनी का एक पत्र लिखा और उसमें यह मत व्यक्त किया कि हिंसक दल का जोर बढ़ता जा रहा है और वह अहिंसक आन्दोलन जिसे प्रारम्भ करने का मैं निश्चय कर चुका हूँ, न केवल ब्रिटिश शासन के हिंसक दल का ही अपितु बढ़ते हुए हिंसक दल की संगठित हिंसा का भी सामना करेगा।

दाण्डी कूच—सविनय अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश मार्च के प्रारम्भ में किया गया। महात्मा गांधी ने अपनी ग्यारह शर्तों द्वारा वायसराय से कुछ सुधारों को कार्यान्वित करने की मांग की थी। जब उसका कोई सतोषजनक परिणाम नहीं निकला, तब गांधी जी और कांग्रेस के सामने एकमात्र मार्ग यही रह गया था कि वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करें। यह निश्चत किया गया कि सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश महात्मा गांधी और उनके ७९ चुने हुए शिक्षित कार्यकर्त्ता करेंगे, और आन्दोलन दाण्डी-यात्रा तथा लाक्षणिक नमक-कानून-भंग के साथ प्रारम्भ हो। १२ मार्च, १९३० को महात्मा गांधी और उनके ७९ प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता साबरमती आश्रम से समुद्र-तट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर २४ दिनों में तय की गई। वल्लभभाई पटेल आगे-आगे चले और उन्होंने *जॉन दी बैपटिस्ट* (John the Baptist) की तरह मसीहा के आगमन के लिए लोगों को तैयार किया। इस महान् यात्रा के मार्ग में ग्रामवासियों ने सहस्त्रों की संख्या में महात्मा गांधी का अभिनन्दन किया, महात्मा गांधी ने उन्हें आत्म-बलिदान और अहिंसा का उपदेश दिया। "लोगों ने ज्यों-ज्यों दिन-प्रति-दिन कूच करती हुई तीर्थ-यात्रियों की इस प्रगति को देखा, त्यों-त्यों देश का तापमान ऊंचा चढ़ता गया।"[1] देशभक्ति की ज्वाला पूरे प्रवाह के साथ प्रज्वलित हुई और उसने जनता को मातृभूमि की मुक्ति के एक महान् संग्राम के लिए प्रस्तुत कर दिया। ६ अप्रैल को प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद महात्मा गांधी ने समुद्रतट पर नमक बनाकर नमक-कानून भंग किया।

सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम—यह भारत के विभिन्न भागों में विशाल पैमाने पर सविनय अवज्ञा के शुरू हो जाने का संकेत-चिन्ह था। ६ अप्रैल को महात्मा गांधी ने आन्दोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया। "गांव-गांव को नमक बनाने के

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"आउटोबायग्राफी", पृ० २१०।

लिए निकल पड़ना चाहिए। बहनों को शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्र को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्पृश्यता त्याग देनी चाहिए। विद्यार्थी सरकारी मदरसे छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दें।" ४ मई को महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद करबन्दी को भी कार्यक्रम में जोड़ दिया गया।

आन्दोलन पूरे जोरों में—शीघ्र ही आन्दोलन पूरे जोर में आ गया। इस महीने के भीतर-ही-भीतर २०० से अधिक पटेलों और पटवारियों ने अपनी नौकरी छोड़ दी। बहुत से सदस्यों ने विधान मण्डलों से और कई सरकारी नौकरों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिए। हजारों लोगों ने नमक-कानून भंग किया। धारासना में २५०० स्वयंसेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और पाशविक लाठी-प्रहार के शिकार हुए। "जमीन, पीड़ा से कराहते हुए आदमियों से पट गई थी। किसी का कंधा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर थे।" ३०० से अधिक व्यक्ति अस्पताल ले जाए गए और दो मर गए। लेकिन एक व्यक्ति ने भी वार से बचने के लिए अपनी भुजा नहीं उठाई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कार्यक्रम में विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार सबसे आगे रहा और उसने महान् सफलता प्राप्त की। एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार १९३० की शरद् तक कपास के कपड़ों का आयात पूर्व वर्ष के इन्हीं महीनों के आयात की तुलना में तिहाई या चौथाई के बीच रह गया था। बम्बई में अंग्रेज व्यवसाइयों की सोलह मिलें बन्द हो गई थीं और ३२,००० मजदूर बेरोजगार थे। इसके विपरीत भारतीय व्यवसाइयों की मिलें दुगनी गति से काम कर रही थीं।"[१] मदिरा बहिष्कार के कार्यक्रम को पिकेटिंग और प्रचार के द्वारा भी दृढ़ किया गया। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि भारतीय स्त्रियों ने अपने संकोच को त्यागकर स्वातन्त्र्य योद्धाओं के साथ मिलकर काम किया। दिल्ली में लगभग १६०० महिलाएँ शराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार की गईं। किसानों में भी हलचल मच गई थी। गुजरात, मद्रास, पंजाब और बाद में यू० पी० के भागों में वन-कानूनों के बहिष्कार और करबन्दी के आन्दोलन का खूब प्रचार हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने इस बात का समर्थन किया कि करबन्दी आन्दोलन का सम्पूर्ण देश में संगठन होना चाहिए। लेकिन 'कांग्रेस का सम्पत्तिशाली तत्त्व इसके विरुद्ध था।'[२]

---

१. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"रेबेल इण्डिया", पृ० २६।
२. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १७९।

सविनय अवज्ञा और भारतीय मुसलमान—भारत के अधिकांश मुसलमान इस आन्दोलन से पृथक् रहे। महात्मा गांधी के उन कतिपय घनिष्ठतम मित्रों ने, जो खिलाफत आन्दोलन में उनके साथ रहे थे उनकी नीति का विरोध किया। मि० जिन्ना का कथन था—"हम मि० गांधी के साथ शामिल होने से इनकार करते हैं क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए नहीं, अपितु भारत के ७ करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिए है।"[1] लेकिन मुस्लिम लीग और नौकरशाही के गठबन्धन के बावजूद भी, जिन देशभक्त मुसलमानों ने कांग्रेस के ध्वज के नीचे खड़े होकर, इस आन्दोलन में भाग लिया, उनकी संख्या कम महत्वपूर्ण नहीं थी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगारों ने राष्ट्रवादी शक्तियों का साथ दिया और पुलिस की नृशंसताओं का हँसते-हँसते, आश्चर्यजनक सहनशीलता के साथ सामना किया।

सरकार का दमन-चक्र—जून १९३० में, भारत में क्रान्ति पूरे जोर के साथ हिलोरें ले रही थी और बहुत से स्थानों में ब्रिटिश शासन-यन्त्र बिलकुल ठप्प हो गया मालूम होता था। इस काल में बम्बई शहर का शासन-सूत्र ब्रिटिश नौकरशाही के हाथ में नहीं, अपितु कांग्रेस के हाथ में था। सरकार भी निष्क्रिय नहीं थी। उसके लिए यह लड़ाई और इस लड़ाई का रवैया बिलकुल अजब था; पहले तो वह एकदम हतप्रभ-सी हो गई। लेकिन इसके शीघ्र बाद ही उसने दमन-चक्र को वेगपूर्वक घुमाना शुरू कर दिया। लाठी-प्रहार दिन-प्रति-दिन की घटना हो गई। १९२१ में ही "कोलोनल जॉनसन ने लाठी-प्रहार की टेकनीक को पूर्ण कर दिया था।"[2] "पुलिस को इस भयंकर शस्त्र का शरीर के प्राणभूत अंगों पर आघात करने में प्रशिक्षित किया गया था।"[3] अब प्रदर्शनों और सार्वजनिक सभाओं को निर्दयतापूर्वक तितर-बितर किया जाने लगा। कभी-कभी पुलिस छात्रों का पीछा करती हुई उनके कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें व उनके अध्यापकों को अपनी लाठियों का शिकार बनाती थी। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया था और दमनचक्र ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में ६०,००० से अधिक सत्याग्रहियों को जेल में ठूँस दिया। महिलाओं के साथ भी किसी प्रकार की नरमी का बर्ताव नहीं किया जाता था और पुलिस द्वारा स्त्री-कार्यकर्ताओं का पीड़न भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास के अत्यन्त काले कार-

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० ११८-१९।

२. पट्टाभि सीतारामय्या—"हिस्ट्री ऑफ दी नेशनलिस्ट मूवमेण्ट इन इण्डिया" पृ० ५४।

३. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० १७६।

नामों में से एक है। देश को अध्यादेश शासन के अधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनों का बोलबाला था। करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् ग्रहण, हरण और नीलाम का आसरा लिया था। बोरसद में १८ राजनीतिक कैदियों को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया गया था। पुलिस के जुलुम का फल यह हुआ कि कई गाँव बिलकुल उजड़ गए।

जैसी कि आशा की जा सकती है, कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। सरकार ने आतंक का दौरदौरा शुरू करने के लिए उनको बहाना बना लिया। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने छः थाने जला दिए और कुछ चौकीदारों को मार डाला। संगठित कार्यकर्त्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन पुलिस ने पच्चीस आदमियों को गोली से भूनकर और सैकड़ों को घायल करके प्रतिशोध लिया। पेशावर में, अप्रैल, १९३० में इससे भी भयंकर घटनाएँ हुई। वहाँ कई प्रदर्शन किए गए, कुछ अवसरों पर पुलिस और लोगों के बीच संघर्ष हो गया। इसके बाद जो अव्यवस्था फैली, उसमें पुलिस ने नगर को छोड़ दिया और तीन दिनों तक शान्तिपूर्ण व अनुशासित खुदाई खिदमतगारों ने व्यवस्था को कायम रखा। चौथे दिन सैनिक दस्तों ने शहर पर पुनः कब्जा कर लिया और दर्जनों खुदाई खिदमतगारों को मशीनगनों से भूशायी कर दिया। इस दौर में एक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि एक गढ़वाली प्लेटून ने अपने मुस्लिम देशवासियों के ऊपर गोली चलाने से इनकार कर दिया।

७३. पहली गोलमेज परिषद् (नवम्बर-दिसम्बर, १९३०)

प्रतिनिधि—इधर सविनय अवज्ञा आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, उधर सरकार ने भारत के नए संविधान के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया। परिषद् १२ नवम्बर, १९३० को सेंट जेम्स प्रासाद, लन्दन में आरम्भ हुई। सम्राट् ने उसका उद्घाटन किया। कुल प्रतिनिधि ८९ थे। इनमें से ५७ प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करते थे तथा १६ प्रतिनिधि भारतीय राज्यों से गए थे। बाकी १६ व्यक्ति ब्रिटिश संसद के सदस्य थे और वे इंगलैण्ड के तीनों राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। भारतीय प्रतिनिधि वायसराय ने चुने हुए थे और वे विभिन्न जातियों, वर्गों और हितों के लिए बोले। "सेंट जेम्स प्रासाद में राजा और अछूत, सिख, मुसलमान, हिन्दू और ईसाई, भूस्वामियों, श्रमिक संघों और वाणिज्य मण्डलों के प्रवक्ता एकत्रित हुए, लेकिन भारतमाता वहाँ नहीं थीं।"[1] कांग्रेस, जिसके नेता जेल में पड़े हुए ब्रिटिश नौकरशाही के आतिथ्य

१. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"सब्जेक्ट इण्डिया", पृ० ४६।

का मुख भोग रहे थे वह इस परिषद् में बिलकुल अनुपस्थित थी।

परिषद् का कार्य—प्रधान मन्त्री मैकडानेल्ड ने उन सिद्धान्तों का निरूपण किया, जिनके आधार पर विचार-विनिमय किया जाना था। नया संविधान संघीय होने को था। ब्रिटिश सरकार ऐसे अनुविहित रक्षा-कवचों के साथ, जिनकी संक्रमणकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गुंजायश रख ली जाए, प्रान्तों में और केन्द्र में उत्तरदायी शासन की पुनःस्थापना करने के लिए तैयार थी। उन्होंने इस बात का बिलकुल उल्लेख नहीं किया कि यह संक्रमणकाल कब तक रहेगा और रक्षा-कवचों की बात स्पष्टतः वास्तविक शक्ति को ब्रिटिश हाथों में रखने की एक चाल थी। मि० जयकर और सर तेजबहादुर सप्रू ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रश्न उठाया। मि० जयकर ने कहा था, "यदि आप भारत को आज औपनिवेशिक स्वराज्य दे दें, तो स्वतन्त्रता की आवाज अपने आप खतम हो जाएगी।"[1]

संघ, उत्तरदायी शासन, रक्षा-कवच— लेकिन अंग्रेज इतना आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। संघीय सिद्धान्तों को साधारणतः स्वीकार कर लिया गया। राजाओं रका ने एक अखिल भारतीय संघ के विचार का समर्थन किया। सप्रू ने राजाओं की इस नीति का स्वागत किया और आशा प्रकट की कि वे 'हमारे संविधान में सुस्थिरता रखने वाले तत्त्व' सिद्ध होंगे। मि० जिन्ना और सर मोहम्मद शफी ने, जो मुस्लिम लीग के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे, इस विषय पर सहमति प्रकट की। दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों ने भी इसका विरोध नहीं किया।

निर्वाचक-मण्डलों की लड़ाई—लेकिन साम्प्रदायिकता की समस्या परिषद् की असफलता का कारण सिद्ध हुई। अल्पसंख्यक उपसमिति में पुरानी लड़ाई पुनः लड़ी गई। युक्तियाँ भी वही थीं और परिणाम भी वही रहा। लेकिन इस बार एक नई चीज देखने को मिली। दलित वर्गों की ओर से डा० अम्बेडकर ने पृथक् निर्वाचक-मण्डलों की माँग की। जहाँ हिन्दू प्रतिनिधियों ने इस बात की वकालत की कि सब जातियों को भारत की साथ-साथ सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए, मुस्लिम प्रतिनिधियों ने पृथक् निर्वाचक मण्डलों पर बल दिया। मौलाना मोहम्मद अली ने साम्प्रदायिकता के हाथों को मजबूत किया। उन्होंने कहा, "मैं समान आकार के दो दायरों से सम्बन्ध रखता हूँ लेकिन उनका केन्द्र एक ही नहीं है। एक भारत है और दूसरा मुस्लिम-विश्व। हम राष्ट्रवादी नहीं, अपितु अति राष्ट्रवादी हैं।"[2] निर्वाचक मण्डलों की लड़ाई अनिर्णीत समाप्त हुई। अपने अन्तिम भाषण में प्रधान मन्त्री मैकडानेल्ड ने कहा कि ब्रिटिश

---

1. कूपलैण्ड द्वारा उद्धृत—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट", पृ० १३६।
2. कूपलैण्ड—"इण्डियन प्राब्लेम—१८३३-१९३५," पृ० १२१

सरकार संघीय योजना को—प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और केन्द्र में उचित रक्षा-कवचों सहित उसकी आंशिक पुनःस्थापना को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं। जहाँ तक साम्प्रदायिक वाद-विवाद का सम्बन्ध है, इसे उन्होंने "जातियों के ऊपर आपस में ही समझौता करने के लिए" छोड़ दिया।

शर्करा मण्डित गोलियाँ—ये ही वे चीजें हैं, जिन्हें कूपलैण्ड ने पहली गोलमेज परिषद् की दृष्टव्य सफलता का नाम दिया है। दूसरी ओर सुभाष बोस ने गोलमेज परिषद् के कर्तव्य के प्रति भारत के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को संक्षेपतः निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है, "परिषद् ने भारत को दो कड़वी गोलियाँ रक्षा-कवच और संघ प्रदान कीं। गोलियों को भक्षणीय बनाने के लिए 'उत्तरदायित्व' की शक्कर में लपेट लिया गया।"[1]

७४. गांधी-इर्विन समझौता और दूसरी गोलमेज परिषद्

कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता—पहली गोलमेज-परिषद् में कांग्रेस की अनुपस्थिति से ब्रिटिश सरकार स्पष्टतः परेशान थी। कांग्रेस के बिना सम्पूर्ण परिषद् की स्थिति बिना दूल्हे वाली बारात के तुल्य हो रही थी। कांग्रेस के साथ समझौते का मार्ग प्रशस्त करने के लिए २५ जून, १९३१ को महात्मा गांधी और कार्यसमिति के १९ सदस्यों को बिना शर्त कारागार से मुक्त कर दिया गया। 'शान्ति-स्थापकों सप्रू और जयकर के प्रयत्नों के फलस्वरूप महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन के बीच एक सम्मेलन हुआ, जो १७ फरवरी से शुरू हुआ व जिसकी चरम परिणति इतिहास में गांधी-इर्विन समझौते के नाम से प्रख्यात है।

गांधी-इर्विन समझौते की शर्तें—गांधी-इर्विन समझौते पर ५ मार्च, १९३१ को हस्ताक्षर हुए। यह समझौता कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता को प्रकट करता था। समझौते की शर्तों के अनुसार वायसराय (१) हिंसात्मक अपराधों के सिद्धदोष कैदियों के सिवाय शेष सब राजनीतिक कैदियों को छोड़ने, (२) जब्त की हुई सम्पत्ति को वापस करने, (३) समुद्रतट के आसपास निवास करने वाले लोगों को नमक निःशुल्क तैयार करने या एकत्रित करने की आज्ञा देने और (४) शराब, अफीम व विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शान्तिपूर्वक पिकेटिंग करने की आज्ञा देने के लिए सहमत हो गए। कांग्रेस ने अपनी ओर से (१) सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करने (२) पुलिस की ज्यादतियों की निष्पक्ष जाँच-पड़ताल की अपनी माँग को त्याग देने और (३) भारत के हित में संरक्षणों या रक्षा-कवचों सहित उत्तरदायित्व के आधार पर दूसरी गोलमेज परिषद् में भाग लेने का वचन दिया।

१. सुभाष बोस—"इण्डियन स्ट्रगल", पृ० २७५।

समझौते के ऊपर प्रतिक्रिया—समझौते के सम्बन्ध में के० एम० मुंशी ने कहा था कि यह "भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है।" परन्तु यह दृष्टिकोण कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष का था। कांग्रेस का वाम-पक्ष समझौते से घोर असन्तुष्ट था। उसकी दृष्टि में यह समझौता साम्राज्यवाद के निकट अधम आत्म-समर्पण था। जवाहरलाल नेहरू को 'रक्षा-कवचों' से सम्बद्ध धारा के कारण जिसका वह स्वतन्त्रता के साथ 'बेर केर संग' समझते थे, गम्भीर आघात पहुँचा। एच० मुखर्जी का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि "साम्राज्यवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद के साथ सन्धि तो अवश्य की, लेकिन अपनी शर्तों के ऊपर।" समझौते के सम्बन्ध में उग्रवादियों की उक्त धारणा सर्वथा निराधार नहीं थी, यह बात 'टाइम्स' की उस टिप्पणी से भी पुष्ट होती है जिसमें कहा गया था कि "इस प्रकार की विजय किसी वायसराय को बहुत कम मिली है।" अतः यह स्पष्ट है कि जहाँ कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष ने गांधी-इर्विन समझौते को अपनी विजय समझा, वहाँ वस्तुतः वह ब्रिटिश कूटनीति की विजय थी। भारतीय युवक सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की फाँसी के ऊपर बहुत क्रुद्ध हुए। महात्मा गांधी उनके लिए सरकार से क्षमा प्राप्त करने में असफल रहे, इसलिए वह भी युवक-वर्ग के रोष-भाजन बने। कुछ स्थानों पर उन्हें काले झण्डे दिखाए गए।

कांग्रेस का दूसरी गोलमेज-परिषद् में योगदान—कराची अधिवेशन में एक प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि समझौते के लिए महात्मा गांधी को छोड़ कर अन्य कोई व्यक्ति उत्तरदायी होता, तो उसे समुद्र में फेंक दिया जाता। इस सारे विरोध के बावजूद भी महात्मा गांधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा दक्षिण-पन्थियों के बहुमत के कारण २९ मार्च, १९३१ को कराची-कांग्रेस के अवसर पर इस समझौते को स्वीकार कर लिया गया। फलतः दूसरी गोलमेज परिषद् में, जो ७ सितम्बर, १९३१ को शुरू हुई, कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी ने भाग लिया। पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी व्यक्तिगत क्षमता से परिषद् में सम्मिलित हुए।

परिषद् शुरू होने के कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। श्रमिक सरकार अपदस्थ हो गई। रैमजे मैकडानेल्ड अब भी प्रधान मन्त्री थे, लेकिन उनके दल ने उनको बदनाम कर दिया था। इस समय वह राष्ट्रीय सरकार के प्रधान थे और अनुदार दल व उदार दल का हाथ उनकी पीठ पर था। सर वेजवुड बेन के स्थान पर सर सैमुअल होर, जो पक्के टोरी थे, भारत-मन्त्री नियुक्त हुए थे।

साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही रहता है—दूसरी गोलमेज परिषद् में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र सरकारी प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, लेकिन उनकी उपस्थिति भी परिषद् को सफल नहीं बना सकी। यह ठीक है कि नए

संविधान के कुछ ब्योरे निश्चित कर लिए गए। संघीय न्यायपालिका का ढाँचा, संघीय विधानमण्डल का संगठन और भारतीय राज्यों के अखिल भारतीय संघ में प्रवेशन से सम्बद्ध आदि बातें निश्चित हो गईं। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन किया और 'सुरक्षा बलों व वैदेशिक मामलों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण' सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की। लेकिन इस माँग का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। इसके अलावा साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही बना रहा। उन्होंने अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई हल नहीं निकल सका। १ दिसम्बर, १९३१ को परिषद् विसर्जित हो गई।

७५ पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३२-३४)

संधिकाल का अन्त—महात्मा गांधी इंगलैण्ड से खाली हाथों वापस आ गए, यद्यपि उन्होंने इस बात का दावा किया कि "मैं बढ़ी हुई आशा को लेकर लौट रहा हूँ।" उनकी अनुपस्थिति में भारत में कांग्रेस और सरकार का सन्धिकाल समाप्त होने लगा था। सरकार ने कांग्रेस के ऊपर यह दोषारोपण लगाया कि उसने यू० पी० में किसानों को कर न देने के लिए उत्साहित किया है और इस बात की शिकायत की कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगार सविनय अवज्ञा को पुनः शुरू करने की तैयारी कर रहे हैं। इसके विपरीत कांग्रेस ने यह आक्षेप किया कि नौकरशाही ने गांधी इर्विन समझौते की सब शर्तों का उल्लंघन किया है और पुलिस का दमन-चक्र पूर्ववत् जारी है।

लार्ड वेलिंगडन की कठोर नीति—लार्ड इर्विन के उत्तराधिकारी लार्ड वैलिंगडन कठोर नीति के विश्वासी थे। उन्होंने भारत-राष्ट्र की नवचेतना भंग करने के लिए कमर कस ली थी। इगलैण्ड की राष्ट्रीय सरकार के दक्षिण पक्ष ने भी कांग्रेस को, जो वैलिंगडन के अनुसार "वैकल्पिक सरकार" होने का अभिनय करती थी, कुचल डालने का निश्चय किया। रोम से आने वाली एक झूठी प्रेस रिपोर्ट से जिसमें कहा गया था कि महात्मा गांधी का सविनय अवज्ञा को पुनः प्रारम्भ करने का इरादा है, सरकार को बहाना मिल गया। २८ दिसम्बर, १९३१ को जब महात्मा गांधी बम्बई में उतरे, जवाहरलाल नेहरू, खान बन्धु और दूसरे चोटी के नेता पहले ही जेल में बंद कर दिए गए थे। महात्मा गांधी ने "बिना किन्हीं शर्तों का समारोप किए" वैलिंगडन से एक इंटरव्यू के लिए प्रार्थना की, लेकिन वैलिंगडन ने इस प्रार्थना को अस्वीकार किया। कांग्रेस कार्यसमिति ने सविनय अवज्ञा को पुराने तरीके से पुनः शुरू करने का निश्चय करके, इस चीज का जवाब दिया। ३ जनवरी, १९३२ को महात्मा गांधी ने राष्ट्र का एक 'अग्नि-परीक्षा' का सामना करने के लिए आह्वान किया।

आन्दोलन और दमन—सरकार ने तुरन्त कार्यवाही की। ४ जनवरी को सरदार पटेल व महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए और यरवदा जेल में नजरबन्द कर दिए गए। अध्यादेशों के समूह ने नौकरशाही को विशेष शक्तियों से सज्जित कर दिया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी संघर्ष के पुनः प्रारम्भ होने का संकेत-चिन्ह था। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "इस बार ब्रिटिश सरकार का जो प्रतिरोध किया गया, वह १९३० में महान् था।" लेकिन जैसे समय बीत गया, आन्दोलन की शक्ति घटती गई। तथापि आन्दोलन १९ मई, १९३३ तक चलता रहा, जब तक कि वह महात्मा गांधी द्वारा बारह सप्ताह के लिए स्थगित न कर दिया गया। सरकार ने महात्मा गांधी को छोड़ तो ८ मई को ही दिया था, लेकिन इस समय उनके सामने सबसे बड़ी समस्या अछूतों की ओर समीपागत साम्प्रदायिक पंचाट के द्वारा हिन्दू जाति के सम्भाव्य विघटन की थी। १४ जुलाई, १९३३ को जन-आन्दोलन रोक दिया गया यद्यपि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा एक वर्ष तक चलती रही। जनता का उत्साह निश्चित रूप से कम हो गया था और नैतिक पतन के चिन्ह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे थे। ७ अप्रैल, १९३४ को महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा समाप्त कर दी। उनके सेनापतित्व के ऊपर पुनः आक्षेप हुए। सुभाष बोस और वी० जी० पटेल ने, जो उस समय यूरोप में थे, सविनय अवज्ञा के स्थगन को पराजय की स्वीकारोक्ति बताया और कहा कि एक राजनीतिक नेता के रूप में महात्मा गांधी असफल सिद्ध हुए हैं।[1] जवाहरलाल नेहरू भी रुष्ट हुए और उन्होंने कांग्रेस नेतृत्व की कटु आलोचना की।

यह स्मर्तव्य है कि इस बार आन्दोलन का दमन करने में सरकार ने अभूतपूर्वक निर्दयता से काम लिया। चर्चिल तक ने कहा था कि सरकार की दमन नीति गदर के बाद से इस बार सबसे कठोर रही थी। कांग्रेस और उसके सब सहायक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया व उसकी समस्त सम्पत्ति, बैंक के हिसाब-किताब तथा कार्यालयों पर अधिकार कर लिया गया। सरकार ने राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों के मुंह पर ताला लगा दिया और कांग्रेस को डाकखाने के उपयोग से वंचित कर दिया। कांग्रेस को हरकारों द्वारा डाक भेजने और गुप्त समाचार-पत्र निकालने के भूमिगत तरीकों को अपनाना पड़ा। 'विद्रोही' स्थानों में दण्ड पुलिस और ट्रूपों को तैनात कर दिया गया। सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्य-क्रम हो गए।

---

१. आर० पी० दत्त—"इण्डिया टु-डे", पृ० ३४२।

७९. मैकडानेल्ड (साम्प्रदायिक) पंचाट और पूना-समझौता

पंचाट की पृष्ठ-भूमि—यह स्मर्तव्य है कि गोलमेज परिषद् के प्रथम दो अधिवेशन साम्प्रदायिक समस्या के गतिरोध को दूर करने में असमर्थ रहे थे। एडवर्ड थामसन के अनुसार यह मुख्यतः समझौते का तीव्र विरोध करने वाले मुसलमानों तथा कुछ विशेष अलोकतन्त्रवादी ब्रिटिश राजनीतिक क्षेत्रों का अभि-सन्धि का प्रमाण था।[1] तथापि द्वितीय गोलमेज परिषद् के अन्त में मैकडानेल्ड ने प्रतिनिधियों से कह दिया था कि साम्प्रदायिक समस्या का समाधान मुख्यतः तो सम्बद्ध जातियों के ही ऊपर निर्भर है लेकिन, "ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए कृतसंकल्प है कि वह बाधा भी उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं बनने दी जाएगी।" उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि, "यदि कोई सर्वसम्मत हल सामने नहीं आया तो ब्रिटिश सरकार को अपनी कामचलाऊ योजना लागू करनी पड़ेगी।" साम्प्रदायिक अथवा मैकडानेल्ड पंचाट जो ८ अगस्त, १९३२ को प्रकाशित हुआ इसी का परिणाम था। इसके साथ ही-साथ यह भी घोषणा कर दी गई थी कि, "यदि सरकार को यह विश्वास हो जाएगा कि विभिन्न सम्प्रदायों को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो वह ब्रिटिश संसद से सिफारिश करेगी कि साम्प्रदायिक पंचाट में रखी गई योजना के बदले में नई योजना स्वीकार कर ली जाए।"

पंचाट की शर्तें—पंचाट ने विशेष हितों और अल्पसंख्यक वर्गों के लिए और बंगाल व पंजाब में मुसलमानों के लिए, यद्यपि वे इन प्रान्तों में जनसंख्या की दृष्टि से बहुमत में थे, पृथक् निर्वाचन पद्धति को पूर्ववत कायम रखा। पंचाट में दो अन्य विलक्षणताएँ भी थीं। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के विधान-मण्डल के सिवाय प्रत्येक प्रान्तीय विधान-मण्डल में ३ प्रतिशत स्थान, जिन्हें विभिन्न सम्प्रदायों में बाँट दिया गया था, स्त्रियों के लिए सुरक्षित रखे गए। पंचाट में 'गुरुभार' भी था, यद्यपि उसे अत्यन्त विषम रीति से वितरित किया गया था। लेकिन इस योजना की सबसे घातक विशेषता यह थी कि दलित वर्गों को एक विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में मान्य किया गया और उन्हें पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने का व 'साधारण' निर्वाचन क्षेत्रों में एक अतिरिक्त मत का अधिकार दिया गया। साम्प्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद के बल को निर्बल करने के लिए भारत के साम्प्रदायगत व वर्गगत मतभेदों को उत्तेजित करने की परम्परागत ब्रिटिश नीति के अनुरूप ही था। मेहता और पटवर्धन ने लिखा है, "भारत में साम्प्रायिक क्रियाकलापों का

१. डॉ० राजेन्द्रप्रसाद—खण्डित भारत" पृ० २०७।
२. वही, पृ० २०८-२०९।

संरक्षण राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के साथ-साथ हुआ है।" १९०९ में निर्वाचक मण्डल को चार साम्प्रदायिक और वर्ग-निर्वाचक मण्डलों में विभाजित किया गया, १९१९ में उसे दस भागों में बांट दिया गया और १९३५ में यह संख्या १७ तक बढ़ा दी गई है।"[1] यह बात महत्वपूर्ण है कि, "१९१९ में साम्प्रदायिकता का सूत्रपात इसलिए किया गया क्योंकि दो दल इससे सहमत थे। १९३५ में साम्प्रदायिकता को इसलिए बढ़ाया गया क्योंकि हिन्दू और मुसलमान एकमत नहीं हो सके।"[2]

स्पष्ट है कि 'फूट डालो और राज्य करो' की पुरानी नीति, जिसकी एल्फिंस्टन मैरकाम और मैटकाफ के जमाने में जोर-शोर से घोषणा की जाती थी, अब सूक्ष्मतर प्रादुर्भावों की तलाश करने के लिए विवश हो गई थी। ब्रिटिश कूटनीति ने निरपेक्षता का अभिनय करना सीख लिया था लेकिन इस अभिनय का भोंडापन भी साफ दिखाई देने लगा था।

ब्रिटिश निष्पक्षता का अद्भुत प्रदर्शन—'निरपेक्ष' ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष रूप से मुसलमानों के ऊपर बहुत ही कृपालु थी। पंचाट में हिन्दुओं के साथ बहुत अन्याय किया गया था। पंजाब और बंगाल में हिन्दू अल्पमत में थे, वे इस अन्याय के सबसे ज्यादा शिकार हुए। 'ब्रिटिश-निष्पक्षता' के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं। १९३१ की जनगणना के अनुसार बंगाल में मुसलमान कुल जनसंख्या के ५४.८% और हिन्दू ४४.८ प्रतिशत थे। लेकिन प्रान्तीय विधान-मण्डल के २५० स्थानों में से ११९ स्थान मुसलमानों को और ८० स्थान हिन्दुओं को दिए गए। यूरोपीय कुल जनसंख्या के '०१% ही थे लेकिन फिर भी उन्हें २५ स्थान देने के लिए दोनों जातियों को अपना प्राप्य प्रतिनिधित्व उत्सर्ग करना पड़ा, परन्तु विलक्षण बात यह है कि हिन्दुओं से जिस उत्सर्ग की माँग की गई, वह अनुपात की दृष्टि से मुसलमानों से तिगुना था। पंजाब में अल्पसंख्यक वर्गों (हिन्दुओं और सिखों) को 'गुरुभार' उसी माप के अनुसार नहीं दिया गया जिस माप के अनुसार वह मुसलमानों को उन प्रान्तों में, जहाँ वे अल्पमत में थे, दिया गया था। 'गुरुभार' के मामले में ब्रिटिश निष्पक्षता ने अनोखी रीति से काम किया। पंजाब में हिन्दू और सिख तो ब्रिटिश सरकार की कृपाकोर से वंचित रहे, लेकिन भारतीय ईसाइयों, आंग्ल भारतीयों और यूरोपियनों को ब्रिटिश सरकार का भूरिशः अनुग्रह प्राप्त हुआ। उन्हें क्रमानुसार ३००%, ३,०००% और २५,०००% गुरुभार मिला। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने व्यंग्य के रूप में लिखा है, "ब्रिटिश सरकार अवश्य ही इस मामले में सर्वथा उदासीन थी।"[3]

१. मेहता और पटवर्धन—"दी कम्युनल ट्रायंगल", पृ० १०१।
२. वही, पृ० ७५
३. राजेन्द्र प्रसाद—"खण्डित भारत", पृ० २१२।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने जहाँ साम्प्रदायिक पंचाट का साधारणतः खण्डन किया, कांग्रेस ने उसके प्रति कुछ विचित्र-सा दृष्टिकोण अपनाया। कार्य-समिति ने निर्णय किया कि कांग्रेस को न तो इसे स्वीकार ही करना चाहिए और न अस्वीकार ही, यद्यपि अधिकांश सदस्यों के मत में "पंचाट सर्वथा तिरस्कार-योग्य था।"[१] पंडित मालवीय और एम० एस० अणे इस डांवाडोल दृष्टिकोण से अप्रसन्न हुए और उन्होंने पंचाट के विरुद्ध लड़ाई जारी रखने के लिए कांग्रेस राष्ट्रवादी दल का निर्माण किया।

गांधी जी का उपवास और पूना-समझौता—लेकिन पंचाट के दलित वर्गों से सम्बन्ध रखने वाला उपबन्ध महात्मा गांधी के लिए असह्य था। इससे उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा पहुंची और उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर हिन्दू जाति का विघटन करने की इस अपवित्र चेष्टा को निष्फल करने का निश्चय किया। जिस समय पंचाट प्रकाशित हुआ, वह जेल में थे, उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय किया। २० सितम्बर, १९३३ को महात्मा गांधी का यह ऐतिहासिक उपवास प्रारम्भ हुआ। डा० अम्बेदकर ने उसे 'राजनीतिक धूर्तता' बताया और बहुतों ने उसकी आलोचना करते हुए कहा कि यह बल-प्रयतन का तरीका है। लेकिन इस उपवास का मनोवांछित फल हुआ, इसने हिन्दू जाति का मनोमंथन करके रख दिया। पण्डित मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद और एम० एस० राजा के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक समझौता-सूत्र तैयार किया गया जिसे महात्मा गांधी ने ससन्तोष स्वीकार किया और जिस पर आधे मन से डा० अम्बेदकर ने भी हस्ताक्षर कर दिए। इस सूत्र के अनुसार 'हरिजनों' (यह शब्द महात्मा गांधी ने दलित वर्गों के लिए गढ़ा था) को मैकडानेल्ड पंचाट द्वारा दिए गए स्थानों से भी अधिक स्थान दिए गए। लेकिन इन स्थानों का निर्वाचन दो स्तरों में होना निश्चित हुआ अर्थात् प्रारम्भिक निर्वाचन में अछूत पृथक निर्वाचक मण्डल के आधार पर प्रत्येक स्थान के लिए चार प्रत्याशी चुने लेकिन अन्तिम निर्वाचन में सवर्ण हिन्दू और हरिजन सम्मिलित रूप से मतदान दें। इसके अलावा उन साधारण स्थानों के लिए, जो हरिजनों के लिए सुरक्षित नहीं रखे गए थे, हरिजनों को निर्वाचन में एक अतिरिक्त मत दिया गया। यह समझौता, जो पूना-समझौते के नाम से प्रख्यात है, २६ सितम्बर, १९३२ को अंगीकृत किया गया और उसी दिन महात्मा गांधी ने अपना उपवास तोड़ा।

---

१. सुभाष बोस—"दी इण्डियन स्ट्रगल", पृ० ३७२।

७७. तीसरी गोलमेज परिषद्

परिषद् का प्रतिगामी स्वरूप—गोलमेज परिषद् का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन नवम्बर, १९३२ में शुरू हुआ और वर्ष समाप्त होने के कुछ दिनों पूर्व समाप्त हुआ। श्रमिक दल ने परिषद् से अपना सहयोग खींच लिया था। भारत का प्रतिनिधित्व कट्टर राजभक्तों ने किया था। फलतः यह अधिवेशन प्रतिगामी तत्वों की पूर्ण अधीनता में सम्पन्न हुआ। भारत के नए संविधान के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें तो पहले ही तय कर ली गई थीं, परिषद् का मुख्य कार्यक्रम उन्हें पुनः पुष्ट करने और कुछ बातों को सविस्तार निश्चित करने का था।

श्वेत-पत्र—मार्च, १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने श्वेत-पत्र प्रकाशित किया। इस श्वेत-पत्र में कहने को तो गोलमेज परिषद् के निष्कर्षों को ही लेखबद्ध किया गया था, लेकिन इन निष्कर्षों में अनुदार दल की आलोचना का सामना करने के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए गए थे। श्वेत-पत्र के प्रस्ताव "इतने प्रतिगामी थे, कि भारत के प्रत्येक प्रगतिशील लोकमत के लिए सर्वथा अस्वीकार्य थे।"[1]

संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट—नया भारत सरकार अधिनियम—ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त प्रवर समिति ने श्वेत-पत्र की योजना का परीक्षण किया। अपनी रिपोर्ट में समिति ने श्वेत-पत्र के प्रस्तावों पर साधारण रूप से अपनी स्वीकृति दे दी। उसने जो थोड़े से संशोधन किए भी, उन्होंने योजना को और खराब कर दिया। उदाहरणार्थ मूलतः संघीय सभा के लिए प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया गया था, लेकिन समिति ने उसके लिए परोक्ष निर्वाचनों की सिफारिश की। संयुक्त संसदीय समिति ने संवैधानिक योजना को जो अन्तिम रूप दिया वह "सुधार के नाम में उन्मुक्त साम्प्रदायिकता और प्रतीपगमन (Retrogression) था।" इस योजना ने १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम का स्वरूप धारण किया। ब्रिटिश संसद ने इसको अगस्त, १९३५ में पास किया।

सारांश

१९२४ में कारागार से छूटने के पश्चात् महात्मा गांधी सक्रिय राजनीति से दूर रहे थे। १९२७ में कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में भारत के राजनीतिक रंग-मंच पर वह पुनः अवतरित हुए। उस वर्ष नवम्बर में अनुविहित (साइमन कमीशन) की नियुक्ति की घोषणा की गई। कमीशन के जिम्मे मोंटफोर्ड सुधारों की क्रियान्विति

---

१. सी० वाई० चिन्तामणि—"इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी", पृ० १८५।

की जाँच-पड़ताल करना और इस बात की कि भारत में उत्तरदायी शासन को बढ़ाया जाए या नहीं रिपोर्ट करना था। कमीशन ने १९२८ में भारत की यात्रा की।

कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था। थोड़े से प्रतिगामियों को छोड़कर भारतीय लोकमत के सभी वर्गों ने उसका बहिष्कार किया। जिस समय कमीशन अपने अनुसंधान करने में व्यस्त था, भारत के समस्त राजनीतिक दलों के एक सम्मेलन ने पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत के नए संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। नेहरू रिपोर्ट (१९२८) ने पूर्ण उत्तरदायी शासन सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की और पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को अस्वीकार कर दिया।

१९२७ में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य अंगीकृत कर लिया था। १९२८ के अधिवेशन में उसने सरकार को एक अल्टीमेटम दे दिया था। इस अल्टीमेटम में कांग्रेस ने सरकार से यह माँग की थी कि वह नेहरू रिपोर्ट में प्रस्तावित वैधानिक योजना को पूर्णतः स्वीकार कर ले। यदि सरकार ने इस योजना को स्वीकार नहीं किया, तो कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य से सहमत होने के अपने पूर्व प्रस्ताव को वापस ले लेगी। चूंकि सरकार ने अक्टूबर, १९२९ में लार्ड इर्विन द्वारा की गई एक अस्पष्ट उद्घोषणा के सिवाय इस चेतावनी का और कोई उत्तर नहीं दिया, अतः कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन (दिसम्बर, १९२९) में पूर्ण स्वराज्य के लिए संग्राम करने का निश्चय किया और अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा शुरू करने का अधिकार दे दिया।

महात्मा गांधी ने अपनी ऐतिहासिक दाण्डी-यात्रा के अन्त में नमक-कानून तोड़कर ६ अप्रैल, १९३० को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन ने जनता में अभूतपूर्व उत्साह उत्पन्न किया और नौकरशाही दमनचक्र ने जनता के प्रतिरोध को दृढ़ से दृढ़तर ही बनाया।

जिस समय आन्दोलन जोरों से चल रहा था, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में एक गोलमेज परिषद् की। इसमें ब्रिटिश भारत, देशी रियासतों और ब्रिटिश संसद के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। परिषद् ने भारत के नए संविधान में सिद्धान्तों पर विचार-विनिमय किया कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने की वांछा से सरकार ने महात्मा गांधी के साथ समझौते की बातचीत शुरू की। गांधी-इर्विन समझौते के फलस्वरूप, जिस पर ५ मार्च, १९३१ को हस्ताक्षर हुए, सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और महात्मा गांधी गोलमेज परिषद् के दूसरे अधिवेशन में सम्मिलित हुए। लेकिन उनकी उपस्थिति भी साम्प्रदायिक गत्यवरोध को दूर करने में असफल रही। यद्यपि परिषद् ने नए संविधान के कतिपय मूलभूत पहलुओं को निश्चित कर लिया, लेकिन

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की जटिल समस्या अनिर्णीत बनी रही।

२८ दिसम्बर, १६३१ को महात्मा गांधी भारत वापस आ गए और शीघ्र ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः शुरू कर दिया गया। सरकार ने आन्दोलन को कुचल डालने के लिए पाशविक उपायों का आश्रय लिया। अप्रैल, १६३४ में आन्दोलन को अन्ततः बन्द कर दिया गया।

इसी बीच में अगस्त, १६३२ में साम्प्रदायिक पंचाट प्रकाशित कर दिया गया था। इसने पृथक् निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए ही कायम रखा अपितु उसे दलित वर्गों के ऊपर भी लागू कर दिया। पंचाट ने दलित वर्गों को एक विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग की मान्यता प्रदान की। हिन्दू जाति को विघटित करने की इस चेष्टा को निष्फल करने के लिए महात्मा गांधी ने आमरण उपवास प्रारम्भ कर दिया। फलतः २६ सितम्बर को पूना-समझौता स्वीकार किया गया। इस समझौते में जिस निर्वाचन पद्धति को निर्धारित किया गया, वह पृथक् निर्वाचन-पद्धति और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति के बीच का मार्ग थी। इस समझौते ने दलित वर्गों को हिन्दू जाति से अलग होने से रोक दिया।

गोलमेज परिषद् के तीसरे अधिवेशन ने उसके प्रारम्भिक अधिवेशनों के कार्य को पूरा कर दिया। मार्च, १६३३ में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जिसमें नए संविधान के प्रस्ताव लेखबद्ध थे। इन प्रस्तावों का एक संयुक्त प्रवर समिति ने निरीक्षण किया और उन्हें संसद ने १६३५ के भारत सरकार अधिनियम के रूप में पास किया।

अध्याय ११

का भारत सरकार अधिनियम

७८. मुख्य विशेषताएँ

प्रतिगामी कानून—प्रो० कूपलैण्ड ने १९३५ के अधिनियम को "रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान् सफलता"[1] बतलाया है। उनके मत में, "उसने भारत के भाग्य का स्थानांतरण अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में सम्भव कर दिया।"[2] तथापि कोई भारतीय इस दृष्टिकोण को कठिनता से ही स्वीकार कर सकता है। निष्पक्ष ब्रिटिश टीकाकारों तक ने इस बात को नोट किया है कि अधिनियम में डोमीनियन स्टेटस के लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई थी।"[3] भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने इस आधार पर अधिनियम का तिरस्कार किया कि उसने सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथों में रखी और वह एक प्रतिगामी कानून था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उसे 'दासता का एक चार्टर' बताया। उनके मत में अधिनियम ने ब्रिटिश सत्ता से संचालित हुकूमती ढाँचे में हस्तक्षेप करने या सुधार करने के लिए भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को कोई रास्ता नहीं छोड़ा था। "इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिन्दुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक् निर्वाचन पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और ज्यादा सुदृढ़ कर दिया। इस एक्ट में ऐसी धाराएँ साफ तौर पर रख दी गई कि उनकी इस हैसियत पर रोक या पाबन्दियाँ बिलकुल नहीं लगाई जा सकती थीं⋯इस कानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फौज और विदेशी नीति के सारे मामलों में पूरा नियन्त्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों-का-त्यों बना

---

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट", पृ० १५४।

२. कूपलैण्ड—"दी इण्डियन प्राब्लेम, १८३३-१९३५", पृ० १४७।

३. मि० एटली ने कामन सभा के एक वाद-विवाद में इस आधार पर अधिनियम का विरोध किया था। देखिए कीथ—"ए कंस्टीट्यूशनल हिस्टरी आफ इण्डिया", पृ० ४७०।

रहा। इस विधान ने वायसराय को पहले से कहीं ज्यादा शक्ति सौंप दी।"[1] गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों की स्वेच्छाचारी शक्तियां पूर्ववत् अखण्ड बनी रही। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इन एजेण्टों में निहित स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों ने उत्तरदायी शासन की कथित पुरःस्थापना को निरर्थक कर दिया था। संघीय विधान मण्डलों की विधायी सक्षमता को गवर्नर जनरल की प्रत्याद्रेशक शक्तियों के द्वारा कठोरतापूर्वक निर्बन्धित कर दिया गया था। विधानमण्डल राष्ट्र की आय-व्यय को भी नियन्त्रित नहीं कर सकता था, उस पर पूर्णतः गवर्नर जनरल का अधिकार था, जो भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति नहीं, अपितु ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था।

संघीय आधार—१९३५ के अधिनियम की विलक्षणता इस बात में थी कि उसने एक ऐसे अखिल भारतीय संघ की रचना का प्रस्ताव किया जो कि ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय राज्यों की एक पर्याप्त संख्या से मिलकर बने। यह उपबन्धित कर दिया गया था कि भारतीय राज्य प्रस्तावित संघ में स्वेच्छा से सम्मिलित होंगे। यह ब्रिटिश शासन के अधीन भारत के वैधानिक ढांचे की एकात्मक परम्परा के बिलकुल विपरीत था और भारतीय रजवाड़ों व शेष भारत को एक सामान्य प्रशासन के अन्तर्गत लाने का प्रथम प्रयास था। लेकिन प्रस्तावित संघ की योजना सर्वथा अनूठी थी। भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने उसको अस्वीकार कर दिया और वह कभी कार्यरूप में परिणत नहीं हुई।

केन्द्र में द्वैध शासन प्रणाली का प्रस्ताव—१९३५ के अधिनियम के अनुसार केन्द्र में द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होने को था। अधिनियम ने संघीय (केन्द्रीय) प्रशासनिक क्षेत्र को संरक्षित और हस्तान्तरित दो भागों में बांटना निश्चित किया था। संरक्षित विषयों का शासन गवर्नर जनरल कार्यकारिणी-परिषदों की सहायता से अपने विवेक के अनुसार करने को था। संघीय कार्यपालिका का यह भाग संघीय विधानमण्डल के नियन्त्रण से पूर्णतः बाहर था। हस्तान्तरित विषयों के शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल से यह आशा की जाती थी कि वह साधारणतः संघीय विधानमण्डल के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।

प्रान्तीय स्वायत्तता—इसके साथ ही साथ अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैध शासन-प्रणाली को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की। संरक्षित और हस्तान्तरित विभागों के भेद को दूर कर दिया और न्यूनाधिक रूप

१. जवाहरलाल नेहरू—"हिन्दुस्तान की कहानी", पृ० ४५५।

से सम्पूर्ण प्रान्तीय प्रशासन उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिया गया । तथापि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन न तो जेन्य ही था और न पूर्ण ही । गवर्नरों को ऐसी विशेष शक्तियाँ दे दी गई थीं, जिनसे वे अपने मन्त्रियों के परामर्श का प्रत्यादेश कर सकते थे । प्रान्तीय स्वायत्तता ने प्रान्तों को प्रस्ताविक संघ के स्वायत्त एककों का एक नया वैधानिक स्तर भी प्रदान किया । इस चीज को सुनिश्चित करने के लिए शक्तियाँ तीन विशद सूचियों के आधार पर केन्द्र और प्रान्तों के बीच वितरित कर दी गई । तथापि इसने प्रान्तीय क्षेत्र का अतिक्रमण करने की केन्द्रीय सरकार की शक्ति को पूर्णतः समाप्त नहीं कर दिया ।

संघीय न्यायालय—नए संविधान के संघीय आधार को कायम रखने के लिए १९३५ के अधिनियम ने संविधान के निर्वाचन और क्षेत्राधिकार सम्बन्धी मतभेदों का निर्णय करने के लिए एक संघीय न्यायालय की स्थापना का भी उपबन्ध किया । यद्यपि १९३५ के अधिनियम में चित्रित अखिल भारतीय संघ ने तो मूर्त रूप धारण नहीं किया, परन्तु संघीय न्यायालय का १ अक्तूबर, १९३७ को उद्घाटन कर दिया गया ।

७९. रक्षा-कवच और संरक्षण

रक्षा-कवचों की प्रकृति—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम का सर्वाधिक विवादास्पद पहलू उन रक्षा-कवचों और संरक्षणों में विद्यमान था, जिसका उसने उपबन्ध किया था । भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने उनका विरोध किया क्योंकि वे लोकतन्त्र की भावना के विरुद्ध थे और उनका उद्देश्य गवर्नर जनरल व प्रान्तीय गवर्नरों के हाथों में ऐसी विशाल शक्तियाँ देकर, जिनका वे इच्छानुसार प्रयोग कर सकते थे, भारत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही की जड़ों को मजबूत करना था । अधिनियम के आधीन प्रस्तावित संघ इतना प्रतिगामी था कि यदि कहीं वह मूर्तरूप धारण कर लेता तो उन अनुदार तत्वों व न्यस्त स्वार्थों का गढ़ बन जाता जिनको ब्रिटिश अधिकारी इच्छानुसार स्वार्थपूर्ति का साधन बना सकते थे । लेकिन वे संयोग पर कोई चीज न छोड़ने के लिए कृतनिश्चय थे और इसलिए ब्रिटिश शक्ति को अखण्ड-अजस्र रखने के उद्देश्य से पग-पग पर रक्षा-कवचों व संरक्षणों का विधान किया गया ।

केन्द्र में संरक्षण—संघीय क्षेत्र में प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों, जनजाति-क्षेत्रों के प्रशासन और धार्मिक विषयों को उत्तरदायी मन्त्रियों के पर्यवलोकन से बाहर रखा गया । ये संरक्षित विषय थे और गवर्नर जनरल को इनका प्रबन्ध मन्त्रियों से मन्त्रणा किए बिना अपने विवेक के अनुसार करना था । संक्षेप में, सेना और वैदेशिक नीति का नियन्त्रण पूर्णतः ब्रिटिश हाथों में रहा ।

वित्त—वित्त के सम्बन्ध में भी यही बात थी । केन्द्र में भी और प्रान्तों में भी

यह ठीक है कि इस विषय को एक उत्तरदायी मन्त्री की प्रधीनता में रखा गया था लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यय पर उसका अथवा विधानमण्डल का कोई नियन्त्रण नहीं था। इस प्रकार भारत की करेंसी और मुद्रा सम्बन्धी नीति का प्रबन्ध रिजर्व बैंक के गवर्नर के द्वारा होने को था जो विधानमण्डल के प्रति नहीं, अपितु गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी था। गवर्नर जनरल वित्त-मन्त्री द्वारा प्रस्तावित किन्हीं भी विधेयकों के ऊपर अपने निषेधाधिकारों का प्रयोग कर सकता था। भारत की आर्थिक स्थिरता और साख को कायम रखना गवर्नर जनरल के "विशेष उत्तरदायित्वों' में से एक था।

विशेष उत्तरदायित्व और व्यक्तिगत निर्णय—रक्षा-कवचों का उद्देश्य गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों को एक ऐसी शक्ति प्रदान करना था, जिससे वे उत्तरदायी मन्त्रियों की इच्छा का अतिक्रमण कर सकें। संरक्षित विषयों के सम्बन्ध में वे मन्त्रियों से मन्त्रणा किए बिना भी कार्य कर सकते थे। दूसरे विषयों के सम्बन्ध में उनसे यह आशा की जाती थी कि वे साधारण परिस्थितियों में मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करेंगे। लेकिन यदि वे समझते कि अमुक विषय में उनका कोई विशेष उत्तरदायित्व अन्तर्ग्रस्त है तो उस स्थिति में वे अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकते थे। ये विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप में निम्नलिखित थे—(१) भारतवर्ष (अथवा गवर्नर की स्थिति में प्रान्त) की शान्ति भंग करने वाले खतरों का निवारण, (२) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा करना, (३) लोक-सेवाओं के सदस्यों के अधिकारों का रक्षण, (४) भारतीय राज्यों के अधिकारों और शासकों की मर्यादा की रक्षा करना और (५) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण। इस प्रकार गवर्नर जनरल और गवर्नरों को अल्पसंख्यक वर्गों, भारतीय राज्यों के शासकों, लोक-सेवाओं के सदस्य व ब्रिटिश व्यापारियों का अभिभावक बना दिया गया। जब कभी वे समझते कि उत्तरदायी मन्त्रियों द्वारा सुझाई गई नीति इनके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी, वे *व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम कर सकते थे*। इस स्थिति में उन्हें मन्त्रियों से मन्त्रणा तो करनी पड़ती थी, पर वे उनके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे।

रक्षा-कवच उत्तरदायी शासन के प्रतिकूल थे और उनका उद्देश्य विदेशी शासन को कायम रखना व न्यस्त स्वार्थों की रक्षा करना था यह स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल और गवर्नरों में निहित विशेष शक्तियाँ और उत्तरदायित्व उत्तरदायी शासन के सर्वथा प्रतिकूल थे। *अन्य उत्तरदायी शासन-प्रणाली के अधीन वास्तविक शक्ति मन्त्रियों के पास रहती है और ये मन्त्री विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं।* १९३५ के अधिनियम के अधीन इसका उपबन्ध नहीं किया गया। उसने गवर्नर जनरल अथवा प्रान्तों के गवर्नरों को *वैधानिक शासक नहीं बनाया*। इसके विपरीत, रक्षा-

कवचों ने उन्हें स्वेच्छाचारी बना दिया। इन रक्षा-कवचों का लक्ष्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अजेय बनाना तथा उसके पृष्ठपोषकों, प्रतिगामी तत्त्वों व न्यस्त स्वार्थों को मजबूत करना था। उन्होंने असली ताकत अंग्रेजों के हाथों में रहने दी और भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में बहुत कम शक्ति छोड़ी। दूसरे शब्दों में वे प्रगति और लोकतन्त्र के पैरों में बेड़ियाँ थे।

अखिल भारतीय संघ

८०. प्रस्तावित संघ

भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग द्वारा तिरस्कृत—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं १९३५ के अधिनियम ने एक संघीय संविधान की योजना प्रदान की। उसने ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय राज्यों की एक निश्चित संख्या के मिलने से बनने वाले एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। भारतीय लोकमत इस प्रकार के संघवाद के विरुद्ध नहीं था। इसके विपरीत, साधारणतः यह अनुभव किया जाता था कि भारत जैसे एक विशाल उप-महाद्वीप में जहाँ भाषा, संस्कृति तथा आर्थिक परिस्थितियों की पर्याप्त विभिन्नताएँ विद्यमान हों, संघीय शासन प्रणाली स्वाभाविक है। लेकिन १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघीय योजना भारतीय लोकमत के किसी वर्ग में रंचमात्र भी उत्साह पैदा करने में सफल नहीं हुई। चारों ओर से उसका तिरस्कार हुआ और "इसके पूर्व कि कार्यरूप में उसकी परीक्षा की जाती, वह समाप्त हो गई।" कांग्रेस ने उसका समूल रूप से विरोध किया। मुस्लिम लीग ने कहा कि अधिनियम का संघीय भाग, "मूलतः खराब और पूर्णतः अस्वीकार्य" था। और तो और देशी रजवाड़ों तक का, जिन्हें कि विशेषाधिकारों से युक्त स्थिति प्रदान की गई थी, वह उत्साह ठण्डा पड़ गया, जो उन्होंने एक समय अखिल भारतीय संघ के लिए प्रकट किया था।

संघीय विशेषताएँ—तथापि, प्रस्तावित योजना में संघवाद की प्रायिक विशेषताएँ विद्यमान थी। संविधान एक लिखित प्रलेख था और उसने संघ और उसके एककों में शक्तियों का वितरण विशद् रूप से कर दिया था। एक संघीय न्यायालय भी था जिसका कर्तव्य यह देखना था कि केन्द्र, स्थानीय सरकारें और विधानमण्डल अपनी-अपनी मर्यादाओं का उचित रूप से पालन करें। प्रस्तावित भारतीय संघ में कई नियमबाह्य विशेषताएँ भी थीं। उसकी एक विलक्षणता उसकी रचना की प्रक्रिया में ही थी।

संघ के निर्माण की असाधारण प्रक्रिया—साधारणतः कोई संघ उन राज्यों

के, जो पहले स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न रहे हों, एकीकरण से उत्पन्न होता है। ये राज्य कतिपय सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए आपस में सुगठित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का जन्म इसी प्रकार उन तेरह उपनिवेशों के एकीकरण से हुआ था, जिन्होंने पहले पूर्ण प्रभुत्व-शक्ति को हस्तगत कर लिया था। कनाडा और आस्ट्रेलिया के संघों की रचना भी इसी प्रक्रिया के अनुसार हुई, इसके विपरीत भारत में संघ का जन्म उन प्रान्तों को स्वायत्तता देने से होने को था, जो एक एकात्मक राज्य के अधीनस्थ विभाग थे। इन स्वायत्त प्रान्तों के साथ वे भारतीय राज्य मिलने को थे, जो अपने भाग्य को सघ के साथ जोड़ना पसन्द करते।

एककों में कोई एकरूपता नहीं : राज्यों की स्थिति—प्रस्तावित भारतीय संघ का सबसे बुरा पहलू भारतीय राज्यों को दी गई स्थिति था। संघ के एककों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी। यदि प्रान्तों में अर्द्ध लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी, तो देशी राज्य, जहाँ स्वेच्छाचारी नरेश जनता को दासता में रखते थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मित्र थे। इस प्रकार अखिल भारतीय संघ अंशतः लोकतन्त्रात्मक प्रान्तों में स्वेच्छाचारी ढंग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने को था। इस प्रकार की स्थिति और किसी संघ में नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ अमेरिका के समस्त राज्यों और स्विट्‌जरलैण्ड के समस्त कैण्टनों में एक-सी ही शासन प्रणाली प्रचलित है।

संघीय सरकार की शक्तियाँ समस्त एककों के सम्बन्ध में समान नहीं—इसके अलावा, जहाँ ब्रिटिश भारत के प्रान्त प्रस्तावित संघ के स्वतः ही एकक बनने को थे, भारतीय राज्यों का प्रवेश उनके शासकों के निर्णय के ऊपर छोड़ दिया था जो इस बात का भी निश्चय करने को थे कि उनके राज्यक्षेत्रों के भीतर संघीय सरकार किन शक्तियों का उपभोग करेगी। समस्त प्रान्तों के सम्बन्ध में संघीय सरकार की शक्तियाँ एक-सी रखी गई थीं, लेकिन प्रत्येक राज्य के सम्बन्ध में वे उसके शासक द्वारा प्रयुक्त प्रवेश-पत्र पर निर्भर रहने को थी। यह एक दूसरी अभूतपूर्व असंगति थी।

एककों की कानूनी असमानता—राज्यों को संघीय विधानमण्डल में अनुचित रूप से भारी प्रतिनिधित्व दे दिया गया था। अधिकांश संघों में, संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में अवयवी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है और इस प्रकार उनकी कानूनी समसमानता की रक्षा की जाती है। प्रस्तावित भारतीय संघ में एककों को कानूनी समानता प्राप्त नहीं होने को थी। उन्हें मोटे तौर पर अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलने को था, परन्तु राज्यों के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी।

राज्यों को भारावनत प्रतिनिधित्व व शासकों द्वारा उनका मनोनयन—राज्यों को पर्याप्त गुरुभार दिया गया। राज्यों की जनसंख्या भारत की कुल जनसंख्या की

केवल २३% थी। लेकिन उन्हें संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन में ३३% और उच्च सदन में ४०% स्थान दिए गए। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। राज्यों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत होने थे। निसर्गतः वे अपने उन स्वामियों के एजेण्टों के रूप में कार्य करते, जो स्वयं, "वायसराय और ब्रिटिश सम्राट् के अनुशासित दास थे।"[1] अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिगामी तत्त्वों के प्रतिनिधियों और जमींदारों व व्यापारियों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर राज्यों का प्रतिनिधित्व-दल संघीय शासन में राष्ट्रवादी तत्त्वों के विरुद्ध लोकतन्त्र के प्रवर्तन को पराजित कर सकता था। सर सैमुअल होर ने ब्रिटिश संसद में बड़े गर्व से इस बात का बखान किया था कि 'उग्रवादियों" को नए अधिनियम के अनुसार सत्तारूढ़ होने से रोकने के लिए प्रत्येक चौकसी से काम लिया गया था। संघ के भारतीय राज्यों की स्थिति की ओर विशेष रूप से दृष्टि-निक्षेप करते हुए प्रो० कीथ ने लिखा है, "भारत के इस आरोप के औचित्य को अस्वीकार करना कठिन है कि संघ ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के प्रश्न से बचकर निकल जाने की कामना से बनाया जा रहा था।"[2] उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि, "राज्यों और ब्रिटिश भारत के प्रतिगामी तत्त्वों द्वारा समर्थित गवर्नर जनरल की नियन्त्रक-शक्ति की आरूढ़ता"[3] के कारण प्रस्तावित संघ की असफलता निश्चितप्रायः थी।

संघीय सभा के लिए परोक्ष निर्वाचन—केन्द्र में क्रान्तिकारी और राष्ट्रवादी तत्त्वों के प्रभाव को कम करने के लिए यह भी उपबन्धित किया गया कि संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन के लिए निर्वाचन परोक्ष रीति से और उच्च सदन के लिए प्रत्यक्ष रीति से होंगे। यह संघीय विधान मण्डल को कमजोर करने की एक और तरकीब थी। वह तो वैसे भी प्रभुत्व-शक्ति विरहित निकाय था, उसकी विधायी और वित्तीय सक्षमता वायसराय की विशेष शक्तियों और ब्रिटिश संसद की अन्तिम सत्ता के अधीन थी व उसका प्रतिनिधिक स्वरूप साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मण्डलों से विषाक्त था।

केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकती थी—१९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान की और संघीय-प्रान्तीय व समवर्ती सूचियों में शक्तियों का विशद रूप से वितरण कर दिया। फिर भी उसने प्रान्तीय क्षेत्र में संघीय सरकार के हस्तक्षेप के लिए पर्याप्त रास्ते छोड़ दिए थे। गवर्नर जनरल

१. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"सब्जेक्ट इण्डिया", पृ० ५०।
२. ए० बी० कीथ—"ए कंस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया", पृ० ४७४।
३. वही, पृ० ४७४-७५।

आपात की उद्घोषणा निकालकर संघीय ढांचे को पूर्णतः विनष्ट कर सकता था। पुनश्च, जैसे ही कोई गवर्नर अपने प्रान्त में संविधान के विफल होने की उद्घोषणा कर देता, प्रान्त का सम्पूर्ण प्रशासन सीधे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आ सकता था। जब कभी प्रान्तीय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार कार्य करते अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते, वे गवर्नर जनरल की सत्ता के अधीन होते थे। इसके अलावा गवर्नर जनरल १९३५ के अधिनियम धारा १२६ अ के अधीन प्रान्तीय सरकारों के लिए ऐसे निर्देश जारी कर सकता था, जिन्हें वह भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता।

अवशिष्ट शक्तियों का बंटवारा—१९३५ के अधिनियम के अधीन योजित भारतीय संघ की एक अन्य विशेषता अवशिष्ट शक्तियों के उपबन्ध से सम्बन्ध रखती थी। साधारणतः संघीय संविधान इन शक्तियों को या तो केन्द्र को अथवा अवयवी एककों को प्रदान करता है। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को देखते हुए १९३५ के *अधिनियम ने अपने विवेक के अनुसार यह निश्चय करने की* शक्ति कि अमुक अवशिष्ट शक्ति केन्द्र को दी जानी चाहिए अथवा प्रान्तों को, गवर्नर जनरल को दे दी।

ज्ञेय संघ नहीं—इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि १९३५ के अधिनियम में प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ कोई ज्ञेय संघ नहीं था। वह कुछ ऐसी विलक्षणताओं की खिचड़ी था, जिनकी इतिहास में कोई सानी नहीं मिलती। एक ओर तो वह राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई शक्तियों को सन्तुष्ट करने का प्रयास था, दूसरी ओर वह साम्राज्यवाद के पृष्ठपोषकों, देशी रजवाड़ों, साम्प्रदायवादियों और ब्रिटिश औद्योगिक व व्यापारिक हितों की ताकत बढ़ाने का छद्म प्रयत्न था। कहने का भाव यह है कि प्रस्तावित संघ भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का उत्तर नहीं, अपितु केन्द्र में उत्तरदायी शासन की अधमनी पुरःस्थापना के प्रभाव को कम करने की एक सूक्ष्म चेष्टा थी। अतः हम प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में कह सकते हैं कि, *संघीय योजना के लिए किसी प्रकार का सन्तोष अनुभव करना कठिन है।'*

८१. संघीय कार्यपालिका

द्वैध शासन-प्रणाली—(क) **गवर्नर जनरल और परिषद्**—१९३५ के अधिनियम ने प्रस्तावित संघीय सरकार में उत्तरदायित्व के तत्त्व का समावेश करने के विचार से द्वैध कार्यपालिका की योजना की। संघीय विषयों को संरक्षित और हस्तान्तरित दो भागों में बाँट दिया गया। प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले और कबायली इलाके संरक्षित विषय थे। इन विषयों का प्रबन्ध करने में गवर्नर जनरल

मन्त्रियों से परामर्श किए बिना अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। तथापि तीन कार्यकारी पारिषद्, जो पदेन, मतदान के अधिकार के बिना संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के सदस्य होने को थे, गवर्नर जनरल को सहायता देने के लिए थे। संघीय कार्यपालिका का यह भाग अर्थात् परिषद् संघीय विधान मण्डल के प्रति किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं था।

(ख) **गवर्नर जनरल और मन्त्री-परिषद्**—चार संरक्षित विषयों को छोड़कर संघीय प्रशासन के शेष सब विषय मन्त्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र में आते थे। इन विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जनरल एक मन्त्रीपरिषद् की सहायता और मन्त्रणा से करने को था। मन्त्री अनुदेश-पत्र में निर्धारित उपबन्धों के अनुसार गवर्नर जनरल के द्वारा नियुक्त किए जाने को थे। उसे उस दल के नेता को जिसका संघीय विधान-मण्डल में बहुमत होता प्रधान मन्त्री चुनना था और प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर दूसरे मन्त्रियों को नियुक्त करना था। मन्त्रीपरिषद् सामूहिक रूप से संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी थी यद्यपि उत्तरदायित्व को एक कानूनी दायित्व नहीं बना दिया गया। मन्त्रीपरिषद् की कार्यपालिका-सत्ता में समस्त हस्तान्तरित विषय आ जाते थे। इन विषयों का शासन-प्रबन्ध करने में गवर्नर जनरल से साधारणतः यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व—१९३५ के अधिनियम ने मन्त्रीय क्षेत्र तक में गवर्नर जनरल को वैधानिक प्रधान नहीं बनाया। इसके विपरीत उसने उसे निम्न विशेष उत्तरदायित्व सौंप दिए—(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शान्ति-भंग करने वाले खतरों का निवारण, (२) संघ सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख सुरक्षित रखना, (३) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों की रक्षा करना, (४) लोक-सेवाओं के सदस्यों के कानूनी अधिकारों और उचित हितों की रक्षा करना, (५) देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों की मर्यादा की रक्षा करना, (६) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण, और (७) इस बात का प्रबन्ध करना कि अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य विषय सम्बन्धी कार्य से कुछ बाधा न पड़े। जब कभी गवर्नर जनरल यह समझता कि मन्त्रियों द्वारा दिए गए परामर्श से उनके इन उत्तरदायित्वों में से किसी के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है, उस समय वह मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा करके अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व खाली कागजी रक्षा-कवच ही नहीं थे। उनका मन्तव्य उत्तरदायी शासन को भ्रष्ट करना था। प्रो० कीथ के मतानुसार यदि उनका निर्वचन संकुचित रीति से किया जाता, तो वे मन्त्रीय उत्तरदायित्व की सम्भावना को नष्ट कर सकते थे।

गवर्नर जनरल की दूसरी विशेष शक्तियाँ—गवर्नर जनरल और बहुत-सी दूसरी स्वविवेकी तथा विशेष शक्तियों का प्रयोग करता था। कार्यकारी क्षेत्र में वह लोकसेवा आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष को और अजमेर, मारवाड़, कुर्ग तथा बिलोचिस्तान के चीफ कमिश्नरों को नियुक्त करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। वित्तीय परामर्शदाता, आडीटर जनरल, एडवोकेट जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति करने में उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था। वह रिजर्व बैंक के डायरेक्टरों को नियुक्त करता था।

व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियाँ—अपने विवेक के अनुसार काम करते हुए वह संघीय विधान मण्डल का आह्वान, स्थगन या विघटन कर सकता था, उसके किसी एक या दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था और उन्हें सन्देश भेज सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किए गए विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बन सकते थे। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी अनुमति देने या न देने अथवा उसे सम्राट् की आज्ञा के लिए रिजर्व रखने का अधिकार था। कतिपय विशेष प्रकार के विधेयक उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना विधान मण्डल में पुरःस्थापित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर जनरल किसी प्रस्ताव को विधान मण्डल में पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता था और यदि उचित समझता तो विधान मण्डल के विचाराधीन किसी प्रस्ताव पर चल रही बहस को बन्द कर सकता था। अध्यादेश अथवा गवर्नर जनरल के अधिनियम[1] जारी करके गवर्नर जनरल प्रत्यक्ष व्यवस्थापन कर सकता था।

गवर्नर जनरल की वित्तीय शक्तियाँ—वित्तीय क्षेत्र में भी गवर्नर जनरल को विशेष शक्तियाँ प्राप्त थीं। करारोप और व्यय से सम्बद्ध समस्त प्रस्ताव उसकी सिफारिश पर ही हो सकते थे। कुल व्यय का ८०% भाग मत-निरपेक्ष था। उस पर

१. *अध्यादेश आपात की स्थिति से निबटने के लिए एक स्थायी कानून था।* उसकी अवधि साधारणतः ६ महीने थी, लेकिन इसे बढ़ाया जा सकता था। इसके विपरीत गवर्नर जनरल का अधिनियम उसकी अपनी विशेष शक्ति के द्वारा पास किया गया एक स्थायी कानून था। इसका प्रयोजन गवर्नर जनरल को अपने संरक्षित कृत्यों व विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में समर्थ बनाना था। जब कभी उसे प्रतीत होता कि इस प्रयोजन के लिए व्यवस्थापन की आवश्यकता है, वह विधान मण्डल के पास एक सन्देश और अपने मनोवांछित विधेयक का मसविदा भेज सकता था। यदि विधान मण्डल एक महीने के भीतर ही उस विधेयक को अधिनियमित करने में असफल हो जाता, गवर्नर जनरल विधान मण्डल की स्वीकृति के बिना ही, अपने हस्ताक्षरों के द्वारा उसे कानून का रूप दे सकता था।

गवर्नर जनरल को पूरा नियन्त्रण प्राप्त था। संघीय विधान मण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गई किसी भी अनुदान माँग को वह यथापूर्व स्थापित कर सकता था।

स्पष्ट है कि १९३५ के अधिनियम का उद्देश्य गवर्नर जनरल को प्रशासन का केन्द्र बनाना था। भारत की प्रतिरक्षा और वैदेशिक नीति के निर्द्वन्द्व नियन्त्रण के अलावा, उसकी विशाल स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों ने उसे एक शक्तिशाली स्वेच्छाचारी शासक बना दिया था। विंस्टन चर्चिल के शब्दों में वह 'हिटलर अथवा मुसोलिनी की समस्त शक्तियों से सज्जित था। अपनी कलम की एक लकीर के द्वारा वह संविधान को छिन्न-भिन्न कर सकता था और किसी भी कानून के पास किए जाने की आज्ञप्ति दे सकता था।'

८२. संघीय विधान मण्डल

राज्य परिषद्—१९३५ के अधिनियम के अधीन संघीय विधान मण्डल द्विसदनात्मक होने को था। उच्च सदन अथवा राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या २६० निश्चित की गई थी। इनमें १५६ प्रतिनिधि (१५० निर्वाचित और ६ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत) ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करने को थे। राज्यों से आने वाले सदस्य, जिनकी संख्या १०४ थी, शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे। ब्रिटिश भारत के १५० निर्वाचित स्थानों का विभिन्न प्रान्तों के बीच निम्न प्रकार से वितरण निश्चित हुआ था—

बंगाल	...	२०	उड़ीसा	...	५
मद्रास	...	२०	पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त	...	५
यू० पी०	...	२०	सिन्ध	...	५
बम्बई	...	१६	बलूचिस्तान	...	१
बिहार	...	१६	दिल्ली	...	१
पंजाब	...	१६	अजमेर-मारवाड़	...	१
सी० पी० और बरार	...	८	कुर्ग	...	१
आसाम	...	५	अ-प्रान्तीय	...	१०

साम्प्रदायिक आधार पर स्थानों का बँटवारा निम्न प्रकार से निश्चित हुआ—

साधारण	...	७५	सिक्ख	...	४
अनुसूचित जातियाँ	...	६	यूरोपियन	...	७
मुस्लिम	...	४९	आंग्ल-भारतीय	...	१
स्त्रियाँ	...	६	भारतीय ईसाई	...	२

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। मताधिकार संकुचित था और उच्च सम्पत्ति

सम्बन्धी अर्हताओं पर आश्रित था। सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मतदाताओं की कुल संख्या १,००,००० के आसपास थी। अधिकांश दूसरे संघों में संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन परोक्ष रीति से निर्वाचित होते हैं, भारत में इस प्रणाली को नहीं अपनाया गया। यहाँ संघ के समस्त एककों को समान प्रतिनिधित्व देने के अभिसमय का भी पालन नहीं किया गया। कूपलैण्ड के मतानुसार यह हिन्दू एकात्मिकता के साथ की गई एक रियायत थी।

राज्य परिषद् एक स्थायी निकाय थी, उसका विघटन नहीं हो सकता था। उसके तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाने को थे। तथापि, प्रत्येक सदस्य नौ वर्षों के लिए निर्वाचित होने को था।

संघीय सभा—संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन का नाम संघीय सभा था। इसके सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित की गई थी। इन स्थानों में १२५ स्थान राज्यों के लिए निरधारित कर दिए गए थे। ब्रिटिश भारत के २५० स्थानों में से ४ स्थान अ-प्रान्तीय थे और व्यापार, उद्योग तथा श्रम के लिए निश्चित कर दिए गए थे। शेष २४६ विभिन्न प्रान्तों में निम्न प्रकार से वितरित किए गए थे—

बंगाल ···	३७	उड़ीसा ···	५
मद्रास ···	३७	पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त ···	५
यू० पी० ···	३७		
बम्बई ···	३०	सिन्ध ···	५
पंजाब ···	३०	बलूचिस्तान ···	१
बिहार ···	३०	दिल्ली ···	२
सी० पी० और बरार ···	१५	अजमेर-मारवाड़ ···	१
आसाम ···	१०	कुर्ग ···	१

विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व निम्न प्रकार से होने को था—

साधारण (जिनमें १९ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए शामिल हैं)	१०५	आंग्ल-भारतीय ···	४
मुस्लिम ···	८२	स्त्रियाँ ···	९
सिक्ख ···	६	व्यापार और उद्योग	११
यूरोपियन ···	८	श्रम ···	१०
आंग्ल-ईसाई ···	८	भूस्वामी ···	७

संघीय सभा का कार्यकाल साधारणतः पाँच वर्ष निश्चित हुआ था, लेकिन

इसके पूर्व भी उसका विघटन किया जा सकता था।

संघीय सभा के गठन में एक अपूर्व विशेषता यह थी कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा परोक्ष रीति से चुने जाने को थे। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम प्रतिनिधि प्रान्तीय विधान सभाओं के क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम सदस्यों द्वारा पृथक्-पृथक् निर्वाचित किए जाने को थे।

संघीय विधान मण्डल की शक्तियाँ : प्रभुत्व-शक्ति-विरहित निकाय—प्रस्तावित संघीय विधान मण्डल का स्वरूप अलोकतन्त्रात्मक था और उसकी शक्तियाँ अत्यन्त सीमित थीं। संघीय सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में उसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। यदि गवर्नर जनरल आपात की उद्घोषणा निकाल देता, तो विधान मण्डल प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता था।

(क) विधायी शक्तियाँ—उसकी विधायनी सक्षमता के कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वह किसी भी प्रकार प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न विधान मण्डल नहीं था। उसे संविधायी शक्तियाँ प्राप्त नहीं थीं। वह संविधान-अधिनियम में कोई संशोधन नहीं कर सकता था और न भारत के ऊपर लागू होने वाले ब्रिटिश संसद के अधिनियमों को ही संशोधित अथवा रद्द कर सकता था। कतिपय विशेष प्रकार के विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना विधान मण्डल में पुरःस्थापित नहीं किए जा सकते थे। भारत की शान्ति और सुव्यवस्था सम्बन्धी अपने विशेष उत्तरदायित्व से सम्बन्ध रखने वाले विधान मण्डल के विचाराधीन किसी विधेयक पर अथवा उसकी किसी धारा पर गवर्नर जनरल चलती हुई बहस बन्द कर सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किए गए समस्त प्रस्ताव गवर्नर जनरल के निषेधाधिकार के अधीन थे। गवर्नर जनरल संघीय विधान मण्डल की सहमति के बिना अध्यादेश जारी करके और गवर्नर जनरल के अधिनियम पास करके उसकी इच्छा की अवहेलना कर सकता था।

(ख) वित्तीय शक्तियाँ—संघीय विधान मण्डल की वित्तीय शक्तियाँ भी अत्यन्त परिमित थीं। करारोप और व्यय से सम्बन्धित प्रस्ताव केवल गवर्नर जनरल की सिफारिश पर ही पुरःस्थापित किए जा सकते थे। विधान मण्डल बजट पर (गवर्नर जनरल के वेतन के सिवाय) वाद-विवाद कर सकता था, लेकिन व्यय का ८० प्रतिशत से अधिक भाग मत निरपेक्ष था। मत सापेक्ष भाग की स्थिति में भी, गवर्नर जनरल संघीय विधान मण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गई किसी अनुदान माँग को बहाल कर सकता था।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—संघीय विधान मण्डल का संघीय कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण केवल उन्हीं विषयों तक सीमित था, जो गवर्नर जनरल की स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों की परिधि में नहीं आते थे। मन्त्री-

परिषद् उसके प्रति उत्तरदायी थी लेकिन गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् उसके नियन्त्रण से पूर्णतः विमुक्त थे।

मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय—संघीय विधान मण्डल सरकार की नीतियों और कार्यों की आलोचना कर सकता था तथा जनता की शिकायतों पर विचार-विनिमय कर सकता था। कहने का सार यह है कि १९३५ के अधिनियम के अधीन संघीय विधान मण्डल मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय था।

८३. संघीय न्यायालय

न्यायालय का गठन—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक संघीय न्यायालय की स्थापना का उपबन्ध किया था। १ अक्तूबर, १९३७ को इस न्यायालय का उद्घाटन कर दिया गया। न्यायालय एक प्रधान न्यायाधिपति और छः दूसरे न्यायाधीशों से मिलकर बना था। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा करता था। प्रधान न्यायाधिपति का वेतन ७,००० रुपया प्रति मास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश का ५,५०० रुपया प्रति मास था। न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त पद धारण करते थे। सेवा-निवृत्ति की अवस्था ६५ वर्ष थी। वे प्राचारहीनता और शरीर अथवा मन की दुर्बलता के आधार पर सम्राट् के द्वारा अपदस्थ किए जा सकते थे।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (क) प्रारम्भिक—संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्रारम्भिक और अपीलीय दोनों प्रकार का था। उसका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (क) संविधान अधिनियम के निर्वाचन को अन्तर्ग्रस्त करने वाले सभी मामलों में और (ख) भारतीय संघ तथा एक राज्य अथवा एक प्रान्त के बीच के, या एक प्रान्त और एक राज्य के बीच के, या दो अथवा अधिक प्रान्तों या राज्यों के बीच के विवादों में होता था।

(ख) **अपीलीय**—अपने अपीलीय क्षेत्राधिकार में संघीय न्यायालय प्रान्तों तथा सपरिषद्की राज्यों के उच्च न्यायालयों से अपीलें सुन सकता था, यदि वे यह प्रमाणित कर देते कि अपील के अधीन मामले में संविधान अधिनियम या उसके अधीन दिए गए आर्डर इन-कौंसिल या राज्य के प्रवेश-पत्र द्वारा संघ में निहित विधायी अथवा कार्यपालिका-सत्ता के विस्तार के निर्वचन से सम्बद्ध कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। १९४८ में संघीय न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढ़ा दिया गया और उसे उच्च न्यायालयों से उन मामलों के सुनने का भी अधिकार दे दिया गया जो ५०,००० से अन्यून की राशि को अन्तर्ग्रस्त करते हैं।

(ग) **परामर्शीय**—संघीय न्यायालय को परामर्शी क्षेत्राधिकार भी प्राप्त था।

गवर्नर जनरल कानून सम्बन्धी कोई भी महत्त्वपूर्ण विषय विचारार्थ न्यायालय को सौंप सकता था और उस पर उसकी राय ले सकता था।

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था—संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था। उसके निर्णय अंतिम नहीं होते थे और उससे अपीलें निम्न प्रकार के मामलों में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के पास भेजी जा सकती थीं—(क) मामले जो संविधान के अथवा उसके अधीन किए गए आर्डर-इन-कौंसिल के निर्वचन से सम्बध रखते हों; (ख) वे मामले जो राज्य के प्रवेश-पत्र द्वारा संघ में निहित विधायी और कार्यपालिका शक्ति के विस्तार से सम्बन्ध रखते हों और (ग) वे मामले जो राज्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत संघीय कानून के लिए किए गए समझौते के निर्वाचन से सम्बन्ध रखते हों। इन सब मामलों में संघीय न्यायालय की अनुमति के बिना अपीलें प्रिवी कौंसिल में ले जाई जा सकती थीं। इसके अलावा दूसरे मामलों में भी संघीय न्यायालय अथवा सपरिषद् गवर्नर जनरल की अनुमति मिलने पर अपीलें प्रिवी कौंसिल में की जा सकती थीं।

प्रान्तीय सरकार

८४. प्रान्तीय-स्वायत्तता

(क) प्रान्तों का नया स्टेटस—भारत के लिए संघीय संविधान की रचना करने में १९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को प्रान्तीय स्वायत्तता नामक एक बिलकुल नया स्टेटस प्रदान किया। अब प्रान्त सर्व-शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक एकक नहीं रहे। नए संविधान ने उन्हें एक पृथक् कानूनी व्यक्तित्व से आभूषित कर दिया। अपनी मौलिक शक्तियाँ सीधे संविधान से प्राप्त करने लगे और प्रस्तावित संघ के स्वायत्त एकक हो गए। 'अब केन्द्रीय सरकार के अधीनस्त कई प्रान्त नहीं रहे, अपितु ग्यारह स्वायत्त राज्य थे। उनकी स्वायत्तता कानूनन मान्य थी और वे अपने निश्चित क्षेत्र के भीतर अपने निजी अधिकार में कार्यपालिका और विधायिनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते थे। केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई निरीक्षण और नियन्त्रण की शक्तियों को बिलकुल तो नहीं हटाया गया लेकिन उन्हें अत्यन्त सीमित और ठीक-ठीक निश्चित अवश्य कर दिया गया।

तीन सूचियाँ—१९३५ के अधिनियम में भारत सरकार और प्रान्तों के सम्बन्धों को संघीय आधार पर निश्चित किया था। अधिनियम में तीन सूचियाँ थीं। इन सूचियों में इस बात का साफ-साफ उल्लेख कर दिया गया था कि क्रमशः केन्द्र और प्रान्तों की प्रशासनिक, विधायिनी और वित्तीय शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं। संघीय सूची में वे ५९ विषय थे जिनका प्रबन्ध केवल संघीय सरकार ही कर सकती थी। इस सूची

में प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, बलार्थ व टकण, डाक और तार, ब्राडकास्टिंग, संघीय रेल, बीमा, नमक और आयकर आदि विषय सम्मिलित थे। प्रान्तीय सूची में ५४ विषय थे जिनका प्रबन्ध साधारण परिस्थितियों में केन्द्र के हस्तक्षेप के बिना प्रान्तीय सरकारें कर सकती थीं। शान्ति और सुव्यवस्था, न्याय, पुलिस, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन और वन आदि विषय सूची में आते थे। समवर्ती सूची में थे ३६ विषय सम्मिलित थे जिनका प्रबन्ध केन्द्र और प्रान्त दोनों कर सकते थे। लेकिन शर्त यह थी कि संघीय कानून और प्रान्तीय कानून में मतभेद होने की स्थिति होने में, जब तक कि प्रान्तीय कानूनों को विचारार्थ संरक्षित न रख लिया गया हो और गवर्नर जनरल अथवा सम्राट् ने उस पर अपनी स्वीकृति न दे दी हो, संघीय कानून प्रभिभावी होगा। समवर्ती विषयों में से कुछ निम्न थे—फौजदारी और दीवानी कानून व कार्य-वाही, प्रेस, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण और औद्योगिक झगड़े।

प्रान्तों की स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध—यह स्मर्तव्य है कि प्रान्तीय सरकारें अपने निश्चित क्षेत्र में भी केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं थीं। गवर्नर जनरल अधिनियम की धारा १०२ के अधीन आसन्न युद्ध अथवा भयकर आन्तरिक अशान्ति के खतरे को देखते हुए आपात की उद्घोषणा निकाल देता, तो विधान मण्डल प्रान्तीय क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता था। गवर्नर जनरल उन विधेयकों पर, जिन्हें गवर्नर उसके द्वारा विचार के लिए संरक्षित रख लेते, अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता था। यदि विभाग ९३ के अधीन गवर्नर अपने प्रान्त के भीतर शासन-यन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा कर देता, तो प्रान्तीय स्वायत्तता के सम्पूर्ण ढांचे को धूलिसात किया जा सकता था। इस उद्घोषणा के प्रभावस्वरूप संपूर्ण प्रान्तीय प्रशासन को केन्द्र की अधीनता में रखा जा सकता था। साधारण परिस्थितियों में भी जब कभी गवर्नर अपने विवेक के अनुसार कार्य करते अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते, गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में होते थे। अन्ततः यदि गवर्नर जनरल भारत में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के दृष्टिकोण से प्रान्तीय सरकारों के लिए कतिपय निर्देश निकालना आवश्यक समझता, तो १९३५ के अधिनियम की धारा १२६ के अधीन निकाल सकता था।

(ख) प्रान्तों में उत्तरदायी शासन—१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्तता का अभिप्राय प्रान्तों के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण के मर्यादित होने से अधिक था। इसका एक दूसरा अभिप्राय भी था, अर्थात् इसने प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की। रैमजे मैकडानल्ड ने प्रान्तीय स्वायत्तता के इस दोहरे अर्थ को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था, "गवर्नरों के प्रान्त अपने निजी क्षेत्र में अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में बाह्य नियन्त्रण और अनुवचन से अधिकतम सभव स्वतन्त्रता का

उपभोग करने वाले उत्तरदायी शासन के अनुसार शासित एकक होने को है। १९१९ के अधिनियम ने द्वैध शासन-प्रणाली के रूप में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना की थी। नए अधिनियम ने दोहरे शासन का अन्त कर दिया। संरक्षित और हस्तान्तरित विभागों का भेद समाप्त हो गया और प्रान्तीय प्रशासन का पूरा क्षेत्र प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एक मन्त्री-परिषद् के जिम्मे आ गया।

उत्तरदायी शासन के ऊपर प्रतिबन्ध—उत्तरदायी शासन के ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध थे। जैन्य उत्तरदायी शासन प्रणाली में प्रान्तीय गवर्नरों को वैधानिक प्रधान होना चाहिए। १९३५ के अधिनियम में ऐसा नहीं किया गया। गवर्नरों को विपुल स्वविवेकी शक्तियाँ और ऐसे विशेष उत्तरदायित्व दे दिए गए, जिनका निर्वहन करने में वे मन्त्रियों से परामर्श किए बिना और यदि परामर्श करते भी तो उसे स्वीकार किए बिना, कार्य कर सकते थे। ये 'रक्षा-कवच' उत्तरदायी शासन के पैरों में बेड़ियों के तुल्य थे, यदि गवर्नर इनका बारम्बार और स्वेच्छाचारिता से प्रयोग करते, तो ये उत्तरदायी शासन की नींव तक को भस्मीभूत कर सकते थे। इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता एक भी अर्थ में पूर्ण अथवा प्रतिबन्ध-मुक्त नहीं थी।

८५. गवर्नर

गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन—१९३५ के अधिनियम ने प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित की। गवर्नर सम्राट् का प्रतिनिधि होता था। प्रान्तों में संघीय सिद्धान्त और उत्तरदायी शासन की पुरःस्थापना ने गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया। जब गवर्नर मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता था, वह गवर्नर जनरल के नियन्त्रण से मुक्त होता था, लेकिन जब वह अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था, गवर्नर जनरल के निरीक्षण और नियन्त्रण के अधीन होता था।

नियुक्तियाँ और उपलब्धियाँ आदि—बम्बई, मद्रास और बंगाल के गवर्नरों को सम्राट् भारत-मन्त्री की सिफारिश पर नियुक्त करते थे और अन्य प्रान्तों के गवर्नरों को वायसराय की सिफारिश पर। उनकी उपलब्धियाँ,[1] पदावधि और सेवा

---

१. गवर्नरों के वार्षिक वेतन (रुपयों में) प्रत्येक प्रान्त के नाम के आगे नीचे दिए जाते हैं। सजावट, पर्यटन, फर्नीचर, वैयक्तिक स्टाफ और मनोरंजन आदि के भत्ते कोष्ठों में दिए गए हैं। मद्रास १,२०,००० (५,७५,०००), बम्बई १,२०,००० (५,३८,४००), बंगाल १,२०,००० (६,०७,३००), यू०पी० १,२०,००० (२,९७,०००) पंजाब १,००,००० (१,४१,२००), बिहार १,००,००० (१,०८,०००), सी० पी०

की शर्तें वे ही रहीं जो १६१६ के अधिनियम के अधीन थीं। नए अधिनियम ने उनकी राजकीय शान-शौकत में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं की।

गवर्नर की शक्तियाँ—१६३५ के अधिनियम में द्वैधशासन प्रणाली का अन्त कर दिया। साधारण परिस्थितियों में गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा का पालन करेगा। लेकिन अधिनियम का उद्देश्य गवर्नर को वैधानिक शासक बनाना नहीं था। अधिनियम ने गवर्नर को इतनी विपुल शक्तियाँ दे दी थीं कि यदि वह मन चाहे ढंग से उनका प्रयोग करने का हठ करता तो सदैव की भाँति ही स्वेच्छाचारी शासक बना रह सकता था।

विशेष (स्वविवेकी) शक्तियाँ—कतिपय मामलों का प्रबन्ध करने में, जिन्हें मन्त्रीय उत्तरदायित्व तथा देखभाल के क्षेत्र से बाहर रखा गया था, गवर्नर मन्त्रियों का परामर्श प्राप्त किए बिना ही अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता था। कार्यकारी क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियाँ निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती थीं—(१) अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन, (२) मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति,[१] (३) मन्त्रियों के वेतनों को, जब तक कि वे विधानमण्डलों द्वारा निश्चित न कर दिए जाएँ, निश्चित करना, (४) ऐसी हिंसक और विनाशकर कार्यवाहियों को रोकना, जिनका उद्देश्य शासनतन्त्र को भ्रष्ट-भ्रष्ट करना हो, (५) जासूसी विभाग की सूचनाओं को ऐसे व्यक्तियों को (मन्त्रियों सहित) दिए जाने से रोकना, जिनके लिए उसने आदेश न दिया हो, (६) प्रान्तीय लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति, (७) प्रतिरक्षा आदि के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के निर्देशों को कार्यान्वित करना और (८) अपने व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डल की नियुक्ति करना और उसका वेतन निश्चित करना।

विधायी क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियाँ निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती थीं—(१) प्रान्तीय विधान मण्डल का आवाहन और स्थगन तथा विधान सभा का विघटन, (२) प्रान्तीय विधान मण्डल में कतिपय विशेष प्रकार के विधेयकों को पुरःस्थापना के लिए पूर्व अनुमति देना, (३) किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा

७२,००० (१,०७,३००), आसाम ६६,००० (१,४२,१००), पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त ६६,००० (१,१२,८५०), सिन्ध ६६,००० (१,२६,८००) उड़ीसा ६६,००० (१,०३,०००)।

१. सिन्ध के प्रधान मन्त्री खान बहादुर अल्लाबख्श की पदच्युति ने, जब कि उन्हें प्रान्तीय विधान मण्डल का विश्वास प्राप्त था, गवर्नर की पदच्युत करने की शक्ति की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया।

पर अग्रेतर वाद-विवाद रोक देना, (४) प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा पास किए गए विधेयकों पर स्वीकृति देना, निषेधाधिकार का प्रयोग करना अथवा उन्हें गवर्नर जनरल के विचारार्थ संरक्षित कर लेना तथा (५) अध्यादेश जारी करना और गवर्नर के अधिनियम अधिनियमित करना।

जहाँ तक वित्तीय क्षेत्र का सम्बन्ध है, गवर्नर इस बात का निश्चय करने में कि कौन-सा विषय मत सापेक्ष है और कौन-सा नहीं व प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा कम या अस्वीकृत की गई किसी अनुदान माँग को यथापूर्व स्थापित करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था।

धारा ९३—गवर्नर की जिन स्वविवेकी शक्तियों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनके अलावा १९३५ के अधिनियम की धारा ९३ ने गवर्नर को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वविवेकी शक्ति और प्रदान की थी। अपने विवेक के अनुसार कार्य करते हुए गवर्नर इस बात की उद्घोषणा निकाल सकता था कि प्रान्त में संविधान के उपबन्धों के अनुसार शासन संचालित नहीं किया जा सकता। उद्घोषणा निकाल देने पर यह मन्त्रीपरिषद् को अपदस्थ कर सकता था, विधान-सभा का विघटन कर सकता था और उच्च न्यायालय के सिवाय प्रान्तीय निकायों की समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता था। नवम्बर, १९३९ में जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए थे, उनमें इसी उद्घोषणा के अधीन पूर्व नौकरशाही शासन की स्थापना कर दी गई थी।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व— गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियों द्वारा आवृत्त विषयों को छोड़कर बाकी विषय मन्त्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र के भीतर आते थे। इन विषयों का प्रबन्ध गवर्नर उत्तरदायी मन्त्रियों की सहायता और मन्त्रणा से करता था। साधारण परिस्थितियों में गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा का पालन करे। लेकिन यहाँ भी उसके कई ऐसे विशेष उत्तरदायित्व थे, जैसे कि संघीय क्षेत्र में गवर्नर जनरल के थे। ये विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप से निम्नलिखित थे—(१) प्रान्त या उसके किसी भाग में शान्ति भंग करने वाले खतरों का निवारण, (२) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों, सरकारी नौकरों के कानूनी अधिकारों और उचित हितों तथा देशी राज्यों के अधिकारों और उनके नरेशों की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, (३) व्यापारिक विभेद की रोकथाम, (४) आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन और (५) गवर्नर जनरल के आदेशों और अनुदेशों पर अमल करना जो वे उसके लिए जारी करें। जब कभी गवर्नर को यह अनुभव होता कि मन्त्रियों द्वारा दी गई मन्त्रणा उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, तो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था अर्थात्

मन्त्रियों के परामर्श का उल्लघन कर सकता था। इस बात का निर्णय वह अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार करता था कि उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व कब ग्रस्तग्रस्त होता है। इसके अलावा, प्रान्त के एडवोकेट जनरल को नियुक्त करने मे व प्रान्तीय पुलिस के ऊपर असर डालने वाले नियमों का संशोधन करने में गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था।

प्रान्तीय गवर्नरों की स्वविवेकी शक्तियाँ व विशेष उत्तरदायित्व उन 'रक्षा कवचों' का निर्माण करते थे, जिनका भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने तीव्र विरोध किया। "शान्ति और सुरक्षा", "अल्पसंख्यक वर्गों के उचित अधिकार" जैसे वाक्यांश अस्पष्ट थे। इसके अलावा यह बतलाना कि इनका क्या अर्थ है, गवर्नर का काम था। ये वाक्यांश ऐसे रास्ते थे, जिनके द्वारा गवर्नर दिन प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता था और उत्तरदायी शासन को उपहास की चीज बना सकता था। अनुभव ने यह दिखा दिया कि इन विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भारत के राष्ट्रवादी लोकमत की यह शंका कि गवर्नर इनका बारम्बार प्रयोग करेंगे, बिलकुल निराधार नहीं थी।

८६. मन्त्री-परिषद्

उत्तरदायी शासन का आधार—१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना उत्तरदायी शासन प्रणाली की स्थापना की दिशा में एक कदम था। इस प्रकार की शासन प्रणाली के अन्दर कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग वस्तुतः कुछ मन्त्री करते हैं जो विधान मण्डल के बहुमत वाले दल के सदस्य होते हैं। ये मन्त्री अपनी नीतियों और कार्यों के लिए पूर्णतः विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते है और उसी समय तक सत्तारूढ रहते हैं जब तक कि वे विधान मण्डल के विश्वास का उपभोग करते है। चूंकि विधान मण्डल में यदि वह सम्प्रदाय और वर्ग हित के भेदभावों से शून्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हुआ है जनता के प्रतिनिधि हैं, अतः मन्त्री अन्ततोगत्वा स्वयं जनता द्वारा नियन्त्रित होते हैं। यह वर्णन इंगलैण्ड के संसदीय लोकतन्त्र के ऊपर लागू होता है।

भारतीय प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अपूर्ण था—१९३५ के अधिनियम द्वारा *भारतीय प्रान्तों में स्थापित उत्तरदायी शासन दो दृष्टियों से अपूर्ण था।* पहली बात तो यह है कि प्रान्तीय विधान मण्डल जो मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखते थे, सत्यतः जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे क्योंकि मताधिकार सीमित था और निर्वाचक *मण्डल सम्प्रदायगत और वर्गगत आधार पर छोटे-छोटे गुटों में बांट दिए गए थे।* दूसरी बात यह है कि एक ओर मन्त्रियों को तो पूर्णतः विधान मण्डलों के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया था, दूसरी ओर उनकी कार्यपालिका-शक्ति को अनुत्तरदायी

मन्त्रियों की विशेष शक्तियों व उत्तरदायित्वों द्वारा परिमित कर दिया था।

मन्त्री-परिषद् की नियुक्ति—१९३५ के अधिनियम के अधीन गवर्नर अपने अनुदेश-पत्र में दिए गए निर्देशों के अनुसार मन्त्री-परिषद् की नियुक्ति करता था। विधान मण्डल में जिस दल का बहुमत होता था, गवर्नर उसके नेता को आमन्त्रित करके मन्त्रिमण्डल की रचना का कार्य उसके जिम्मे सौंप देता था। यह नेता मुख्य-मन्त्री बन जाता था। शेष मन्त्री मुख्य मन्त्री की मन्त्रणा पर गवर्नर द्वारा नियुक्ति किए जाते थे।

मन्त्रीपरिषद् में अल्पसंख्यक वर्गों का प्रतिनिधित्व—अनुदेश-पत्र के एक उपबन्ध के सम्बन्ध में जिसमें गवर्नरों को निर्देश दिया गया था कि महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधियों को जहाँ तक व्यवहारिक हो, मन्त्रिमण्डल में स्थान दें, कुछ मतभेद था। इसके साथ-ही-साथ अनुदेश-पत्र के अनुसार गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह संयुक्त उत्तरदायित्व की वृद्धि को प्रोत्साहित करें। स्पष्ट है कि यदि बहुमत वाले दल में अल्पसंख्यक वर्गों का कोई निर्वाचित प्रतिनिधि शामिल नहीं होता था, उस स्थिति में उक्त दोनों प्रतिबन्ध एक दूसरे के प्रतिकूल पड़ सकते थे। उन प्रान्तों में, जिनमें कि कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, यह समस्या नग्न रूप में उठ खड़ी हुई। उदाहरणार्थ यू० पी० में कांग्रेस ने केवल उन्हीं मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करने का निश्चय किया, जो उसकी शपथ पर हस्ताक्षर करने, दल में शामिल होने और उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। मुस्लिम लीग ने विधान मण्डल के कई मुस्लिम स्थानों पर कब्जा कर लिया था। उसने इन शर्तों के ऊपर कांग्रेस के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। फलतः केवल उन्हीं मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया, जो कि कांग्रेस दल के सदस्य थे। मुस्लिम लीग ने इस कृत्य के विरुद्ध इस आधार पर कि कांग्रेस के मुसलमानों को विधान मण्डल के मुस्लिम सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है, और इसलिए वे जाति के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं, गवर्नर से अपील की। लेकिन चूँकि कांग्रेस दल को विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त था, इसलिए गवर्नर ने इस मामले में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया।

मंत्रियों की पदच्युति—१९३५ के अधिनियम ने यह भी निर्धारित कर दिया कि मंत्री गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेंगे। उसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि गवर्नर चाहता तो मन्त्रियों को अपदस्थ कर सकता था। लेकिन जैन्य उत्तरदायी शासन में इस कानूनी अधिकार का केवल प्रधान मंत्री की मन्त्रणा पर ही प्रयोग किया जाता है, और जहां तक प्रधान मन्त्री का सम्बन्ध है, जब तक वह विधानमण्डल का विश्वासपात्र है, उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता। इंगलैण्ड में यही स्थिति है। वहाँ

सम्राट् इच्छानुसार मन्त्रियों को अपदस्थ करने की अपनी सैद्धान्तिक शक्ति का कदापि प्रयोग नहीं करता। भारतवर्ष के प्रान्तों गवर्नरों की साधारण प्रवृत्ति तो यही थी कि उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों का पालन किया जाए लेकिन कुछ गवर्नरों ने स्वेच्छाचारी शासकों की तरह काम किया। उदाहरणार्थ सिन्ध के प्रधान मन्त्री अल्ला बख्श के मामले में वहाँ के गवर्नर ने पदच्युति की अपनी शक्ति का सर्वथा अवैधानिक रीति से प्रयोग किया था।

मन्त्रियों की संख्या का प्रश्न—१९३५ के अधिनियम ने मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में कोई सीमा निश्चित नहीं की। दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रियों की संख्या भिन्न-भिन्न थी। उदाहरणार्थ एक समय बंगाल में मन्त्रियों की संख्या सबसे अधिक (१२) और उड़ीसा में सबसे कम (३) थी।

संसद-सचिव—यद्यपि संविधान ने संसद-सचिवों के लिए कोई उपबन्ध नहीं किया था, लेकिन अधिकांश प्रान्तों में कई संसद-सचिव नियुक्त किए गए। संसद-सचिव बहुमत वाले दल के सदस्य होने के नाते राजनीतिक कार्यपालिका के एक मुख्य भाग होते थे। ये मन्त्रियों को उनके संसदीय और प्रशासनिक कार्य में सहायता देते थे और उनका भार काफी हलका कर देते थे। इस प्रणाली ने युवक राजनीतिज्ञों को उपयोगी शिक्षा प्रदान की, ये ही लोग आगे चलकर कुशल मन्त्री हो सकते थे। कांग्रेस प्रान्तों में संसद-सचिव २५० रु० प्रतिमास वेतन पाता था।

८७. प्रान्तीय विधान मण्डल

छः प्रान्तों में द्वितीय सदन—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डल सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर और विधान मण्डल के एक या दो सदनों से मिलकर बनता था। ग्यारह प्रान्तों में से छः[1] में द्विसदनात्मक विधान मण्डल थे। द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले प्रान्त का उच्च सदन विधान-परिषद् कहलाता था। ऐसे प्रान्तों के निम्न सदन अथवा दूसरे प्रान्तों के विधान मंडल विधान सभाओं के नाम से प्रख्यात थे। आकार की दृष्टि से विधान परिषदें विधान सभाओं की तुलना में बहुत छोटी होती थी। वे स्थायी निकाय थीं, उनका विघटन नहीं हो सकता था। सदस्यों का निर्वाचन ९ वर्ष के लिए होता था, तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाते थे। द्वितीय सदनों की शक्तियाँ निम्न सदनों के समकक्ष ही थीं; अन्तर केवल इतना था कि धन विधेयक केवल निम्न सदनों में ही पुरःस्थापित किए जा सकते थे और अनुदान-मांगों के सम्बन्ध में उच्च सदन सर्वथा शक्तिहीन थे।

---

१. छः प्रान्त—आसाम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और यू० पी० थे।

उनकी क्यों स्थापना की गई—प्रान्तों में उनकी स्थापना को भारतीयों ने सन्देह का दृष्टि से देखा। सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा था कि वे प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगे और प्रगतिशील व्यवस्थापन के मार्ग में रोड़े अटकाएँगे। यह भी अनुभव किया गया कि वे सर्वथा अनावश्यक थे क्योंकि विधान मण्डलों द्वारा जल्दी में और बिना ठीक से सोचे-समझे पास किए गए कानूनों के ऊपर गवर्नर की शक्तियाँ पर्याप्त अंकुश रख लेती थीं। ये भय जेन्य थे। लेकिन जहाँ तक वास्तविकता का प्रश्न है, लोकतन्त्र के उद्देश्य को प्रतिगामिता के इन गढ़ों ने कोई हानि नहीं पहुँचाई क्योंकि द्विसदनात्मक विधान मण्डलों वाले लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया और उन संयुक्त बैठकों में जिनका संविधान ने दोनों सदनों का गतिरोध दूर करने के लिए उपबन्ध किया था, निम्न सदन के प्रगतिशील तत्व उच्च सदन के प्रतिगामी तत्वों को अधिक राय से हरा सकते थे।

विधान सभा : उसका गठन—विधान सभा का आकार अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग था। उदाहरणार्थ यू० पी० की विधान सभा में पृथक् साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मण्डलों के आधार पर निर्वाचित २८८ सदस्य थे। विभिन्न वर्गों और जातियों के बीच स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया था—साधारण (जिसमें अनुसूचित जातियों के २० स्थान भी शामिल थे) १४०, मुस्लिम ६४, यूरोपियन २, आंग्ल ईसाई २, आंग्ल भारतीय १, वाणिज्य और उद्योग ३, भू-स्वामी ६, विश्व-विद्यालय १, श्रम ३, स्त्रियाँ ६ (चार हिन्दू और दो मुस्लिम)।

उसकी अवधि—विधान सभा की अवधि ५ वर्ष की थी लेकिन गवर्नर उसकी पूरी अवधि की समाप्ति के पूर्व भी उसका विघटन कर सकता था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बीच गवर्नरों को इस बात की विशेष रूप से शक्ति दे दी गई थी कि वे युद्ध की समाप्ति तक के लिए प्रान्तीय विधान सभाओं की अवधि बढ़ा दें। सभा अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती थी।

कानून निर्माण करने की शक्तियाँ—प्रान्तीय विधान मण्डल चाहे वह एक सदनात्मक होता अथवा द्विसदनात्मक, प्रान्तीय सूची में गिनाए गए समस्त विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम था। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता था, लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि यदि प्रान्तीय कानून उसी विषय से सम्बद्ध केन्द्रीय कानून के प्रतिकूल पड़ता, तो वह विफल हो जाता था और उसके स्थान पर केन्द्रीय कानून प्रभावी होता था। गवर्नर की विशेष शक्तियों के कारण प्रान्तीय विधान मण्डल की विधायी शक्तियों के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कतिपय विधेयकों की पुरःस्थापना के लिए उसकी पूर्व अनुमति आवश्यक थी। वह निषेधा-धिकार का प्रयोग कर सकता था और उसे वे स्वतन्त्र विधायिनी शक्तियाँ प्राप्त थीं;

जिनके द्वारा यह विधानमण्डल की सहमति के बिना ही अध्यादेश और गवर्नर के अधिनियम जारी कर सकता था।

वित्तीय शक्तियाँ—प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना के साथ ही साथ, प्रान्तीय विधान मण्डल की वित्तीय शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई। यदि विधान मण्डल द्विसदनात्मक होता तो यह आवश्यक था कि वार्षिक बजट दोनों सदनों के सम्मुख रखा जाय लेकिन अनुदान माँगों पर मतदान देने का अधिकार केवल विधान सभा को प्राप्त था। मत-सापेक्ष अनुदान माँगों का अनुपात लगभग ७५ प्रतिशत था।

प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण—प्रान्तीय विधानमण्डल प्रान्तीय प्रशासन के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण रखता था। मन्त्रिमण्डल के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके वह उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकता था। वह सरकार की भूलों को प्रकट कर सकता था, उसकी नीतियों का निरनुमोदन कर सकता था और प्रश्नों, अनुपूरक प्रश्नों कामरोको प्रस्तावों और बजट वाद-विवादों के द्वारा जनता की शिकायतों को सरकार के कानों तक पहुँचाया जा सकता था।

८८. मताधिकार और निर्वाचक मण्डल

साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डल—मोंटफोर्ड सुधारों की तरह १९३५ के अधिनियम के अधीन भी भारत की निर्वाचन पद्धति 'जातियों, वर्गों और हितों' के सिद्धान्त के ऊपर आश्रित थी। अब तक जो पृथक् साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मण्डल वर्तमान थे उनमें श्रम और स्त्रियों के लिए और निर्वाचक मण्डल जोड़ दिए गये।

प्रतिनिधित्व में गुरुभार—प्रतिनिधित्व में गुरुभार की पद्धति भी बनी रही। मुसलमानों की आबादी मद्रास में ७.१% और यू० पी० में १४.८ प्रतिशत थी, परन्तु उन्होंने मद्रास में १३ प्रतिशत और यू० पी० में २७ प्रतिशत स्थान प्राप्त किए। यूरोपियनों के साथ विशेष रूप से पक्षपात किया गया। उनकी जनसंख्या १ प्रतिशत की १/३५ थी, परन्तु उन्हें प्रान्तीय विधान मण्डलों में ३ प्रतिशत और प्रस्तावित संघीय सभा में साढ़े पाँच प्रतिशत स्थान दिए गए।

कुल निर्वाचक—१९३५ के अधिनियम ने सम्पत्ति और शिक्षा विषयक अर्हताओं में कमी करके १९१९ के अधिनियम के ऊपर कुछ सुधार किया था। फलत, साढ़े तीन करोड़ व्यक्तियों ने, जिनमें ६० लाख स्त्रियाँ थीं, मतदान का अधिकार प्राप्त किया। मोंटफोर्ड सुधारों के अधीन भारत की कुल जनसंख्या के केवल साढ़े तीन प्रतिशत भाग को ही मतदान का अधिकार प्राप्त था, लेकिन १९३५ के अधिनियम के अधीन भारत की कुल संख्या के १४% अथवा कुल वयस्क जनसंख्या के २७% भाग को मतदान

का अधिकार मिल गया।

८६. गृह सरकार

एक उपचारिक परिवर्तन—१९३५ के अधिनियम ने गृह सरकार में थोड़े से उपचारिक परिवर्तन किए। अधिनियम ने भारत के प्रशासन के ऊपर भारत मन्त्री की 'निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण' की शक्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। यह शक्ति अब सम्राट् में निहित कर दी गई। लेकिन यह परिवर्तन नाममात्र का था। यद्यपि सम्राट् अग्रभूमि में आ गया, लेकिन व्यवहार में उसकी शक्ति का प्रयोग भारत मन्त्री ही करता रहा। जब कभी गवर्नर जनरल और गवर्नर अपने विवेक के अनुसार आचरण करते थे अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते थे, उस समय भारत मन्त्री उनका निरीक्षण और नियन्त्रण करता था। अधिनियम ने भारतीय परिषद् का उत्सादन कर दिया।

भारत मन्त्री के परामर्शदाता—अधिनियम ने भारत मन्त्री की सहायता के लिए तीन से अन्यून और ६ से अनधिक परामर्शदाताओं की व्यवस्था की। कम-से-कम आधे परामर्शदाताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे नियुक्ति से पूर्व दस बरस तक भारत में नौकरी कर चुके हों और उन्हें भारतवर्ष छोड़े दो वर्ष से अधिक न हुए हों। परामर्शदाता पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे और १३५० पौंड वार्षिक वेतन प्राप्त करते थे। जिन परामर्शदाताओं का निवास-स्थान भारत में था, उन्हें वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड वार्षिक भत्ता मिलता था। इस व्यय का भार इंगलैण्ड के कोष पर था, भारत के कोष पर नहीं। भारत मन्त्री परामर्शदाताओं से व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से जैसे चाहता, परामर्श कर सकता था; परन्तु वह उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था।

सारांश

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम का भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने तीव्र विरोध किया और उसे एक प्रतिगामी कानून बताया। इस अधिनियम ने वास्तविक सत्ता भारतीय जनता को न सौंपकर ब्रिटिश अधिकारियों के ही हाथों में रहने दी। उसने केन्द्र में द्वैध कार्यपालिका की पुरःस्थापना करके आंशिक उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया और एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। प्रान्तों में उसने द्वैध शासन प्रणाली का उत्सादन कर दिया और प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की, जिसके ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। संघीय सिद्धान्त के अनुरूप ही अधिनियम ने तीन सूचियों में केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों का विशद रूप

से विलग किया। इसके अलावा, उसने एक संघीय न्यायालय की स्थापना के लिए उपबन्ध किया।

१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ में संघवाद की समस्त प्राथिक विशेषताएँ पाई जाती थी, लेकिन कुछ दृष्टियों से वह बिलकुल बेजोड़ था। भारतवर्ष में उसका चारों ओर से विरोध किया गया और उसे प्रतिक्रियावाद की शक्तियों को सुदृढ़ करने का एक प्रयास बताया गया। संघ के निर्माण की असाधारण प्रक्रिया के अलावा, एककों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी। प्रस्तावित संघ न्यूनाधिक रूप में लोकतन्त्रात्मक प्रान्तों व स्वेच्छाचारी ढंग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने को था। प्रान्तों और राज्यों के सम्बन्ध में संघीय सरकार को समान सत्ता प्राप्त होने को नहीं थी। प्रान्त तो संघ में स्वतः ही सम्मिलित होने को थे, लेकिन राज्यों का प्रवेश उनके शासकों की इच्छा पर निर्भर था। संघीय विधान मण्डल के उच्चसदन में प्रस्तावित संघ के अवयवी एककों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया और उनके प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे। स्वयं संघीय विधान मण्डल के लिए ही, विलक्षण गठन का प्रस्ताव किया गया। उसका निम्न सदन परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को था।

प्रस्तावित संघीय कार्यपालिका द्वैध होने को थी। प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलों, धार्मिक मामलों और कबाइली इलाकों को 'संरक्षित' विषय माना गया था। इनका शासन-प्रबन्ध गवर्नर जनरल तीन कार्यकारी परिषदों की सहायता से करने को था। शेष विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जनरल उन मन्त्रियों की सहायता से करने को था, जो विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन मन्त्रीय क्षेत्र में भी गवर्नर जनरल के कई ऐसे विशेष उत्तरदायित्व थे, जिनका प्रबन्ध करने में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय को प्रयोग कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर जनरल किसी प्रकार एक वैधानिक शासक नहीं था। कार्यकारी, विधायी और वित्तीय क्षेत्रों में वह विशाल वास्तविक शक्तियों का उपभोग करता था।

संघीय विधान मण्डल द्विसदनात्मक होने को था। उच्च सदन (राज्य परिषद्) में २६० सदस्य होने को थे जिनमें १०४ सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करने को थे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में से ६ तो गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होने को थे और शेष १५० सदस्य साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलों के द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। निम्न सदन (संघीय सभा) के सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित हुई थी। ब्रिटिश भारत के २५० सदस्य परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। संघीय विधानमण्डल प्रभुत्व शक्ति विरहित कानून निर्माता निकाय था। उसकी विधायिनी और वित्तीय सक्षमता गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियों के अधीन थी।

संघीय न्यायालय ने, जिसका उद्घाटन १ अक्तूबर, १९३७ को हुआ, एक मुख्य न्यायाधिपति और छः दूसरे न्यायाधीश सम्मिलित थे। उसे प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकार प्राप्त था। लेकिन वह सर्वोच्च न्यायालय नहीं था क्योंकि उसके पास से अपीलें प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के पास भेजी जा सकती थीं।

१९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को एक नया वैधानिक स्टेटस प्रदान किया जिसे प्रान्तीय स्वायत्तता के नाम से अभिहित किया गया। इसके दो अर्थ थे—(क) प्रान्तीय सरकारों को अपने उल्लिखित क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त हो और (ख) प्रान्तों में पूरे पैमाने पर उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। लेकिन व्यवहारतः प्रान्तीय स्वायत्तता इन दोनों में से एक भी अर्थ में पूर्ण या सच्ची नहीं थी। केन्द्रीय सरकार कई रीतियों से प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्र को अतिक्रान्त कर सकती थी। इसके अलावा प्रान्तों का उत्तरदायी शासन गवर्नरों व गवर्नर जनरल की विशेष शक्तियों के कारण अत्यन्त सीमित हो गया था।

गवर्नर जनरल की तरह प्रान्तीय गवर्नर भी वास्तविक शासक था। उसे पर्याप्त स्वविवेकी शक्तियां और विशेष उत्तरदायित्व प्राप्त थे। कार्यकारी, विधायी और वित्तीय मामलों में वह, कई अवसरों पर अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर और अध्यादेश व गवर्नर के अधिनियम जारी करके वह विधान मण्डल की इच्छा को अवरुद्ध कर सकता था।

गवर्नर प्रान्त का प्रशासन मन्त्री-परिषद् की सहायता और मन्त्रणा से करता था, साधारणतः उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन यदि गवर्नर को यह भान होता कि मन्त्रियों द्वारा दी गई मन्त्रणा का उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, उस दशा में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। मन्त्री सामूहिक रूप से प्रान्तीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन वे गवर्नर के द्वारा भी अपदस्थ किए जा सकते थे। उदाहरणार्थ सिन्ध के प्रधान मन्त्री के० बी० अल्लाबख्श को वहाँ के गवर्नर ने पदच्युत कर दिया था। यह उत्तरदायी शासन की प्रवंचना थी।

प्रान्तीय विधान मण्डल को प्रान्तीय सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार था। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता था, लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून यदि केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा उसी विषय पर पास किए गए किसी कानून के प्रतिकूल पड़ता, तो उस स्थिति में केन्द्रीय विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कानून ही अभिभावी हो सकता था। प्रान्तीय विधान मण्डल की सर्वशक्तिमत्ता गवर्नर की विशेष शक्तियों द्वारा मर्यादित थी। १९३५ के अधिनियम ने प्रान्तीय

मताधिकार को विस्तृत कर दिया और मतदान का अधिकार ब्रिटिश भारत की १४ प्रतिशत जनसंख्या को प्रदान किया।

गृह-सरकार में अधिनियम ने कुछ ही औपचारिक परिवर्तन किए। भारतीय परिषद् का उत्सादन कर दिया गया और भारत मन्त्री की सहायता के लिए छः से अनधिक व तीन से अन्यून परामर्शदाता नियुक्त किए गए।

यह स्मरणीय है कि प्रस्तावित संघ की स्थापना नहीं की गई और १६३५ के अधिनियम का केवल प्रान्तीय भाग ही १ अप्रैल, १६३७ को कार्यरूप में परिणत किया गया।

अध्याय १२

प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

९०. निर्वाचन (फरवरी, १९३७)

प्रान्तीय स्वायत्तता का उद्‌घाटन—पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का भारतीय लोकमत के सभी महत्वपूर्ण वर्गों ने तिरस्कार किया। अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ ने व्यापक विरोध को जन्म दिया। १९३० में ब्रिटिश सरकार के 'अनुशासित दासों', अर्थात् देशी नरेशों ने संघीय विचार का जोर-शोर से अनुमोदन किया था, लेकिन अब उन्होंने भी उसकी ओर से पीठ मोड़ ली। फलतः अधिनियम के संघीय भाग को स्थगित कर दिया गया क्योंकि अखिल भारतीय संघ की रचना उस समय तक संभव नहीं थी, जब तक कि कम-से-कम इतने राज्य, जिनकी जनसंख्या सब राज्यों की कुल जनसंख्या की आधी हो और जो संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में समस्त राज्यों के लिए निस्थापित कुल स्थानों के कम-से-कम अर्द्धांश के अधिकारी हों, उसमें प्रविष्ट न हो जाएँ। अवसर आने पर नरेशों ने अपने भाग्य को शेष भारत के साथ संयुक्त करना अस्वीकार करके संघीय योजना की हत्या कर डाली। फिर भी, अधिनियम के भाग ३ को (जो प्रान्तीय शासन से सम्बन्ध रखता था) कार्यरूप में परिणत किया गया और फरवरी, १९३७ में प्रान्तीय विधानमण्डल के लिए सम्पन्न होने वाले साधारण निर्वाचनों के पश्चात् उसी वर्ष पहली अप्रैल को नवीन संविधान में निर्दिष्ट प्रान्तीय स्वायत्तता का उद्‌घाटन किया गया। जुलाई, १९३५ जब कि अधिनियम पास किया गया था और फरवरी, १९३७ के बीच में निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण, मतदाता-सूचियों की तैयारी तथा प्रान्तों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की आवश्यक अदल-बदल की प्रारम्भिक कार्यवाहियाँ पूरी कर ली गईं।

कांग्रेस १९३५ के सम्पूर्ण अधिनियम के विरुद्ध थी लेकिन उसने नए संविधान को नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से निर्वाचनों में भाग लेने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग ने संघ को तो अस्वीकार कर दिया लेकिन निर्वाचनों में प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए अपने प्रत्याशी खड़े करना तय किया। उदारवादियों ने अधिनियम के सीमित उपबन्धों का तीव्र विरोध किया लेकिन वे नए संविधान की एक बार अच्छी तरह से जाँच कर लेने के पक्ष में थे। इस प्रकार, निर्वाचनों के दौरान में भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल मैदान में उपस्थित था।

निर्वाचन-परिणाम—निर्वाचन के परिणाम महत्त्वपूर्ण थे। छः प्रान्तों (मद्रास, बिहार, बम्बई, यू० पी०, सी० पी० और उड़ीसा) में, जिनमें ब्रिटिश भारत की दो तिहाई जनसंख्या था जाती थी, कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। आसाम में उसने १०८ स्थानों में से ३५ पर अधिकार कर लिया और वह सबसे शक्तिशाली दल के रूप में अवतरित हुई। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस को ५० में से १६ स्थान मिले। मुस्लिम लीग समस्त प्रान्तों के ४०० मुस्लिम स्थानों में से केवल ५१ ही प्राप्त कर सकी।

६१. पद-ग्रहण

कांग्रेस में मतभेद—निर्वाचनों के पश्चात् कांग्रेस के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि पद-ग्रहण किया जाय या नहीं। छः प्रान्तों में तो उसका पूर्ण बहुमत था और शेष प्रान्तों में से कुछ में वह मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी। कांग्रेस का वामपक्ष कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की रचना का घोर विरोधी था। जवाहरलाल नेहरू ने यहाँ तक कह दिया कि पदग्रहण "उस ध्येय के प्रति विश्वासघात होगा, जिसे हमने स्वीकार किया है।" सुभाष बोस के मतानुसार पद-ग्रहण पराजय की स्वीकारोक्ति के तुल्य था। कांग्रेस के समाजवादी और साम्यवादी गुटों ने संघर्ष के कार्यक्रम का समर्थन किया, लेकिन बहुमत दक्षिणपक्षियों का था, जिनके नेता सरदार पटेल, राजगोपालाचारी और राजेन्द्रप्रसाद थे। दक्षिण-पक्षियों को महात्मा गांधी का भी मौन समर्थन प्राप्त था। मार्च, १९३७ में दिल्ली में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उसमें दक्षिण-पक्षियों ने वामपक्षियों को बहुमत से हरा दिया और अन्तिम रूप में यह निश्चित किया गया कि उन प्रान्तों में जहाँ विधानमण्डलों में कांग्रेस का बहुमत है और जहाँ कांग्रेस दल के नेता को इस बात का सुस्पष्ट आश्वासन मिल जाए कि गवर्नर शक्तियों के वैधानिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाया जा सकता है।

कांग्रेस द्वारा गवर्नरों से आश्वासन की माँग—कांग्रेस इस परम्परा का विकास करना चाहती थी कि गवर्नर की विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भी मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण होना चाहिए। कांग्रेस ने साफ-साफ शब्दों में यह माँग की कि गवर्नरों को उस समय भी जब कि संविधान के अधीन उनसे यह अपेक्षा की जाती हो कि वे व्यक्तिगत विवेक के अनुसार कार्य करें, मन्त्रियों के परामर्श पर ही कार्य करना चाहिए। चूँकि गवर्नर उक्त आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं हुए अतः जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहाँ के विधानमण्डल के कांग्रेस दल के नेता ने मन्त्रिमण्डल बनाने का आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियों ने यह दृष्टि बिन्दु ग्रहण किया कि इस प्रकार का आश्वासन संविधान में संशोधन किए बिना नहीं दिया

जा सकता था। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने कहा कि नविधान में ऐसी कोई चीज नहीं है जो गवर्नरों को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों के परामर्श पर करने से रोकती हो। उनका मत था कि १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यक अभिसमय विकसित किए जा सकते हैं। चूंकि इस वाद-विवाद ने कानूनी रूप धारण कर लिया था अत बहुत से प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं ने इसमें भाग लिया। प्रख्यात विधान-शास्त्री प्रो० कीथ ने कांग्रेस के दृष्टिकोण का समर्थन किया।

अन्तरिम मन्त्रिमण्डल—जिस समय यह वाद-विवाद चालू था और छः प्रान्तों में कांग्रेस ने पद ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया, गवर्नरों ने अल्पसंख्यक दलों के नेताओं द्वारा निर्मित मन्त्रिमण्डलों को प्रतिष्ठापित कर दिया। ये अलोकप्रिय मन्त्रिमण्डल विधान मण्डल का सामना नहीं कर सकते थे और न ही अपने बजट पास करा सकते थे। गतिरोध तीन महीने तक चलता रहा। धीरे-धीरे दोनों विरोधी पक्षों (सरकार और कांग्रेस) ने अपने दृष्टिकोण को नरम किया।

समझौता—जुलाई में गवर्नर जनरल ने यह घोषणा की कि भारतीय जनता मुझ पर इस बात का भरोसा रख सकती है कि मैं, "भारत में संसदीय शासन के सिद्धान्तों की पूर्ण और चरम स्थापना के लिए अनथक गति से कार्य करूँगा।" यद्यपि कोई स्पष्ट वचन तो नहीं दिया गया, लेकिन लार्ड लिलियथो ने यह कह दिया था कि दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। वायसराय के वक्तव्य ने 'कोई वैधानिक आधार नहीं छोड़ा।'[1] लेकिन कांग्रेस ने उसके सान्त्वनामूलक स्वर का मित्रतायुक्त जवाब दिया। ७ जुलाई, १९३७ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने "एक ओर नए अधिनियम से भिड़ने और दूसरी ओर (सामाजिक सुधार के) रचनात्मक कार्यक्रम को चलाने के लिए"[2] कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने की आज्ञा दे दी। कांग्रेस के यह निर्णय करने पर 'अन्तरिम' मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हो गए। कुछ काल पश्चात् आसाम और उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में भी कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बन गए।

९२. कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

शासकों के रूप में राजद्रोही—पद-ग्रहण के साथ-साथ, "कांग्रेस ने युद्धों, अवज्ञा और कारावास के पुराने युग के स्थान पर रचनात्मक राजनीतिज्ञता के एक नवीन युग में पदार्पण किया।"[3] अब तक जो राजद्रोही रहे थे, वे शासकों के रूप में अवतरित

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट", पृ० १९६।
२. जवाहरलाल नेहरू—"दी यूनिटी आफ इण्डिया", पृ० ५९।
३. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी नेशनलिस्ट मूवमेंट", पृ० ९०।

हुए और इस क्षमता में उन्होंने अपने नौकरशाही विरोधियों, गवर्नरों और आई० सी० एस० पदाधिकारियों के साथ मिलकर काम किया। आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल उस समय तक सत्तारूढ़ रहे जब तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध के सूत्रपात पर उन्होंने त्यागपत्र नहीं दे दिए।

गवर्नरों का नियत कर्म, विशेष शक्तियों का यदा-कदा प्रयोग—कांग्रेसी नेताओं का यह भय कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का अत्यधिक प्रयोग करेंगे, कुछ अतिशयोक्ति-सा सिद्ध हुआ। यह भी नहीं है कि गवर्नर वैधानिक प्रधानमात्र हो गए हों। वे सक्रिय शासक बने रहे। यदि उनमें और मन्त्रियों में मतभेद होने के बहुत कम अवसर आए, तो इसका श्रेय उन दोनों को ही समान रूप से जाता है। मन्त्रियों और गवर्नरों दोनों ने ही अत्यन्त सतर्कतापूर्वक कार्य किया। 'रक्षा-कवच' रद्द नहीं किए गए। वे सदैव ही मन्त्रियों और गवर्नर के वाद-विवादों की पृष्ठभूमि में रहते थे। कई अवसरों पर उनका प्रयोग भी किया गया। १९३८ के प्रारम्भ में, यू० पी० और बिहार में राजनीतिक कैदियों को मुक्त करने के प्रश्न पर मन्त्रियों और गवर्नरों में मतभेद उत्पन्न हो गया। गवर्नर जनरल ने संविधान की धारा १२६ के अधीन सम्बद्ध गवर्नरों को यह अनुदेश दे दिया कि वे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा को न मानें क्योंकि इससे अमन और चैन बनाए रखने के उनके विशेष उत्तरदायित्व पर असर पड़ता है। इस पर मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिए लेकिन अन्ततोगत्वा यह गतिरोध समझौते की बातचीत के द्वारा तय हो गया। एक संतोषजनक हल खोज निकाला गया और मन्त्रिमण्डलों ने पुनः काम सम्हाल लिया। उड़ीसा में इसी प्रकार का संकट एक अधीनस्थ नौकरशाही पदाधिकारी की गवर्नर के पद पर नियुक्ति को लेकर उठ खड़ा हुआ लेकिन स्थिति को स्थायी गतिरोध का रूप धारण करने से रोक लिया गया। व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नरों ने केवल चार बार ही निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की शक्ति—यह स्मरणीय है कि कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता की तुलनात्मक रूप से सफलता का कारण विधानमण्डलों के कांग्रेस दलों की शक्ति और अनुशासन था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को जिस विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त था, गवर्नर उसकी महत्ता को समझते थे और निश्चित दूरदर्शिता के कारण वे लोकतन्त्र की शक्तियों के साथ रोज-रोज के संघर्षों से बचने के लिए बाध्य थे।

केन्द्रीय कांग्रेस का नियन्त्रण—कांग्रेस दलों की अनुशासित शक्ति का कारण केवल उनका स्थायी बहुमत ही नहीं था, अपितु केन्द्रीय कांग्रेस संगठन और उसके संसदीय बोर्ड का एकात्मक नियन्त्रण भी था। कूपलैण्ड के मत में, "कांग्रेस की एकात्मक नीति प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का उल्लंघन करती थी।"[1]

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट" पृ. १६१।

उसका कथन है कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल सम्बद्ध विधान मण्डलों के प्रति इतने उत्तरदायी नहीं थे, जितने कि कांग्रेस 'केन्द्र' के प्रति। इसके विपरीत कांग्रेस का विचार यह था कि संसदीय बोर्ड के प्रभाव ने स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण का संचार किया और संकुचित प्रान्तीयता की वृद्धि को रोका।

कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों की सफलताएँ—अपनी पदारूढ़ि के अट्ठाइस महीनों में कांग्रेस ने कतिपय ऐसी सफलताएँ प्राप्त कीं जिन पर वह "गर्व कर सकती थी।"[१] सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने निर्वाचन-घोषणा-पत्र में दिए गए वचनों को पूरा करने की चेष्टा की। खेतिहरों की जमींदारों के अत्याचारों से रक्षा हो सके और वे ऋणग्रस्तता से छुटकारा पा सकें, इसके लिए कई प्रान्तों में एक से सुधार हुए। शिक्षा के क्षेत्र में यू० पी० और बिहार में प्रशंसनीय तरक्की हुई। इन प्रान्तों में अशिक्षा के उन्मूलन के लिए महात्मा गांधी की बुनियादी तालीम की योजना को अपनाया गया। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने ग्राम-पुनर्गठन, कुटीर-उद्योगों के विकास और ग्राम-पंचायतों के पुनरुत्थान की ओर भी ध्यान दिया। हरिजनों की दशा में सुधार करने के भी प्रयास किए गए। कांग्रेस कार्यक्रम में मद्य-निषेध को मुख्य स्थान प्राप्त था। इस सुधार के पूर्ण प्रवर्तन का अभिप्राय यह था कि १८ करोड़ रुपयों के राजस्व का बलिदान कर दिया जाए। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत को 'नीरस' कर देने की नीति एक ही छलांग में कार्यान्वित नहीं की जा सकती थी' तथापि, लगभग सभी कांग्रेस प्रान्तों में इस नीति का श्रीगणेश कर दिया गया। बम्बई और मद्रास ने इस दिशा में नेतृत्व ग्रहण किया। अन्तःशुल्क राजस्व की हानि को बिक्रीकर जैसे राजस्व के नये स्रोतों की उद्भावना करके और प्रशासन के व्यय में कमी करके पूरा किया गया।

९३. गैर-कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता

उत्तरदायी शासन में गवर्नरों के हस्तक्षेप के दृष्टान्त—गैर-कांग्रेसी प्रान्तों की हालत इतनी अच्छी नहीं थी। पंजाब को छोड़कर, जहाँ 'यूनियनिस्ट' मन्त्रिमण्डल ने स्थायी शासन का निर्माण किया था, शेष प्रान्तों के मन्त्रिमण्डल दुर्बल और अस्थायी थे। गवर्नरों के स्वेच्छाचारी व्यवहार के उदाहरण रोज-रोज देखने को मिलते थे। अक्टूबर, १९४२ में सिन्ध के गवर्नर ने मुख्यमन्त्री खानबहादुर अल्लाबख्श को इस आधार पर पदच्युत कर दिया कि वह 'उसके' विश्वास-भाजन नहीं थे। यह उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध था क्योंकि पदच्युति के समय मुख्यमन्त्री को विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त था। जुलाई, १९४३ में बंगाल के मुख्यमन्त्री फजलुल

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृ. १६१

हक को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। मुख्यमन्त्री ने बाद में इस बात की शिकायत की थी कि, "गवर्नर सम्पूर्ण विचार-विनिमय पर एकाधिकार कर लेता था और अपने मन्त्रियों पर अपने निर्णय लाद देता था।" बंगाल के एक मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने दिन-प्रति-दिन के प्रशासन में गवर्नर के हस्तक्षेप के कारण अपने पद से त्याग-पत्र देना आवश्यक समझा।

सारांश

१९३५ के अधिनियम का प्रान्तीय भाग १ अप्रैल, १९३७ को प्रवर्तन में आया। साधारण निर्वाचनों में जो उस वर्ष फरवरी में सम्पन्न हुए, छः प्रान्तों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और दो प्रान्तों में वह सबसे शक्तिशाली दलों के रूप में प्रकटित हुई।

पद-ग्रहण के प्रश्न पर कुछ मतभेद था। जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहाँ उसने उस समय तक मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया जब तक कि गवर्नर *यह आश्वासन न दे दें कि वे अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों की मन्त्रणा पर* नहीं करेंगे। गवर्नरों ने इस प्रकार का वचन देना अस्वीकार कर दिया, फलतः कांग्रेस दलों के नेताओं ने मन्त्रिमण्डल बनाने के आमन्त्रण को ठुकरा दिया। इन प्रान्तों में अंतरिम मन्त्रिमण्डल को प्रतिष्ठापित किया गया। जुलाई में कांग्रेस दलों और सम्बद्ध गवर्नरों के एक समझौते के परिणामस्वरूप यह गतिरोध दूर हो गया। फलतः कांग्रेस ने छः प्रान्तों में और बाद मे आठ प्रान्तो में शासन-सूत्र को सम्हाल लिया।

कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। गवर्नर वैधानिक शासक तो नहीं बने, लेकिन उन्होंने अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर किया। गैर-कांग्रेसी प्रान्तों ने, जिनमें पंजाब अपवाद था, स्थिति दूसरी रही। इन प्रान्तों में गवर्नरों ने दिन-प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप किया।

अध्याय १३

महायुद्ध और वैधानिक गतिरोध

६४. भारत और महायुद्ध

वायसराय द्वारा भारत के युद्ध ग्रस्त होने की घोषणा—३ सितम्बर, १९३९ को द्वितीय विश्वयुद्ध का ज्वालामुखी फूट पड़ा। इस विस्फोट ने भारत में एक गम्भीर वैधानिक संकट उत्पन्न कर दिया। इंगलैण्ड ने नाजी जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लक्ष्य की घोषणा करके हथियार उठाये। वायसराय ने भारतीय जनता के उन प्रतिनिधियों को, जो केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान मण्डलों में थे, बिना किसी प्रकार की सूचना दिए अथवा उनसे बिना किसी प्रकार की मन्त्रणा किए ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है।

महात्मा गांधी का दृष्टिकोण—महात्मा गांधी को वायसराय ने एक 'इण्टरव्यू' के लिए आमन्त्रित किया। महात्मा जी ने कहा कि मेरी अपनी सहानुभूति तो इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ है' लेकिन उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह बात उन्होंने व्यक्तिगत रूप से कही थी, कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में नहीं। कुछ समय बाद उन्होंने 'हरिजन' में लिखा कि "अंग्रेजों को जो भी सहायता दी जाए, वह बिना किसी शर्त के दी जानी चाहिए।"[१]

कांग्रेस की प्रतिक्रिया—कांग्रेस के ऊपर इसकी दूसरी प्रतिक्रिया हुई। जिस अ-लोकतन्त्रात्मक ढंग से भारत को युद्ध में झोंक दिया गया था, उसका कांग्रेस ने तीव्र विरोध किया। "एक ऐसे उद्देश्य के लिए जो उसका अपना नहीं था, एक ऐसे झंडे के नीचे जिसने उसका अपना झंडा गिरा दिया था और ऐसे नेताओं की अधीनता में जो उसके अपने नेताओं से सलाह लेना नहीं चाहते थे—भारत को क्या नैतिक उत्साह होता, वह क्या सहायता प्रदान करता?"[२] जिस समय अप्रैल, १९३९ में भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी अदन में भेजी गई थी, कांग्रेस ने सरकार को चेतावनी दे दी थी कि वह भारतीय जनता की सहमति के बिना भारत के ऊपर युद्ध थोपने और भारतीय साधनों के युद्ध में प्रयोग की समस्त चेष्टाओं का प्राण-

१. दी हरिजन, सितम्बर २३, १९३९।

२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस, भाग २," पृ. १२४-५।

पण से विरोध करेगी।' सरकार ने इस चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया तथा अगस्त में और अधिक भारतीय सैनिकों को मिश्र और सिंगापुर भेज दिया। इसके विरोधस्वरूप कांग्रेस ने अपने समस्त सदस्यों को केन्द्रीय विधान-सभा से हटा लिया और प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को आदेश दिया कि वे "ब्रिटिश सरकार की तैयारियों में किसी प्रकार से कोई सहायता न दें।"[१]

कांग्रेस का प्रस्ताव—१४ सितम्बर, १९३९—लेकिन इस सबके बावजूद भी जब भारत को युद्धग्रस्त घोषित किया गया, भारतीय विधान मण्डलों से किसी प्रकार की मन्त्रणा नहीं की गई। "अपनी सहमति के बिना और अपने प्रतिनिधियों के अनुमोदन के बिना भारत के लाखों स्त्री-पुरुषों ने स्वयं को युद्धग्रस्त पाया।"[२] ब्रिटिश संसद को उस संशोधन अधिनियम के पास करने में, जिसने कि भारतीय जनता की स्वतन्त्रताओं को कुचलने के लिए उनके ब्रिटिश शासकों के हाथों में भयंकर व्यापक-शक्तियाँ सौंप दीं, केवल ११ मिनट का समय लगा। कांग्रेस ने अपने दृष्टिकोण को जवाहरलाल द्वारा तैयार किए गए और १४ सितम्बर, १९३९ को पास किए गए कार्यसमिति के प्रस्ताव में स्पष्ट किया। कांग्रेस ने उस मनमाने ढंग के ऊपर क्षोभ व्यक्त किया, जिसमें कि ब्रिटिश सरकार एक ऐसी लड़ाई में, जो कि भारत की अपनी नहीं थी, भारत को घसीटे ले जा रही थी। कांग्रेस ने यह साफ-साफ कह दिया कि वह फासिज्म के विरुद्ध है और उस उद्देश्य की जिसको लेकर इंगलैण्ड और फ्रांस लड़ाई में प्रविष्ट हुए हैं, प्रशंसा करती है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था, "हम नाजियों की विजय नहीं चाहते थे, और हमारी सहानुभूति पूर्णतः उनकी ओर थी, जिनके ऊपर आक्रमण किया गया था।"[३]

युद्ध के उद्देश्यों को स्पष्ट करने की माँग—लेकिन इसके पूर्व कि भारत लोकतन्त्र की सहायता करता भारत में लोकतन्त्र की स्थापना होनी आवश्यक थी। "हमारे आदेश पर स्वयं पराधीन, वे (भारतीय) दूसरों को स्वतन्त्र करने के लिए कैसे संग्राम करते?"[४] कांग्रेस प्रस्ताव ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की कि वह अपने युद्ध के उद्देश्यों को साफ-साफ बतला दे और पूछा, क्या इन उद्देश्यों में साम्राज्यवाद का उन्मूलन शामिल है? क्या ब्रिटिश सरकार भारत के प्रति एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र का-सा, जिसकी नीति अपनी जनता की इच्छाओं के अनुसार संचालित हो, व्यवहार करने के लिए तैयार

१. "इण्डियन एनुअल रजिस्टर, १९३९;" पृ. २१४।
२. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"सब्जेक्ट इण्डिया", पृ० २३।
३. जवाहरलाल नेहरू—"दी यूनिटी ऑफ इण्डिया", पृ० ३९१।
४. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—वही, पृ० २४।

है ?" कांग्रेस की माँग थी कि यदि इंगलैण्ड स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की रक्षा करने के लिए लड़ाई लड़ रहा है, तो उसे भारत में भी स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। "हमारे लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि वह स्वयं हमें ही प्राप्त नहीं है।"[1] कटु अनुभवों ने उसे सिखा दिया था कि "ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार के युद्धकालीन वचनों या वक्तव्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।[2] फलतः कांग्रेस ने माँग की कि इंगलैण्ड को चाहिए कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे। इस माँग का आशय यह था कि भारत को युद्ध के पश्चात् अपना संविधान बनाने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और ब्रिटिश नेकनीयती के प्रमाणस्वरूप तुरन्त ही लोक-शासन की स्थापना होनी चाहिए। "किसी भी घोषणा की वास्तविक कसौटी उसका वर्तमानकालीन उपयोजन है।" कांग्रेस ने यह माँग किसी सौदेबाजी की भावना से अनुप्राणित होकर नहीं की थी और न वह इंगलैण्ड की कठिनाई से अपना मतलब निकालने के लिए ही उत्सुक थी। भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा इसलिए आवश्यक थी कि भारत की जनता को उस लड़ाई के बारे में, जो कि उसकी अपनी नहीं थी, उत्साह पैदा हो जाए। यदि सरकार ने ऐसी घोषणा नहीं की, तो यह स्पष्ट था कि लड़ाई का उद्देश्य साम्राज्यवादी विशेषाधिकार को ज्यों का त्यों कायम रखना था, इस प्रकार की लड़ाई से भारत को क्या लेना-देना था ? भारतवर्ष सहयोग देने को इच्छुक था लेकिन वह यह सहयोग बराबर के साथी की हैसियत से देना चाहता था।

उदारवादियों द्वारा कांग्रेस-माँग का समर्थन—यहाँ यह स्मर्तव्य है कि उदारवादियों ने भी कांग्रेस की माँग का समर्थन किया और सरकार से प्रार्थना की कि वह वर्तमान केन्द्रीय सरकार के स्थान पर जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने में शीघ्रता करे।

मुस्लिम लीग का दृष्टि-बिन्दु—मुस्लिम लीग भी इंगलैण्ड को बिना किसी शर्त के सहायता देने के लिए तैयार नहीं थी। वह युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा के विरुद्ध नहीं थी लेकिन उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि मुसलमानों के साथ पूरा न्याय होना चाहिए और सरकार को चाहिए कि वह उसकी रजामन्दी के बिना कांग्रेस को कोई आश्वासन न दे।

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"दी यूनिटी ऑफ इण्डिया", पृ० ३१४।
२. पट्टाभि सीतारामय्या—"दी हिस्ट्री ऑफ दी कांग्रेस", पृ० १२६।

६५ सरकार का उत्तर और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र

वायसराय की मुलाकातें और श्वेतपत्र—१७ अक्टूबर, १९३९—कांग्रेस ने सरकार से जो आश्वासन माँगा था, वह उसे नहीं मिला। सम्राट्, भारत मन्त्री और गवर्नर जनरल सबने वक्तव्य दिए, लेकिन उनके वक्तव्यों में केवल पुरानी बातें दुहराई गई थी और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नहीं थी। लार्ड लिनलिथगो ने मुलाकातों का एक तांता शुरू किया और ५२ व्यक्तियों से भेंट की। उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि वे समस्त जातियों, हितों और देशी नरेशों के दृष्टिकोणों को भली-भांति समझ लें। इन सब बातचीतों का जो नतीजा १७ अक्टूबर, १९३९ के श्वेतपत्र में प्रकाशित हुआ उसमें किसी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वायसराय को 'दृष्टिकोणों का स्पष्ट भेद' दिखाई दिया। स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति इन मत-भेदों की लार्ड लिनलिथगो की-सी सूझबूझ के साथ खोज करता, तो उसको खोज करने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह उसी चिरपरिचित 'फूट डालो और राज्य करो' वाली नीति की पुनरावृत्ति थी। दृष्टिकोणों के इन स्पष्ट भेदों को देखते हुए वायसराय भारतीय देशभक्तों को केवल उसी बात की याद दिला सकते थे जो कि उनके पूर्ववर्तियों ने बार-बार कही थी अर्थात् "भारत की उन्नति का स्वाभाविक लक्ष्य औपनिवेशिक पद की प्राप्ति करना है।" उन्होंने इस बात की घोषणा की कि युद्ध की समाप्ति पर १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित सघीय संविधान में विभिन्न सम्प्रदायों, दलों और स्वार्थों के प्रतिनिधियों तथा देशी नरेशों से मन्त्रणा करके उचित संशोधन कर दिया जाएगा। स्पष्ट है कि वे एक संविधान सभा का नहीं अपितु दूसरी गोलमेज परिषद् का वचन दे रहे थे। जहां तक भारत की इस मांग का सम्बन्ध था कि केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होनी चाहिए, वायसराय केवल एक ऐसी 'मन्त्रणा-गोष्ठी' का ही आश्वासन दे सकते थे जिसके साथ वे समय-समय पर युद्ध-संचालन के सम्बन्ध में विचार-विनिमय कर सकें।

प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र—वायसराय के वक्तव्यों ने किसी को सन्तुष्ट नहीं किया और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया। उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता और समानता के दावे को अस्वीकार करने के लिए प्रतिक्रियावादियों और अल्पसंख्यक वर्गों के विरोध का दक्षतापूर्वक प्रयोग किया था। भारत के राष्ट्रवादियों ने इस दृष्टिकोण को अपने लिए अपमानजनक समझा। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार इसका अभिप्राय यह था कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उन्मूलन के बारे में अन्तिम निर्णय करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ही हाथ में है।" कांग्रेस 'कुछ करने' के लिए लाचार हो गई। उसने रोटी माँगी थी, उसे मिला पत्थर। १ अक्टूबर को कार्य-

समिति ने प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से कहा कि वे अपना-अपना त्यागपत्र दे दें। नवम्बर में वायसराय ने संविधान की धारा ९३ के अधीन एक उद्घोषणा जारी की और उन आठ प्रान्तों में जहाँ कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए थे, परामर्श-दाताओं के शासन की स्थापना कर दी।

वायसराय का परिस्थिति को साम्प्रदायिक रूप देना—अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किए गए तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के साथ पुनः वार्ता शुरू की। उन्होंने अपनी कार्यपालिका परिषद् के विस्तार करने का वचन दिया ताकि उसमें भारतीय दलों के प्रतिनिधि भी शामिल हो सकें। लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रान्तीय प्रश्न व प्रान्तों में संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के सम्बन्ध में समस्त सम्प्रदायों के बीच समझौता होना चाहिए। इससे और भी उलझन गढ़ गई। यह ऐसी धूर्तता थी जिसका उद्देश्य एक विशुद्ध राजनीतिक समस्या को साम्प्रदायिक रूप देना था। जैसी कि आशा की जानी चाहिए कांग्रेस ने इस आधार पर समझौते की बातचीत करना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार गतिरोध पैदा हो गया और वह युद्ध के आद्योपान्त बना रहा।

९६. अगस्त की घोषणा (१९४०)

कांग्रेस द्वारा सहयोग का प्रस्ताव—लगभग एक साल बीत गया और भारत की राजनीति में सिवाय इसके कि मार्च, १९४० में मुस्लिम लीग ने अपने द्विराष्ट्र-सिद्धान्त की घोषणा की और पाकिस्तान की माँग उपस्थित की, कोई सारभूत परिवर्तन नहीं हुआ। लड़ाई की हालत इंगलैण्ड के लिए बहुत खतरनाक हो गई। डेनमार्क में ब्रिटिश दलों की पराजय और जर्मन हवाई बेड़े द्वारा परिचालित भयंकर हवाई हमलों के कारण इंगलैण्ड अपने इतिहास के सबसे नाजुक दौर से गुजर रहा था। चैम्बरलैन के स्थान पर चर्चिल प्रधान मन्त्री हो गए थे। कांग्रेस ने पुनः ब्रिटेन के साथ सहयोग करने के लिए दोस्ती का हाथ बढ़ाया। ७ जुलाई, १९४० के अपने प्रस्ताव में कार्यसमिति ने "देश की रक्षा के लिए प्रभावशाली संगठन में पूरा-पूरा सहयोग देने का" निश्चय किया। सहयोग के लिए कांग्रेस की शर्तें ये थीं—(१) पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारत के अधिकार की स्वीकृति, (२) तात्कालिक साधन के रूप में केन्द्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

८ अगस्त की घोषणा—लेकिन ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस द्वारा बढ़ाए गए दोस्ती के हाथ को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उसने केन्द्रीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कहा कि ऐसा करना सारे संविधान को बदलना है, जो कि युद्धकाल में

नहीं हो सकता। सरकार के अपने जो प्रस्ताव थे, वे ८ अगस्त के वायसराय के वक्तव्य में प्रकाशित हुए। वक्तव्य में वचन दिया गया था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र भारत को औपनिवेशिक पद दे दिया जाएगा और एक प्रतिनिधिक संविधान निर्माता निकाय की स्थापना की जाएगी। यह स्वीकार कर लिया गया था कि नए संविधान को बनाने की जिम्मेदारी मुख्यतः भारतीयों के ऊपर ही होगी। यह स्पष्ट नहीं था कि 'प्रतिनिधिक संविधान-निर्माता निकाय' का अभिप्राय पूर्ण विकसित संविधान सभा से था अथवा खाली एक और गोलमेज परिषद् से। इसके अलावा इस प्रकार के निकाय की स्थापना करने के प्रस्ताव को प्राधिक संरक्षणों वाली बात ने उलझन-पूर्ण कर दिया था। घोषणा में कहा गया था कि "ब्रिटिश सरकार ऐसे किसी दल को सत्ता नहीं दे सकती जिसे देश के बड़े-बड़े और शक्तिशाली तत्त्व मानने के लिए तैयार न हों।" स्पष्ट है कि ये शक्तिशाली तत्त्व मुस्लिम लीग, दूसरे प्रतिगामी अल्प-संख्यक वर्गों के संगठन और देशी नरेश थे।

जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध था, वक्तव्य में (१) बढ़ी हुई कार्यपालिका-परिषद् में कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने और (२) एक ऐसी युद्ध सलाहकार परिषद् की स्थापना करने की जिसमें विभिन्न दलों के नेता व देशी राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हों, बात कही गई थी।

परिणाम—वायसराय के वक्तव्य से कांग्रेस को सन्तोष नहीं हुआ और उसने इसकी ओर आँख उठाकर देखने से भी इनकार कर दिया। महात्मा गांधी के अनुसार उसने भारत और इंगलैण्ड के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। सरकार ने अल्पसंख्यक वर्गों के प्रश्न के सम्बन्ध में जो रुख ग्रहण किया था, कांग्रेस ने उसका विशेष रूप से विरोध किया और सरकार के ऊपर आक्षेप लगाया कि वह इस प्रश्न को 'भारत की उन्नति के मार्ग में एक दुस्तर बाधा'[1] बनाए दे रही है। कांग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या भारतीयों के सुलझाने के लिए थी। अंग्रेजी सरकार उसमें अयाचित अवांछित टाँग अड़ाकर उसे व्यर्थ में ही पेचीदा बनाए दे रही थी। मुस्लिम लीग तक ने अगस्त के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, यद्यपि भिन्न कारणों से। उसने वायसराय के वक्तव्य में विवक्षित संयुक्त भारत के विचार का विरोध किया और कहा कि "भारत का विभाजन ही समस्या का एक मात्र हल है।" उसने इस बात पर भी बल दिया कि "उसकी सम्मति के बिना कोई भी भावी संविधान, अन्तरिम या अन्तिम निर्मित नहीं होना चाहिए और कार्यपालिका परिषद् के किसी भी पुनर्निर्माण में उसके और कांग्रेस के बीच में ५०, ५० के सिद्धान्त को लागू

१ "इण्डियन एनुअल रजिस्टर—१६४०", पृ० १६८।

किया जाना चाहिए।"[1] इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की नीति ने साम्प्रदायिक समस्या को और भी उलझा दिया तथा कांग्रेस कार्यसमिति की सम्मति में वह गृह-कलह और संघर्ष के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन व उत्तेजना थी।

६७. व्यक्तिगत सत्याग्रह

कांग्रेस का असहयोग पर वापस आना—अगस्त प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू और सी० राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रिया-कलापों के लिए, जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग चाहते थे और जिनके नेतृत्व में कांग्रेस ने पहले महात्मा गांधी के युद्ध-प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवाद और असहयोग अस्वीकार कर दिया था, एक प्रतिघात था। अब पुनः कांग्रेस ने महात्मा गांधी को मार्गदर्शन के लिए आमन्त्रित किया। गांधीजी ने वायसराय से प्रार्थना की कि वे उन्हें "देश की जनता को भारत के युद्ध-प्रयत्न में सहायता देने से रोकने की" स्वतन्त्रता दें। वायसराय ने इसे अस्वीकार कर दिया। फलतः महात्मा गांधी ने सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।

केवल प्रतीकात्मक विरोध—सत्याग्रह आन्दोलन केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। उसका लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को व्यग्र करना अथवा किसी भी प्रकार धुरी राष्ट्रों की सहायता देना नहीं था। इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्येक रूप में निषिद्ध कर दिया गया। केवल कुछ छँटे हुए सत्याग्रहियों को ही यह दुहराते हुए कि "जन या धन से ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में सहायता देना गलत है" सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई। पंजाब के मुख्य मन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ ने महात्मा गांधी के ऊपर आक्षेप किया कि जिस समय इंगलैण्ड अपने जीवन-मरण के संघर्ष में निरत है, वे उसकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप केवल प्रतीकात्मक ही था। जिस समय अंग्रेज जाति अपने जीवन-मरण का झूला झूल रही थी, कांग्रेस ने उसके ऊपर कठोर आघात करना अनैतिक समझा और बहुत हलका आघात किया।[2] फिर भी मई, १९४१ तक लगभग १४००० सत्याग्रही जेल पहुँच गए।[3] "इनमें छः प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, २९ मन्त्री और २९० प्रान्तीय विधान मण्डलों के सदस्य थे।"[4]

---

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० २०२।
२. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"सब्जेक्ट इण्डिया", पृ० ५६।
३. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट", पृ० २०५।
४. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—वही, पृ० ५६।

९८. कार्यपालिका परिषद् का विस्तार और आंशिक भारतीयकरण

महत्त्वशून्य उपाय—राष्ट्रवादी भारत की मांगों की ओर ध्यान न देते हुए वायसराय ने जुलाई, १९४१ में अपनी कार्यपालिका परिषद् में पाँच सदस्य और शामिल कर लिए। पहले उसमें वायसराय सहित आठ सदस्य थे, अब बढ़कर तेरह हो गए। जिन नए पाँच सदस्यों को नियुक्त किया गया था, वे भारतीय थे। इस प्रकार अब कार्यपालिका परिषद् में भारतीयों की कुल सदस्य-संख्या आठ हो गई। लेकिन कार्यपालिका-परिषद् का यह आंशिक भारतीयकरण एक महत्त्वशून्य उपाय था *क्योंकि सभी महत्त्वपूर्ण विभाग प्रतिरक्षा, गृह, वित्त अंग्रेजों के ही हाथों में बने रहे।* कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ही इस विस्तृत कार्यपालिका परिषद् का बहिष्कार किया। जिन नए सदस्यों को वायसराय ने अपने विवेक के अनुसार चुना था, वे सबके सब उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने वाले थे। संभवतः एक डॉ० अम्बेदकर को छोड़कर और किसी को किसी संगठित दल का समर्थन प्राप्त नहीं था। इसके अलावा, कार्यपालिका परिषद् एक अनुत्तरदायी निकाय बनी रही। उसके ऊपर वायसराय का प्रभुत्व ज्यों-का-त्यों कायम रहा।

९९. क्रिप्स मिशन (मार्च, १९४२)

जापान का युद्ध-प्रवेश और भारत को खतरा—७ दिसम्बर, १९४१ को जापान युद्ध-स्थल में कूद पड़ा। अब विश्वयुद्ध ने एक नया रूप ग्रहण किया। यूरोप में तो धुरी राष्ट्रों को आगे बढ़ने से रोके रखा गया, *लेकिन एशिया में जापान की विजय-वाहिनी अप्रतिहत गति से आगे बढ़ी।* मलाया, इण्डोचायना और इण्डोनेशिया ने जापान की सेनाओं के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। फरवरी, १९४२ के अन्त तक बर्मा का पराभव भी अपरिहार्य दीखने लगा। इस तरह युद्ध का खतरा भारत के निकटतर आता जा रहा था। बहुत कम भारतीयों को यह विश्वास था कि इंगलैण्ड में जापानी आक्रमण से भारत की रक्षा करने की शक्ति है। चर्चिल तक ने इस बात को स्वीकार किया कि इंगलैण्ड के पास भारत की रक्षा करने के पर्याप्त साधन नहीं है।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—भारत के सिर पर मँडराते हुए इस खतरे ने कांग्रेस की नीति में परिवर्तन कर दिया। प्रमुख कांग्रेसियों को नवम्बर, १९४१ में जेल से मुक्त कर दिया गया था। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में संचालित इसके दल फिर एक बार महात्मा गांधी की शान्तिवाद की नीति से हट गई। अपनी ही प्रार्थना पर गांधीजी नेतृत्व के भार से मुक्त कर दिए गए। अब सत्याग्रह कांग्रेस की नीति नहीं रहा। जवाहरलालजी देश की प्रतिरक्षा के लिए संगठित करना चाहते थे। वह सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार थे—लेकिन कुछ शर्तों पर। उस समय "एक

अभिमानी साम्राज्य को, जो फासिस्ट सर्वाधिकारवाद से अभिन्न है" सहायता देने का कोई प्रश्न नहीं था। सितम्बर, १९४१ में चर्चिल से पूछा गया था कि क्या एटलांटिक चार्टर जो सब जातियों को अपनी मनोवांछित शासन-प्रणाली को पसन्द करने का अधिकार देता है, भारत के ऊपर भी लागू होगा? चर्चिल ने इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं, जनाब' कहा था। भारत को यह 'नहीं' अच्छी तरह याद थी। लेकिन जापान की पूर्वीय विजय-यात्रा ने ब्रिटिश सरकार को विवश कर दिया कि वह भारत की ओर नया दृष्टिबिन्दु ग्रहण करे।

विश्व-जनमत का दबाव—फरवरी, १९४२ में राष्ट्रवादी चीन के नेता मार्शल च्यांग-काई-शेक भारत आए और उन्होंने इंगलैण्ड से अपील की कि वह भारत की स्वतन्त्रता की माँग पर सहृदयतापूर्वक विचार करे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के बारे में भी यह प्रख्यात है कि वह चर्चिल पर इस बात का दबाव डाल रहे थे कि वह भारत का ऐच्छिक सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ करें। इस प्रकार युद्ध के संकटों और विश्व-जनमत के दबाव ने क्रिप्स-मिशन के लिए रंगमंच तैयार कर दिया।

क्रिप्स-मिशन की घोषणा—रंगून-पतन के चार दिन बाद ११ मार्च, १९४२ को चर्चिल ने संसद में घोषणा की कि "जापान की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा पैदा हो गया है उसे देखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि हमलावर से देश की रक्षा करने के लिए हमें भारत के सभी वर्गों का संगठन करना चाहिए और सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय गतिरोध का अन्त करने के लिए भारत प्रस्थान करेंगे।" इस घोषणा का भारत में स्वागत किया गया क्योंकि क्रिप्स की यहाँ बहुत ख्याति थी। यही वह व्यक्ति थे जो रूस को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में खींच लाए थे। इसके अलावा वह एक समाजवादी थे और भारत के कई चोटी के राष्ट्रवादी नेताओं से उनके मित्रतायुक्त सम्बन्ध थे। वह पहले भी दो बार भारत आ चुके थे।

क्रिप्स भारत में—२२ मार्च, १९४२ को क्रिप्स दिल्ली उतरे। तुरन्त ही उन्होंने वायसराय व उनकी कार्यपालिका-परिषद् से मन्त्रणा की। इसके पश्चात् उन्होंने भारतीय दलों के नेताओं से वार्ता शुरू की और यह प्रभाव उत्पन्न किया के वे अन्तिम निर्णय करने के लिए कुछ निश्चित प्रस्ताव और सत्ता लाए हैं।

प्रस्ताव (क) **भविष्य के सम्बन्ध में**—क्रिप्स मिशन के उन प्रस्तावों को, जिनके आधार पर वातचीत आगे बढ़ी, दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग युद्ध के पश्चात् की परिस्थितियों से सम्बन्ध रखता था। उसमें निम्न योजनाएँ थीं—(१) एक नए भारतीय संघ की स्थापना जिसे उपनिवेश का पूर्ण पद प्राप्त होगा और चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकेगा। (२) युद्ध समाप्त होने के तुरन्त

बाद एक संविधान सभा की स्थापना जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रजवाड़े दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। (३) इस प्रयोजन के लिए प्रान्तीय विधानमण्डलों के निम्न सदनों के सम्पूर्ण सदस्य एक निर्वाचक-मण्डल की हैसियत से बैठेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर विधान निर्मात्री संस्था का चुनाव करेंगे। निर्वाचक मण्डल में जितने व्यक्ति होंगे, उसकी दशांश संख्या इस विधान निर्मात्री संस्था में होगी। जहाँ तक राज्यों का सम्बन्ध है वे अपनी जन-संख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। (४) ब्रिटिश सरकार ने इस संस्था द्वारा तैयार किए गए संविधान को स्वीकार करके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व केवल उसी हालत में लेने का निश्चय किया, जब कि निम्न शर्तें भी पूरी होती हों—(क) "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए संविधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहे।" यदि किसी प्रान्त की विधानसभा ६० प्रतिशत बहुमत से संघ में रहने का निश्चय नहीं करती, तो उसकी संघ में प्रविष्टि का अन्तिम निर्णय जन-निर्णय के द्वारा हो सकेगा। नए संविधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को सम्राट् की सरकार नया संविधान देने के लिए तैयार होगी और (ख) सम्राट् की सरकार व विधान निर्मात्री संस्था के बीच एक संधि होगी।

(ख) **वर्तमान के सम्बन्ध में**—जहाँ तक संक्रान्तिकाल का सम्बन्ध है ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा "अपने विश्वयुद्ध प्रयत्नों के एक अंग के रूप में अपने हाथ में रखेगी। परन्तु प्रमुख भारतीय दलों के नेताओं को अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा मित्र-राष्ट्रों के सलाह-मशविरे में तुरन्त और प्रभावोत्पादक ढंग से भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाएगा।

क्रिप्स-प्रस्ताव समस्त भारतीय दलों द्वारा अस्वीकृत—एक ओर तो क्रिप्स और दूसरी ओर भारतीय दलों के नेताओं के बीच जो-जो विचार-विमर्श हुआ, उसके फलस्वरूप क्रिप्स-प्रस्ताव को भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने अस्वीकार कर दिया। हिन्दू महासभा ने पृष्ठ द्वार से पाकिस्तान स्थापित करने की कुशल चेष्टा और भारत के समनुचिन्तित बलकानिस्तान का विरोध किया। सिक्ख पाकिस्तान की स्थापना के घोर विरोधी थे और उन्होंने कह दिया कि हम अखिल भारतीय संघ से पंजाब के पृथक्करण का समस्त संभव उपायों से प्रतिरोध करेंगे। उदारवादियों तक ने दीर्घ सूत्री प्रस्तावों को यह कहकर कि वे 'आत्म-निर्णय के उपहास' हैं अस्वीकार कर दिया।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस ऐसे प्रत्येक प्रस्ताव के विरुद्ध थी जिसका लक्ष्य भारत को खण्डित करना हो चाहे विवेक के आधार पर और चाहे भावना के आधार पर। क्रिप्स योजना का उद्देश्य "अनिश्चित संख्या के विभाजनों की सम्भावना के द्वार

वाजे खोल देना था।"[1] ५६२ देशी रजवाड़ों को भारत संघ में सम्मिलित न होने का जो अधिकार परोक्षतः दे दिया गया था कांग्रेस ने उसका तीव्र विरोध किया। यह बात स्पष्ट थी कि राज्य नए संविधान के निर्माण में प्रतिगामी तत्वों का-सा काम करते लेकिन इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि वे संविधान की रचना के पश्चात् भारतीय अल्स्टर नहीं हो जाएँगे। स्पष्ट है कि जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद "इन गढ़ों में अपना अड्डा जमाए रखता, भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकता था।"[2]

संक्रान्तिकालीन प्रस्तावों के ऊपर वार्ता भंग——यद्यपि कांग्रेस का आदर्श सम्पूर्ण भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करना था और उसने क्रिप्स प्रस्ताव द्वारा पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन दिए जाने का विरोध किया लेकिन फिर भी वह 'किसी भी प्रादेशिक इकाई को, उसकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए विवश करने की भाषा में नहीं सोच सकती थी।' इस प्रकार सम्भव था कि कांग्रेस दीर्घसूत्री प्रस्तावों के ऊपर अपनी स्वीकृति दे देती। इनके ऊपर वार्ता भंग नहीं हुई, लेकिन तात्कालिक वर्तमान के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव थे, उनके ऊपर समझौते की बात-चीत टूट गई। ये प्रस्ताव ब्रिटिश नेकनीयती की कसौटी थे। यहाँ दो अनुलंघनीय कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई। कांग्रेस प्रधान के साथ अपनी पहली भेंट के समय सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के साथ वायसराय का सम्बन्ध वैसा ही होगा जैसा कि सम्राट् का ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से होता है। लेकिन बाद में क्रिप्स अपनी इस बात से हट गए और उन्होंने कहा कि ऐसा सुदूर-व्यापी वैधानिक परिवर्तन असम्भव है और वायसराय की निरंकुश शक्तियाँ ज्यों-की-त्यों कायम रहेंगी। इससे एक नई समस्या पैदा हो गई और समझौता असम्भव हो गया। दूसरी कठिनाई प्रतिरक्षा से सम्बन्ध रखती थी। कांग्रेस की मांग थी कि "उस आक्रमण को देखते हुए जो हमारे सिर पर लटक रहा है, प्रतिरक्षा के ऊपर भारत का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए। यही वह कसौटी है, जिससे हम परख करते हैं।" लेकिन ब्रिटिश सरकार वायसराय की कार्यपालिका-परिषद् में केवल एक भारतीय सदस्य को रखने के लिए तैयार थी, जिसके अधीन जन-सम्पर्क विभाग, सैन्य विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण, पैट्रोल का नियन्त्रण, सैनिकों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था और कैण्टीन-संगठन आदि विषय होते। इन दोनों कठिनाइयों ने भारत की जनता का विश्वास करने और उसे सच्ची सत्ता हस्तान्तरित करने की ब्रिटिश सरकार की अनिच्छा स्पष्ट कर दिया।

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"दी डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ३८५।
२. एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड—"सब्जेक्ट इण्डिया", पृ० ६७।

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण—मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स-प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने अपनी अस्वीकृति की घोषणा कांग्रेस के निर्णय की प्रतीक्षा करने के बाद की। कहा जाता है कि मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग की स्वीकृति के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया था। परन्तु जब कांग्रेस ने क्रिप्स-योजना को अस्वीकार कर दिया, तब उन्होंने उसे फाड़ डाला। अपने प्रस्ताव में मुस्लिम लीग ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि मुसलमानों के पृथक्करण के दावे को मान्यता दे दी गई है, लेकिन सम्पूर्ण क्रिप्स-योजना को उसकी जकड़बन्दी के कारण अस्वीकार कर दिया। लीग ने इस बात पर बल दिया कि ऐसे किसी जन-निर्णय में जिसका उद्देश्य यह तय करना हो कि कोई प्रान्त भारतीय संघ में रहे या उसमे चला जाए, केवल मुसलमानों को ही वोट देने का अधिकार होना चाहिए। इस तरह से क्रिप्स अभिनय समाप्त हो गया। राष्ट्रवादियों की दृष्टि में समस्त घटनाचक्र नाटकीय प्रदर्शन-मात्र था जिसका अभिनय अमेरिकन आलोचकों को सन्तुष्ट करने के लिए किया गया था। क्रिप्स जिन प्रस्तावों को लाए, वे बड़े कठोर थे और उन्हें या तो पूरा-का-पूरा स्वीकार किया जा सकता था अथवा पूरा-का-पूरा अस्वीकार। इस प्रकार समझौते की गुंजायश शुरू से ही नहीं रही थी। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में,"उसमें प्रत्येक दल को खुश करने वाली बातें थीं। कांग्रेस को प्रसन्न करने के लिए इन प्रस्तावों की पूर्व भूमिका में सर्वोपरि औपनिवेशिक स्वराज्य व संविधान-सभा का उल्लेख था जिसे प्रारम्भ में ही ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाने की घोषणा कर देने का अधिकार दिया गया था। मुस्लिम लीग के लिए सबसे बड़ी बात यह थी कि किसी भी प्रान्त को भारतीय संघ से अलग हो जाने का हक था। नरेशों को न केवल इस बात की आजादी थी कि वे चाहें तो इस संघ में शामिल हों या न हों बल्कि संविधान सभा में रियासतों के प्रतिनिधि भेजने का एक मात्र अधिकार भी उन्हें ही दिया गया था। उसमें सत्ता हस्तान्तरित करने का इरादा बिलकुल नहीं था।"

१००. 'भारत छोड़ो' आन्दोलन

निपट निराशा और व्यग्रता का वातावरण—जिस ढंग से क्रिप्स वार्ता एकाएकी भंग हुई और क्रिप्स को वापस बुलाया गया तथा इस विषय में जो वाद-विवाद ब्रिटिश संसद में हुआ इन सबने इस विचार को मजबूत कर दिया कि यह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एक राजनीतिक धूर्तता-मात्र थी जिसका उद्देश्य विश्व-लोकमत की आंखों में धूल झोंकना और पूर्व अनुमानित असफलता का भार भारतीय जनता के ऊपर लाद देना था। स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा वास्तविक सत्ता को हस्तान्तरित करने का नहीं था। फलतः देश निराशा, निःसम्बलता और व्यग्रता के गर्त में डूब

गया। यह राष्ट्र के लिए बहुत ही असन्तोषकर अवस्था थी क्योंकि पूर्व की ओर से आसन्न आक्रमण का भय था। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"जनता की निपट निराशा को साहस और प्रतिरोध की भावना में बदलना आवश्यक था। यद्यपि इस प्रतिरोध का श्रीगणेश ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारी आदेशों के विरुद्ध होता लेकिन उसे आक्रमणकारी के विरोध में भी परिवर्तित किया जा सकता था। निराशा और दासता दूसरे की ओर भी इसी दृष्टिकोण को और इसी प्रकार की दीनता और तुच्छता को उत्पन्न करती।[1] अप्रैल, १९४२ के बीच में महात्मा गांधी ने उग्रतापूर्वक सोचना शुरू कर दिया। 'भारत छोड़ो' विचार उनके मस्तिष्क में जमने लगा और उन्होंने उसे 'हरिजन' में एक लेखमाला लिखकर विकसित किया।

'भारत छोड़ो' नारा—वे इस निष्कर्ष पर आ गए थे कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है।" केवल स्वतन्त्र भारत में ही आक्रमणकारी का विरोध करने की नैतिक शक्ति हो सकती थी। ९ जून, १९४२ को लुई फिशर से उन्होंने एक भेंट में कहा था, "अंग्रेजों के यहां से चले जाने और न चले जाने के बीच का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि प्रत्येक अंग्रेज अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर हट जाए।" वे इस बात के लिए भी तैयार थे कि ब्रिटिश सेनाएँ स्वतन्त्र भारत की सरकार के साथ एक संधि करके यहाँ ठहरी रहें। लेकिन उन्होंने जिस बात पर बल दिया, वह यह थी कि अंग्रेज भारतीय जनता के हाथ में सत्ता हस्तान्तरित कर दें। चूंकि अंग्रेजों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भारत छोड़कर चले जायेंगे, इसलिए कुछ न कुछ कार्यवाही करनी आवश्यक थी। अब और निष्क्रियता असह्य थी। ब्रिटिश सरकार के प्रति सक्रिय प्रतिरोध सरकार के युद्ध-प्रयत्न के रास्ते में आना आवश्यक था। फिर भी यह निष्क्रियता की तुलना में श्रेयस्कर था।

कांग्रेस महासमिति द्वारा पास किया गया 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव—८ अगस्त १९४२—८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस महासमिति ने बम्बई में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में भारत की स्वतंत्रता की तत्काल स्वीकृति और ब्रिटिश शासन के अन्त की माँग की गई थी। प्रस्ताव में कहा गया था कि "ब्रिटिश शासन का स्थायित्व भारत की प्रतिष्ठा को घटाता और उसे दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व स्वातंत्र्य के आदर्श की पूर्ति में सहयोग देने की उसकी शक्ति में क्रमिक ह्रास उत्पन्न करता है·······—स्वतन्त्रता भारत को अपनी जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर आक्रमण का कारगर ढंग से विरोध करने मे

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"दी डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ३३९।

समर्थ बना देगी।" प्रस्ताव ने एक अस्थायी सरकार के निर्माण का सुझाव दिया "जिसका प्रथम कर्तव्य अपनी समस्त सशस्त्र तथा अहिंसात्मक शक्तियों द्वारा मित्र-राष्ट्रों से मिलकर भारत की रक्षा करना" होगा। अस्थायी सरकार जनता के समस्त वर्गों के लिए स्वीकार्य संविधान की रचना करने के लिए एक विधान-निर्मात्री परिषद की योजना बनाएगी। यह संविधान संघीय होगा और जिसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित होने वाले समस्त एककों को अधिकतम स्वायत्तता प्राप्त होगी। अवशिष्ट शक्तियाँ भी इन एककों में निहित होंगी। अन्त में प्रस्ताव ने यह स्वीकृति दी कि यदि ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता की माँग को अस्वीकार न करे तो अहिंसात्मक प्रणाली से अधिक से अधिक विस्तृत परिमाण पर एक ऐसा आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय जो अन्त में "भारत की स्वतन्त्रता और मुक्ति पर जाकर समाप्त हो।"

१९४२ की क्रान्ति—कांग्रेस महासमिति में दिए गए अपने भाषण में महात्मा गांधी ने घोषणा की कि यह संघर्ष 'करो या मरो' संघर्ष होगा। लेकिन यह लड़ाई खुली और अहिंसक लड़ाई होगी, उसमें गुप्त कुछ भी नहीं होगा। महात्मा गांधी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व वायसराय से मिलेंगे और मुख्य मित्र-राष्ट्रों से अपील करेंगे। लेकिन सरकार ने उन्हें इसके लिए समय नहीं दिया। सरकार की दमन करने की सारी योजनाएँ तैयार थीं और उसने कांग्रेस के ऊपर 'विद्युत' आक्रमण कर दिया। ९ अगस्त को प्रातः महात्मा गांधी और कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया और चोटी के नेताओं की चारों ओर धर-पकड़ शुरू हो गई।

जन-हिंसा और नौकरशाही दमन-चक्र—बस, यह जन-विद्रोह का संकेत-चिह्न था। राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी से कुछ जनता अपना समस्त सन्तुलन खो बैठी। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है कि तीन वर्ष तक भारतवर्ष नरक बना रहा। चोटी के कांग्रेसी नेताओं की अनुपस्थिति में अहिंसक आन्दोलन असम्भव था। सब प्रकार के तत्त्व आन्दोलन में कूद पड़े और जनता लूट-मार और तोड़-फोड़ के विध्वंसात्मक कार्यों में संलग्न हो गई। पंजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त को छोड़कर १९४२ की जन-क्रान्ति सारे भारत में तेजी से फैल गई। २०० डाकघरों, २५० रेलवे स्टेशनों और १५० थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। ३१ सिपाही मार डाले गए। बिहार में कई सप्ताह तक रेल यातायात बन्द रहा। श्रमिकों ने भी हड़तालें कीं। टाटा की लोहे की फैक्टरी के सब मजदूर १३ दिन तक हड़ताल पर डटे रहे। सतारा और मिदनापुर जैसे कतिपय स्थानों में समानान्तर राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना की गई। सरकार ने अपनी ओर से आन्दोलन का नृशंसतापूर्वक दमन करने में कुछ उठा न रखा। जगह जगह लाठी-चार्ज हुए और ब्रेनगनों से गोलियाँ चलाई गईं। पांच

स्थानों पर हवाई जहाज से भीड़ पर गोली-वर्षा की गई। सरकारी आंकड़ों के अनुसार ६५८ व्यक्ति मारे गए लेकिन इस संख्या में वे मृतक सम्मिलित नहीं, जिन्हें भीड़ हटाकर ले गई थी। इस दमनचक्र ने खुले विद्रोह को तो दबा दिया लेकिन भूमिगत आन्दोलन कई महीनों तक चलता रहा और जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया तथा अरुणा आसफअली तुल्य समाजवादी नेताओं ने उसका मार्ग-दर्शन किया।

महात्मा गांधी का उपवास (फरवरी, १९४३) और उनकी कारावास से मुक्ति (मई, १९४४)—महात्मा गांधी ने आगाखाँ किले से, जहाँ उन्हें गिरफ्तार करके रखा गया था, जनता के पागलपन और सरकार की पाशविकता को आहत हृदय से देखा। १९४३ की अंतिम तिथि को उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा और उसमें इस आक्षेप को स्वीकार किया कि कांग्रेस हिंसा के विस्फोट के लिए उत्तरदायी है। पत्र में उन्होंने समझौते की बातचीत करने का भी प्रस्ताव उपस्थित किया। लेकिन वायसराय ने जो कुछ हो चुका था, उस सबके लिए उन्हें और कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराया। पत्र-व्यवहार का कोई फल नहीं निकला। महात्मा गांधी इस स्थिति को सहन नहीं कर सके। उन्होंने १० फरवरी, १९४३ को २१ दिन का उपवास प्रारम्भ कर दिया। उनकी वृद्धावस्था और दुर्बल स्वास्थ्य को देखते हुए उनके उपवास ने जनता को अपार चिन्ता में डाल दिया। लेकिन उनका उपवास सकुशल समाप्त हो गया जो कि डाक्टरों की राय में चमत्कार से कम नहीं था। आगे के बारह महीनों में उनके विश्वस्त मन्त्री महादेव देसाई और पतिव्रता स्त्री कस्तूर बा का देहान्त हो गया। अप्रैल, १९४४ में वह ज्यादा बीमार हो गए और सरकार ने उन्हें ६ मई, १९४४ को कारावास से मुक्त कर दिया।

१०१. वैविल-योजना और शिमला-सम्मेलन (जून-जुलाई, १९४५)

अक्तूबर, १९४३ में लार्ड लिलिथगो का कार्यकाल समाप्त हो गया और लार्ड वैविल भारतवर्ष के वायसराय हुए। अपनी नियुक्ति के कुछ समय बाद उन्होंने घोषणा की कि "मैं अपने थैले में बहुत-सी चीजें ला रहा हूं।" लार्ड वैविल ने इस बात का भी अस्पष्ट संकेत दिया कि वह अपने साथ भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान लेकर आ रहे हैं। लेकिन उन्होंने अपने थैले को १४ जून, १९४५ तक नहीं खोला। इसके पूर्व उन्होंने इंगलैण्ड की यात्रा की और सम्राट् की सरकार से सलाह—मशविरा किया।

नई योजना की पृष्ठिभूमि—अब वायसराय के थैले से एक नयी योजना निकली। इस योजना का, जिसे भारतीयों ने बाद में एक और धूर्तता कहकर तिरस्कृत कर दिया, परीक्षण करने के पूर्व उन परिस्थितियों की ओर ध्यान देना

आवश्यक है जो उसकी पृष्ठभूमि में थी। यूरोप में लड़ाई समाप्त हो गई थी और मित्र-राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई थी। इंगलैण्ड का लोकमत श्रमिक दल की ओर झुकता जा रहा था। श्रमिक दल भारत के सम्बन्ध में एक नयी नीति का प्रतिपादन कर रहा था, उसका कथन था कि भारत को स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए। चर्चिल की अनुदार दलीय सरकार इस घटनाचक्र को बेचैनी से देख रही थी। ११ नवम्बर, १९४२ को जिस चर्चिल ने कहा था "मैं सम्राट् का प्रथम मन्त्री ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए नहीं बना।" वे बदल नहीं गए थे। हिंसक पशु कभी एकादशी का व्रत नहीं करता। लेकिन चर्चिल ठहरे राजनीति-अखाड़े के कुशल मल्ल! उन्होंने मतदाताओं की सहानुभूति श्रमिक दल की ओर से अपनी ओर करने के लिए एक निर्वाचन-चाल की आवश्यकता समझी। यही वैविल-योजना और शिमला-सम्मेलन की पृष्ठभूमि है।

योजना की शर्तें— १४ जून, १९४५ को लार्ड वैविल ने भारतीय जनता के नाम एक भाषण ब्राडकास्ट किया। उसमें उन्होंने अपनी जिस योजना की घोषणा की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी—(१) ब्रिटिश सरकार के राजनीतिक गतिरोध को दूर करना व उसे "स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना" चाहती है। (२) इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्यों की एक नई सूची तैयार की जाए जिसके सब सदस्य-वायसराय और प्रधान सेनापति को छोड़कर (जो युद्ध-मन्त्री बना रहेगा) भारत के राजनीतिक नेता हों। (३) वैदेशिक मामलों का विभाग (सीमान्त और कबायली मामलों को छोड़कर) परिषद् के भारतीय सदस्य के हाथ में होगा। (४) परिषद् में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की सख्या होगी।[1] (५) कार्यकारिणी परिषद् अन्तर्कालीन राष्ट्रीय सरकार के करीब होगी और गवर्नर जनरल "निषेधाधिकार का प्रयोग अकारण नहीं करेगा।" (६) गवर्नर जनरल की दोहरी स्थिति में उनके भारत सरकार के प्रधान और साथ ही ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधि होने के कारण, जो दुविधा उत्पन्न हो सकती है, उसे दूर करने के लिए अन्य उपनिवेशों के समान भारत में अंग्रेजी वाणिज्य तथा दूसरे हितों की रक्षा के लिए हाई कमिश्नर नियुक्त किया जाएगा। (७) इन प्रस्तावों से भारत के भावी स्थायी संविधान

१. यहाँ भोलाभाई-लियाकत अली पैक्ट की, जिस पर ११ जनवरी, १९४५ को हस्ताक्षर हुए, चर्चा करना आवश्यक है। इस पैक्ट में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समानता के आधार पर केन्द्र में एक अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था। यह सोचा गया था कि इस समझौते को महात्मा गांधी की स्वीकृति प्राप्त है।

था संविधानों के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उनकी रचना भारतीय अपने आप करेंगे।

योजना का कार्य-क्षेत्र—यह स्पष्ट है कि वैविल-योजना ने लम्बे समय से चली आती हुई भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या पर कोई हल पेश नहीं किया। उसका कार्य-क्षेत्र वर्तमान तक ही समिति था और उसके प्रस्ताव वही थे जो कि क्रिप्स-योजना के अल्पकालीन प्रस्ताव थे। क्रिप्स के दिनों में प्रश्न था—भारतीयों को कितनी शक्ति दी जाय ? इस बार यह प्रश्न न होकर भारतीयों के बीच शक्ति अलग-अलग दो भागों में बाँट देने का प्रश्न था। मुख्य समस्या नयी कार्यपालिका परिषद् की सदस्य संख्या की थी।

शिमला-सम्मेलन—वायसराय ने शिमला में २२ प्रतिनिधि भारतीयों का एक सम्मेलन[1] बुलाया। सम्मेलन २६ जून को आशामय वातावरण में प्रारम्भ हुआ। लेकिन "शीघ्र ही वह मतभेद जो सदैव पृष्ठभूमि में रहा था, फिर सम्मुख आ गया।"[2] कांग्रेस ने हिन्दू-मुस्लिम समानता की शर्त स्वीकार कर ली लेकिन मि० जिन्ना इस बात पर अड़ गए कि कार्यपालिका परिषद् के लिए मुस्लिम सदस्य मनोनीत करने का अधिकार केवल मुस्लिम लीग को मिलना चाहिए। कांग्रेस ने इस दावे का विरोध किया क्योंकि उसकी स्वीकृति का यह आशय होता कि कांग्रेस भी एक विशुद्ध हिन्दू संस्था है और उसका कोई राष्ट्रीय स्वरूप नहीं है। पंजाब के मुख्य मन्त्री मलिक खिज्र हयात खां ने भी मि० जिन्ना के दावे का विरोध किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कार्यपालिका परिषद् में पंजाब को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। लेकिन मि० जिन्ना किसी तरह समझौता करने के लिए राजी नहीं हुए।

मि० जिन्ना की हठधर्मी की चट्टान से टकराकर शिमला-सम्मेलन चूर-चूर हो गया। लार्ड वैविल ने १४ जुलाई को उसके भंग होने की घोषणा कर दी। इस प्रकार वैधानिक गतिरोध को दूर करने की एक और चेष्टा निष्फल हो गई। सफलता अथवा असफलता की कुंजी एक बार फिर मुस्लिम लीग के हाथों में दी गई थी। मि० जिन्ना ने वैविल-योजना का तिरस्कार किया और उसे एक 'जाल' बताया जिसको स्वीकार करने से पाकिस्तान की प्राप्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

---

१ शिमला-सम्मेलन में जो व्यक्ति आमन्त्रित किए गए थे, उनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के अलावा समस्त प्रान्तों के मुख्य मन्त्री और भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, भूलाभाई देसाई, लियाकत अली खाँ, बी० शिवराज और मास्टर तारासिंह भी शामिल थे।

२. पोलक—"महात्मा गांधी", पृ० २६०।

सारांश

सितम्बर, १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध का ज्वालामुखी फूट पड़ा और वायसराय ने केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान मण्डलों से परामर्श किए बिना ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है। कांग्रेस ने इस अलोकतन्त्रात्मक कार्यवाही का घोर विरोध किया। उसने ब्रिटिश सरकार से माँग की कि वह अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करे। चूँकि इंगलैण्ड कहने को स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहा था, इसलिए कांग्रेस ने इंगलैण्ड से माँग की कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे। कांग्रेस की दृष्टि में स्वतन्त्रता की घोषणा इसलिए आवश्यक थी ताकि भारत की जनता को उस लड़ाई के बारे में, जो उसकी अपनी थी, उत्साह उत्पन्न हो जाए।

सरकार ने इस माँग का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सम्राट्, भारत-मन्त्री और गवर्नर जनरल सबने वक्तव्य दिए लेकिन उनके वक्तव्यों में सब पुरानी बातें थीं और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नहीं की गई थी। फलतः आठों प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया।

अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किए गए तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने अगस्त प्रस्ताव (१९४०) की घोषणा कर दी। भारत को वचन दिया गया कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र उसे औपनिवेशिक पद दिया जाएगा और नए संविधान के निर्माण करने का उत्तरदायित्व भारतीयों के कन्धों पर होगा। जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध था, वायसराय की बढ़ी हुई कार्यपालिका परिषद् में कुछ प्रतिनिधि भारतीयों को सम्मिलित करने और एक युद्ध-सलाहकार-परिषद् की स्थापना करने की बात कही गई थी।

अगस्त प्रस्ताव से कांग्रेस को बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ और महात्मा गाँधी के अनुसार उसने इंगलैण्ड और भारत के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। वास्तव में यह जवाहरलाल नेहरू और सी॰ राजगोपालाचारी जैसे नेताओं की हलचलों के ऊपर, जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग चाहते थे, एक प्रतिघात था।

महात्मा गाँधी ने सीमित व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया जो केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। इसमें अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और केवल कुछ चुने हुए सत्याग्रहियों को सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई थी।

दिसम्बर, १९४१ में जापान लड़ाई में कूद पड़ा। इससे स्थिति पेचीदा बन गई। मित्र-राष्ट्रों को भारत का ऐच्छिक सहयोग नितान्त आवश्यक हो गया। अमेरिका के लोकमत ने इंगलैण्ड के ऊपर यह दबाव डाला कि वह भारत के साथ न्यायपूर्वक

व्यवहार करे। अमेरिकन लोकमत के दबाव में पड़कर ब्रिटिश सरकार ने भारत के वैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया। क्रिप्स-योजना ने युद्ध के पश्चात् भारत की स्वतन्त्रता का वचन दिया, लेकिन इसके साथ-ही-साथ पृष्ठ द्वार से पाकिस्तान की स्थापना करने की भी चेष्टा की। वर्तमान के सम्बन्ध में उसने कार्यकारिणी परिषद् के भारतीयकरण का प्रस्ताव किया। लेकिन नई परिषद् के साथ उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल का-सा व्यवहार नहीं किया जाने को था। इसके अलावा प्रतिरक्षा विभाग अंग्रेजों के ही हाथों में रहने को था। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने क्रिप्स-योजना को अस्वीकार कर दिया।

भारतवर्ष में लोगों की आम धारणा यह थी कि क्रिप्स-काण्ड जनता की आँखों में धूल झोंकने का एक प्रस्ताव-मात्र था। जिस ढंग से समझौते की बातचीत भंग हुई, उसने सारे देश में असन्तोष की एक लहर पैदा कर दी। ८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस महासमिति ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास कर दिया और महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसात्मक प्रणाली से आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। अगले दिन सुबह कांग्रेस महासमिति के सदस्य गिरफ्तार कर लिए गए और सारे देश में प्रमुख कांग्रेसी नेताओं की धर-पकड़ शुरू हो गई। इससे जनता उत्तेजित हो गई और वह अपना सन्तुलन खो बैठी। उसने कुछ हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। सरकार ने अपने दमन-चक्र को पूरे वेग से चलाया और खुले विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की। लेकिन भूमिगत आन्दोलन कई महीनों तक चलता रहा।

जून, १९४५ में जर्मनी के पराभव होने पर युद्ध समाप्त हो गया। इंगलैण्ड में अब साधारण निर्वाचन होने वाले थे और लोकमत का पलड़ा श्रमिक दल की ओर झुकता मालूम पड़ता था। ऐसी स्थिति में सरकार वैविल-योजना लेकर सामने आई। इस योजना के ऊपर भारतीय नेताओं के साथ शिमला-सम्मेलन में विचार-विनिमय किया गया। योजना में भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या के ऊपर कोई प्रकाश नहीं डाला गया था। इसमें मुख्यतः वर्तमान के ही सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव थे और वायसराय की कार्यपालिका परिषद् की पुनर्रचना की बात कही गई थी। योजना में कहा गया था कि वायसराय और प्रधान सेनापति को छोड़कर नई परिषद् के शेष सब सदस्य भारतीय होंगे, सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। शिमला-सम्मेलन बड़े आशामय वातावरण में प्रारम्भ हुआ था। लेकिन मि० जिन्ना की हठ-धर्मी के कारण असफलता के साथ समाप्त हो गया। मि० जिन्ना का कथन था कि कार्यपालिका परिषद् के मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार केवल मुस्लिम लीग को ही मिलना चाहिए। कांग्रेस इस दावे को स्वीकार नहीं कर सकी।

अध्याय १४

स्वतन्त्रता और विभाजन

१०२. पृथक्तावाद से पृथक्करण की ओर

मुस्लिम राजनीति में एक नया मोड़—१९३८ में मुस्लिम राजनीति के प्रवाह की दिशा में एक नया और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। हम देख चुके हैं कि मुस्लिम पृथक्तावाद किस प्रकार अंशतः देश की सामाजिक, आर्थिक दशाओं से लेकिन मुख्यतः आंग्ल-भारतीय नौकरशाही के प्रोत्साहन से प्रादुर्भूत होकर भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन की प्रगति में रोड़े अटका रहा था। १९३८ तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता की मांग पृथक् निर्वाचक मण्डलों, विधान मण्डलों में आरक्षित प्रतिनिधित्व और लोक-सेवाओं में संरक्षणों तक ही सीमित थी। मि० जिन्ना की चौदह शर्तें दस वर्ष तक राष्ट्रवादी दल से पृथक् रहने वाले मुसलमानों की महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती रहीं। ये मांगें राष्ट्रविरोधिनी होते हुए भी संयुक्त भारत की मान्यता पर आश्रित थीं। दूसरी गोलमेज परिषद् के अवसर पर मुस्लिम प्रतिनिधियों ने रहमत अली की पाकिस्तान सम्बन्धी योजना के बारे में कहा था कि यह तो खाली 'छात्रों की योजना' है और सर्वथा 'काल्पनिक तथा अव्यवहार्य' है। जब १९३५ का अधिनियम पास हुआ, मि० जिन्ना ने प्रस्तावित संघ को 'पूर्णतः अस्वीकार्य' बताया। लेकिन उनका आक्षेप यह नहीं था कि अधिनियम ने पृथक् मुस्लिम राज्य की मान्यता को स्वीकार नहीं किया, अपितु यह था कि उसने केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं की।

विभाजन की मांग—"१९३८ के जाड़े के पश्चात् मुसलमानों के मन में एक नया और विध्यात्मक सिद्धान्त आकार ग्रहण करने लगा।"[1] यह नया सिद्धान्त द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त था। मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन की मांग सामने रखी। अब भारतीय मुसलमान 'सम्प्रदाय' या अल्पसंख्यक वर्ग नहीं रहे, वे अनायास ही पूर्ण विकसित राष्ट्र बन गए जिसे दो खण्डों वाले पाकिस्तान के रूप में अपने लिए एक राष्ट्रीय गृहदेश की मांग करने का अधिकार प्राप्त था। मि० जिन्ना 'कायदे आजम' हो गए और संयुक्त भारत के आधार पर समझौते के सारे प्रयत्न उनकी हठ-धर्म की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो गए।

---

१. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट" पृ० १८८।

१०३. पाकिस्तान की माँग को जन्म देने वाले कारण

'मुस्लिम लीग की राजनीति की तर्कना में विद्यमान'—विभाजन की माँग का अभिप्राय भूतकाल से स्पष्टतः सम्बन्ध-विच्छेद था। लेकिन यह ठीक ही कहा गया है कि पाकिस्तान पृथक्तावाद की नीति का स्वाभाविक निष्कर्ष था। "मुस्लिम लीग ने अपने भवन को रक्षा-कवचों की बढ़ती हुई खुराकों तथा अन्य बहुत-सी तरकीबों द्वारा उत्तेजित की गई पृथक्तावादी भावना की नींव पर खड़ा किया था।"[१] रक्षा-कवचों द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता था, १९३७ तक वह सब प्राप्त कर लिया गया था। मुस्लिम लीग एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी, उसके ऊपर मुस्लिम नरेशों, जमींदारों, उद्योगपतियों तथा अन्य दूसरे प्रतिगामी तत्त्वों का नियन्त्रण था। उसके पास सामाजिक और आर्थिक सुधार का कोई कार्यक्रम नहीं था फिर वह मुस्लिम जनता को किस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करती? उसके ऊपर किस प्रकार अपना प्रभाव जमाती? स्पष्ट है कि एक नए नारे की आवश्यकता थी। "पृथक् मत, पृथक् निर्वाचन-मण्डल, पृथक् प्रान्त, स्टेट्यूटरी रक्षा-कवच सबकी माँग की जा चुकी थी और पूरी हो चुकी थी। अगला तर्क-सम्मत कदम'''पृथक् राज्यों की माँग करना था। यह मुस्लिम लीग की राजनीति की तर्कना में विद्यमान था।"[२] पाकिस्तान की माँग चाहे तार्किक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण, भौगोलिक दृष्टि से दुर्बल, आर्थिक दृष्टि से विनाशकर और अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या के समाधान के रूप में सर्वथा अस्वीकार्य ही क्यों न रही हो, परन्तु वह हिन्दू-मुस्लिम तनाव को अवश्य ही प्रचण्ड रख सकती थी और मुस्लिम जनता को लीग के भण्डे के नीचे एकत्र करने में समर्थ थी।

कांग्रेस और संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न—यह सही है कि पृथक्तावाद का 'तर्क' मुस्लिम लीग को पाकिस्तान के लक्ष्य की ओर खींच रहा था, लेकिन हमें यह भी न भूलना चाहिए कि कतिपय अन्यान्य कारणों ने इस प्रक्रिया की गति तीव्र कर दी। इन कारणों में से एक कारण १९३५ के अधिनियम के अधीन कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तों में लीग और कांग्रेस के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न था। ऐसा मालूम पड़ता है कि १९३७ के निर्वाचन के पूर्व कांग्रेस लीग सहयोग के बारे में कुछ अस्पष्ट सा समझौता था। मि० जिन्ना ने स्वतन्त्र दलों के बीच जेन्य सहयोग के आधार पर कांग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने की इच्छा व्यक्त की थी। उन्होंने लिखा था—"वस्तुतः इस समय कांग्रेस और लीग में किसी प्रकार का

१. मेहता और पटवर्धन—"दी कम्युनल ट्रायंगल", पृ० ११६।
२. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० ११६।

कोई सारभूत अन्तर नहीं है'''हम कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में सदैव सहर्ष सहयोग देंगे।"[1] लीग "विश्वासपूर्वक यह आशा करती थी कि उसमें कांग्रेस के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए कहा जाएगा।"[2] कांग्रेस के पास से आशानुरूप आमन्त्रण आया। लेकिन कांग्रेस ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए लीग के सामने (यू० पी०) में कुछ शर्तें रखीं। वे शर्तें निम्नलिखित थीं, (१) "मुस्लिम लीग गुट''' एक पृथक् गुट की तरह काम करना बन्द कर देगा, (२) संयुक्त-प्रान्त की विधान सभा में मुस्लिम लीग के जो वर्तमान सदस्य हैं, वह कांग्रेस दल के भाग हो जाएँगे और''' उन्हें कांग्रेस दल का नियन्त्रण व अनुशासन मानना होगा, (३) संयुक्त प्रान्त का मुस्लिम लीग संसद निकाय भंग कर दिया जाएगा और भविष्य में इस निकाय द्वारा किसी भी उप-निर्वाचन में सदस्य खड़े नहीं किए जाएँगे।"[3] वैधानिक दृष्टि से और साधारण संसदीय मापदण्डों द्वारा कांग्रेस की कार्यवाही का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था।[4] चूँकि कांग्रेस के पास बहुमत काफी था, अतः वह मुस्लिम लीगियों को अपनी शर्तों के अलावा अन्य किन्हीं शर्तों पर लेने पर बाध्य नहीं थी। कांग्रेस का विश्वास था कि उसकी शर्तें मन्त्रिमण्डलों के अनुशासन की दृष्टि से आवश्यक थीं। इनके द्वारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर काम कर सकते थे। लेकिन कांग्रेस के आलोचकों ने उसे 'विजयोन्मत्त' बताया। मुस्लिम लीग ने इन शर्तों पर, जिनका अभिप्राय उसका विघटन और कांग्रेस में विलीनीकरण था, सहयोग देने से इनकार कर दिया।

यह सदिग्ध है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच ऐक्य सहयोग किसी प्रकार व्यावहारिक था। तथापि, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मन्त्रिमण्डल में हिस्सा न मिलने से मुस्लिम लीग अत्यन्त असन्तुष्ट हुई। कूपलैण्ड के अनुसार यह मि० जिन्ना का 'प्रत्यक्ष तिरस्कार, था।"[5] उन्होंने कहा—"मुसलमान कांग्रेस सरकार की अधीनता में न तो न्याय की ही और न सबके साथ समान व्यवहार की ही आशा कर सकता है।" किसी समय उन्हें हिन्दू-मुस्लिम-एकता का दूत कहा गया था, अब वह कायदे-आजम, 'साम्प्रदायिक अहंकार और कलह के प्रतीक' हो गए। उन्होंने कांग्रेस की कठोर-से-कठोर आलोचना शुरू कर दी, उसे फासिस्ट हिन्दू संस्था बताया और कहा

१. सय्यीद—"जिन्ना", पृ० ५५६।
२. साइमण्ड्स—"दी मेकिंग आफ पाकिस्तान", पृ० ५३।
३. दी हिन्दुस्तान टाइम्स—३० जुलाई, १९३७।
४. साइमण्ड्स—वही, पृ० ५४।
५. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० १८३।

कि वह 'देश के अन्य दलों, विशेषकर मुस्लिम लीग को कुचलने पर तुली हुई है।' भारतीय इतिहास के एक युग-विधायक अवसर पर समन्वयमूलक रुख ग्रहण करने में कांग्रेस की असफलता का उल्लेख करते हुए साइमण्डस ने लिखा है, "पाकिस्तान के निर्माण में इससे अधिक और किसी एक घटना ने सहायता नहीं दी।" यह कथन स्पष्टत: अतिशयोक्ति है, फिर भी इसमें सत्य का थोड़ा अंश अवश्य है।

कांग्रेस का जनसम्पर्क आन्दोलन—जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में प्रारम्भ किए गए कांग्रेस के जन-सम्पर्क आन्दोलन ने भी मुस्लिम लीग को विद्रोही बना दिया। कांग्रेस ने इस बात पर बल दिया कि देश के सामने असली समस्या साम्प्रदायिक नहीं अपितु आर्थिक है और मुस्लिम जनता को अपने साथ मिलाने की कोशिश की। कुछ समय तक यह आन्दोलन जोरों से चला और कांग्रेस में मुस्लिम सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। लेकिन शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हो गई। मुस्लिम लीग ने इस आन्दोलन को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती समझा। मि० जिन्ना के अनुसार इस आन्दोलन का लक्ष्य मुसलमानों में फूट डालना, उन्हें दुर्बल करना और उन्हें अपने विश्वसनीय नेताओं से पृथक् करना था। लीग के पास कोई आर्थिक कार्यक्रम तो था नहीं, फलत: उसने 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलन्द किया और 'तर्कहीन अपील की टेकनीक' का आश्रय लिया।[1] उसने कांग्रेस के विरुद्ध जी खोलकर प्रचार किया, उसे प्रत्यक्ष सिद्ध हिन्दू तानाशाही बताया जिसकी अधीनता में मुसलमानों की स्थिति गुलामों से भी बदतर हो गई थी। मुस्लिम लीग इस तथ्य को जानबूझकर भूल गई कि कांग्रेसी प्रान्तों के कुल ३५ मन्त्रियों में से ६ मन्त्री मुसलमान थे और ५ मन्त्री दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधि थे।

हिन्दुओं के 'अत्याचार' का ढिंढोरा—मुस्लिम जनता के बीच उद्वेग की एक लहर व्याप्त हो जाए, इस आशय से मुस्लिम लीग ने हिन्दुओं के 'अत्याचार' का अपनी पूरी शक्ति के साथ ढिंढोरा पीटा। कांग्रेस को पद ग्रहण किए हुए मुश्किल से आठ महीने बीते होंगे कि मार्च, १९३८ में मुस्लिम लीग ने पीरपुर के राजा साहब की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसका उद्देश्य मुसलमानों, विशेषकर लीग के कार्यकर्त्ताओं के साथ किए गए दमन और अत्याचार की शिकायतों की जांच करना था। १५ नवम्बर, १९३८ को समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में समिति ने मुसलमानों के कष्टों की एक लम्बी सूची दी और निष्कर्ष निकाला, "बहुमत के अत्याचार से बढ़कर और कोई अत्याचार नहीं हो सकता।" कांग्रेस ने प्रस्ताव किया कि अभियोगों की निष्पक्ष जांच कराई जाए लेकिन लीग ने वायसराय से अन्याय निवारण

१. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० १२०।

करवाना अधिक श्रेयस्कर समझा। यह नहीं मालूम कि वायसराय ने लीग द्वारा कांग्रेस पर लगाए गए अभियोगों के ऊपर कोई कार्यवाही की या नहीं। इस सम्बन्ध में सरकार का जो दृष्टिकोण था, उसे संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हेरी हेग ने अपने पद से अलग हो जाने के बाद प्रकट किया। उन्होंने "कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के विवेक और विचारपूर्ण नीति की प्रशंसा की।"[1] प्रो० कूपलैण्ड ने भी, जो कि कांग्रेस के किसी प्रकार हिमायती नहीं है, लिखा है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक अन्याय अथवा उत्पीड़न की नीति का बिलकुल आश्रय नहीं लिया था।"[2] मुस्लिम लीग का अपने निरर्थक अभियोगों की सचाई अथवा निष्पक्ष जाँच की आवश्यकता से कोई नाता नहीं था। उसने उत्पीड़न की गाथा को मुस्लिम जनता पर अपना प्रभाव जमाने और कांग्रेस को पराजित करने के लिए अत्यन्त उपादेयी पाया। दुर्भाग्यवश १९३७ और १९४७ के वर्षों में लीग की यह टेकनीक सफल हो गई। इस बीच मुस्लिम स्थानों के लिए जो ६१ उप-निर्वाचन हुए, उनमें लीग ने ४७ और कांग्रेस ने केवल १४ स्थान प्राप्त किए।

हिन्दू-साम्प्रदायिकता—पाकिस्तान की माँग के रूप में मुस्लिम पृथकतावाद की पराकाष्ठा के लिए कुछ अंशों में हिन्दू-महासभा जैसे कतिपय संगठन भी दोषी है। प्रारम्भिक चरणों में महासभा के नेता प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी थे और उनका मुख्य उद्देश्य कांग्रेस की शक्ति को बढ़ाना था। १९२४ में अपने अध्यक्षीय भाषण में पं० मालवीय ने कहा था, "यदि किसी हिन्दू ने कांग्रेस का विरोध किया, तो यह लज्जा की बात होगी।" लेकिन धीरे-धीरे कट्टरपंथी और प्रतिक्रियावादी तत्वों ने महासभा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १९३७ में वी० डी० सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र के अपने सिद्धान्त का प्रचार करना शुरू कर दिया। १९३९ में उन्होंने कहा, "भविष्य में हमारी राजनीति विशुद्धतः हिन्दू राजनीति होगी।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद मुस्लिम पृथकतावाद की प्रतिक्रिया था। उसने साम्प्रदायिक कलह की आग तो नहीं फूंकी, लेकिन उसकी ज्वालाओं को अवश्य ऊँचा रखा और मुसलमानों को पाकिस्तान की ओर बढ़ने से प्रेरित किया।

अंग्रेजों का हाथ—भारत के ब्रिटिश महाप्रभुओं ने साम्प्रदायिक विद्वेष की वृद्धि में सबसे अधिक योगदान दिया। उन्होंने भारत की इन दोनों जातियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा किया और इस अविश्वास को बढ़ाया। मेहता और

१ राजेन्द्रप्रसाद—"खण्डित भारत", पृ० ००५।
२ कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", १८५।

पटवर्धन के शब्दों में, "पाकिस्तान का विचार आंग्ल भारती नौकरशाही के लिए नया नहीं था।"[१] १६३६ में एडवर्ड थामसन ने बड़े विस्मय के साथ इस बात को नोट किया था कि "कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रति बड़े उत्साही थे।"[२] १६४० के पश्चात् जबकि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था, उसने ब्रिटिश सरकार से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन प्राप्त किया। अनुदार दल के भारत-मन्त्री मि० एमरी पाकिस्तान की माँग के प्रति सहानुभूति रखते हैं, ऐसा प्रख्यात था। अपने सार्वजनिक भाषणों में वह हिन्दू-मुसलमानों के मतभेदों का खूब जोर-शोर से उल्लेख किया करते थे। एक अवसर पर उन्होंने कहा था, "भारतीय स्वतन्त्रता के भावी आगार में कई भवनों के लिए स्थान है।" यह हम पहले देख ही चुके हैं कि क्रिप्स-प्रस्ताव ने विभाजन की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था। ब्रिटिश सरकार के प्रवक्ताओं ने बाद की समस्त उद्घोषणाओं में खण्डित भारत का निरूपण किया यद्यपि वे दिखाने को एकता के आदर्श के गीत गाते रहे।

१०४. द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त

सिद्धान्त का विवरण—मुसलमानों को पाकिस्तान की माँग और तथाकथित द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त का १६३७ और १६४० के बीच में विकास किया गया। मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में (१६४०) अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से वर्णन किया। उन्होंने कहा, "ये (हिन्दू धर्म और इस्लाम) शाब्दिक अर्थ में धर्म नहीं है प्रत्युत्तर ये दो पृथक् और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। हिन्दू और मुसलमान कभी एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में रह सकते हैं, यह कोरा स्वप्न है। हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक सिद्धान्त, सामाजिक रीति-रिवाज, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। उनका परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः दोनों की परस्पर विरोधी भावनाओं पर आधारित सभ्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं। जीवन पर दोनों भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। दोनों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक आधारों से प्रेरणा मिलती है। उनकी पुरातन गाथाएँ, उनके वीर और उन वीरों की कहानियाँ पृथक्-पृथक् है। प्रायः एक का वीर दूसरे का शत्रु माना गया है। और एक की विजय दूसरे की पराजय। ऐसे दो-दो राष्ट्रों को एक राज्य में गूँथने का प्रयत्न, जिसमें एक अल्पसंख्यक है, दूसरा बहुसंख्यक, अवश्य असन्तोष उत्पन्न करेगा और उस

१. मेहता और पटवर्धन—वही, पृ० ७८।
२. थामसन एनलिस्ट—"इण्डिया फार फ्रीडम", पृ० ५६।

शासन-व्यवस्था का अन्त करके छोड़ेगा, जो ऐसा राज्य चलाने का प्रयत्न करेगी।"[1]

इस सिद्धान्त ने उन सबको, जो भारत के दो पृथक्, एक हिन्दू और एक मुस्लिम, राज्यों के रूप में विभाजन के समर्थक थे, एक नया आधार दिया। अलीगढ़ के मुहम्मद अफजल हुसैन कादरी और प्रोफेसर जफरूल हसन ने यह दावा किया कि "भारत के मुसलमान स्वतः एक-राष्ट्र हैं। हिन्दुओं तथा अन्य गैर-मुसलमान दलों से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः सुडेटान जर्मन और चेकों में जितना पार्थक्य था, उससे कहीं अधिक पार्थक्य हिन्दुओं और मुसलमानों में है।"[2] अलहमजा ने कहा कि भारत एक देश नहीं है, उसमें कई देश हैं और इसलिए उसे कई राष्ट्रों में विभक्त समझना चाहिए।[3]

सिद्धान्त का आधार धर्म – इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त इस बात को लेकर चला था कि धर्म की भिन्नता ने हिन्दुओं और मुसलमानों का एक राष्ट्र के रूप में संगठित होना असंभव कर दिया है। यह धारणा सर्वथा निराधार थी। राष्ट्रीयता वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है, यह पारस्परिक एकानुभूति की भावना है। उस एकानुभूति की भावना को जन्म देने वाले कई तत्व हैं, धर्म तो उनमें से केवल एक है। भौगोलिक और प्रजातीय तत्व, सामान्य भाषा और संस्कृति, सामान्य इतिहास और परम्पराएं आदि तत्व भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि करते हैं। जहाँ तक भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्बन्ध है, उनमें से अधिकांश तत्व उपस्थित हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत सदैव ही एक प्रादेशिक इकाई रहा है। डा० बेनीप्रसाद ने ठीक ही कहा है, "संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं जिसे समुद्र और पहाड़ों के कारण भारत जैसा अखण्ड रूप प्राप्त हो।" भारतवर्ष में धार्मिक भेदों के कारण प्रजातीय और भाषा सम्बन्धी धारणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक मद्रासी मुसलमान का किसी पंजाबी मुसलमान की अपेक्षा मद्रासी हिन्दू से अधिक निकट सम्बन्ध होता है। बंगाल के हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते हैं और यह भाषा सिन्ध के हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा से पृथक् होती है। दोनों ही जातियों ने सामान्य भारतीय संस्कृति के विकास में सहयोग दिया है। यह मिली-जुली संस्कृति दोनों के सम्मिलित पुरुषार्थ का फल है। कविता और संगीत में, चित्रकला और शिल्पकला में, हिन्दू और मुस्लिम परम्पराओं का स्वच्छन्दतापूर्वक मिश्रण हुआ है। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच यदि कोई वास्तविक अन्तर है, तो वह है धर्म का। लेकिन यह साधारणतः

---

1. राजेन्द्रप्रसाद – "खण्डित भारत", पृ० १-२।
2. राजेन्द्रप्रसाद – "खण्डित भारत", पृ० २।
3. अलहमजा – "पाकिस्तान, ए नेशन", पृ० ३।

स्वीकार किया जाता है कि केवल धर्म ही राष्ट्रीयता का अनिवार्य आधार नहीं है; और फिर अधिकांश भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओं के वंशज है जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। क्या इसका यह आशय है कि धर्म बदल जाने से राष्ट्रीयता भी बदल जाती है?

सिद्धान्त की दुर्बलता—इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त एक राजनीतिक मूर्खता थी। लेकिन दुर्भाग्यवश राजनीति के क्षेत्र में वे राजनीतिज्ञ, जो प्रत्येक मूल्य पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कृतनिश्चय होते है, मूर्खताओं का अत्यन्त बुद्धिमता से उपयोग करते है। भारतवर्ष मे यही हुआ। भारतवर्ष में सांस्कृतिक समन्वय की साधना शताब्दियों से चली आ रही थी, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने उसमें बाधा पहुचाई और फिर उनके मित्रो सम्प्रदायवादियों ने उसके विकास का पथ अवरुद्ध किया। द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त, जो इस समन्वय-साधना की संभावना का ही निषेध करता था, साम्राज्यवादियों और सम्प्रदायवादियों की अभिसन्धि का नैसर्गिक निष्कर्ष था। राष्ट्रीयता मुख्य रूप से भावना का एक मामला है, मानस की एक स्थिति है, शताब्दियों के सामान्य जीवन द्वारा निर्मित सहयोग की एक अनुभूति है, उसे तर्कविहीन परन्तु अनवरत भावुक अपीलो द्वारा विभ्रष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष जैसे देश के बारे में, जहाँ की अशिक्षित जनता को चतुर और कृतसंकल्प प्रचार द्वारा सुगमतापूर्वक धोखे में डाला जा सकता है, यह विशेष रूप से सत्य है। मुस्लिम लीग के नेताओं ने मुस्लिम जनता की अशिक्षा और धार्मिक भावनाओं का पूरा लाभ उठाया और दुर्भाग्यवश उनमें एक पृथक् राष्ट्रवाद की चेतना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। कोई आश्चर्य नहीं कि पाकिस्तान के नारे ने अधिकांश मुस्लिम जनता का सोत्साह समर्थन प्राप्त किया।

राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग—पाकिस्तान के समर्थकों ने द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त के विरुद्ध एक शक्तिशाली तर्क की उपेक्षा की। यदि भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र है, तो फिर पाकिस्तान की स्थापना होने के पश्चात् उन मुसलमानों का क्या होगा, जो भारत में बच रहेगे? क्या वे भारत में विदेशियों की तरह रहेंगे? पाकिस्तान में अमुस्लिमों का क्या होगा? स्पष्ट है कि दोनों ही राज्यों में शक्तिशाली राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग शेष रहेगे? लेकिन डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में "राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग दोनों में परस्पर विरोध है।"[१]

राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय राज्य—मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए राष्ट्रीय गृह की अपनी माँग को राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पर आधारित किया।

१. राजेन्द्रप्रसाद—"खण्डित भारत", पृ० ४५।

जे०एस० मिल ने इस सिद्धान्त का निम्न शब्दों में निरूपण किया है, "जहाँ एक राष्ट्रीयता किसी भी मात्रा में विद्यमान हो, उस राष्ट्रीयता के सब सदस्यों को एक ही शासन की अधीनता में, जो स्वयं उनका ही एक भाग हो, संयुक्त करने के लिए प्राइमाफेसी केस है। प्रथम महायुद्ध के दौरान में यह सिद्धान्त बहुत प्रख्यात हो गया और राष्ट्रपति विल्सन की चौदह शर्तों की आधारशिला बना। युद्ध के पश्चात् यूरोप के मानचित्र की नए सिरे से रचना की गई और राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए कई नए राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ।

लेकिन अब कुछ समय से राजनीतिक विचारधारा का झुकाव 'एक राष्ट्र, एक राज्य' सिद्धान्त के विरुद्ध हो गया है क्योंकि यह अव्यावहारिक भी है और अवांछनीय भी। राष्ट्रीयता एक-दूसरे के साथ इतनी अधिक घुलमिल गई है कि वे सटे हुए प्रदेशों में निवास करती हुई कम पाई जाती है। समस्त विभिन्न जातीय राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्गों को निकालकर किसी एकजातीय राष्ट्रीय राज्य का सृजन करना असंभव है। चाहे कुछ भी हो, छोटे-छोटे प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य ऐटोमिक युग में अप्रचलित हो गए हैं। फलतः "आधुनिक विश्व की सबसे बड़ी आवश्यकता एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त का सृजन करना है जिसमें राज्य और राष्ट्र सहव्यापी न हों।" फ्रीडमान के अनुसार, "राष्ट्रीयता अब राज्य के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकती।" वस्तुतः रूस और स्विट्जरलैण्ड जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि एक संघीय राज्य की छत्रछाया में विभिन्न राष्ट्रीयताएँ शान्तिपूर्वक निवास कर सकती हैं और अपनी विशिष्ट संस्कृतियों का विकास तथा संधारण कर सकती है। लेकिन भारतवर्ष में मुस्लिम पृथक्तावादियों ने न तर्क की परवाह की और न इतिहास की। वे सर सय्यद अहमद खाँ के आदर्शों से, जिन्होंने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान भारतमाता की दो आँखें हैं, काफी आगे निकल गए थे। यह भी स्मरणीय है कि द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त ने हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं के क्रियाकलापों और उद्घोषणाओं से भी बहुत-कुछ प्रोत्साहन प्राप्त किया। १९३७ में वी० डी० सावरकर ने घोषणा की, "भारतवर्ष को एकात्मक और सजातीय राष्ट्र नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत भारतवर्ष में मुख्य रूप से दो राष्ट्र हैं—हिन्दू और मुसलमान।"[1] यह स्मरणीय है कि इसके एक ही वर्ष पश्चात् १९३८ में मुस्लिम लीग ने द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त को धर्मोत्साहपूर्वक उपस्थित किया।

---

१. हिन्दू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से दिया गया व्याख्यान।

१०५. पाकिस्तान के लिए आन्दोलन

पाकिस्तान का विचार—बहुधा कहा जाता है कि भारतीय मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य का विचार कविवर इकबाल के मस्तिष्क से उद्भूत हुआ। मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन (१९३०) में उन्होंने कहा था, "कम-से-कम पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानों का अन्तिम भाग्य मुझे एक दृढ़ पश्चिमोत्तर भारतीय मुस्लिम राज्य की रचना प्रतीत होता है।"[१] इस विचार का विरोध और उपहास तक हुआ, परन्तु उसने कैम्ब्रिज में पढ़ने वाले कतिपय युवक मुस्लिम छात्रों की कल्पना को उत्तेजित किया। उसका नेता रहमत अली था। उसने सबसे पहले १९३३ में भारतीय मुसलमानों को 'एक राष्ट्र' के नाम से सम्बोधित किया और प्रस्तावित नए राज्य 'पाकिस्तान' के लिए एक योजना तैयार की। रहमत अली के 'पाकिस्तान' में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, काश्मीर और बलूचिस्तान सम्मिलित करने का सुझाव था। उसकी योजना में बंगाल और आसाम को मिलाकर 'बंग-इ-इस्लाम' और हैदराबाद के राज्यक्षेत्र का 'उस्मानिस्तान' बनाने की भी चर्चा की गई थी। रहमत अली ने अपने विचार को लोकप्रिय बनाने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया और पाकिस्तान का समर्थन करने वाले पैम्फलेटों को ब्रिटिश संसद के सदस्यों तथा गोलमेज परिषद् में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों में बाँटा। तथापि उनकी योजना का कोई असर नहीं हुआ और जफरुल्ला खाँ ने संयुक्त संसद समिति के सामने भाषण देते हुए उसे 'काल्पनिक तथा अव्यावहारिक' बताकर अस्वीकार कर दिया।

मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लक्ष्य को अपनाती है—सच तो यह है कि १९३७ के पूर्व मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के विचार में कोई विशेष रुचि नहीं ली। निर्वाचन के पश्चात् जब लीग के नेताओं की संयुक्त मन्त्रिमण्डल की आशाएँ फलवती नहीं हुईं,

---

१. यह स्मरणीय है कि इकबाल ने केवल एक ऐसे स्वायत्त राज्य के सृजन की कल्पना की थी, जो भाषा-प्रजाति, इतिहास, धर्म और आर्थिक हितों की एकता के ऊपर आधारित हो। उन्होंने मुसलमानों के लिए किसी एक प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य अथवा राज्यों की माँग नहीं की थी। कूपलैण्ड के अनुसार वे सम्पूर्ण भारत का एक ऐसा शिथिल संघ चाहते थे जिसमें कि "केन्द्रीय संघीय सरकार केवल उन शक्तियों का उपभोग करती हो, जो कि उसके संघीय राज्यों की स्वतन्त्र सहमति द्वारा निहित की जाएँ।" थॉमस एडवर्ड के साथ एक भेंट में इकबाल ने अपना यह विचार व्यक्त किया था कि, "पाकिस्तान की योजना, ब्रिटिश सरकार, मुस्लिम जाति और हिन्दू जाति सबके लिए घातक होगी।"

तब उन्होंने 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलन्द किया और मुस्लिम जनता को पाकिस्तान का इन्द्रजाल दिखाकर अपनी स्थिति मजबूत करने की चेष्टा की। यह स्मर्त्तव्य है कि १९३७ के निर्वाचन में मुस्लिम लीग को करारी हार खानी पड़ी थी, विशेषकर मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में। उदाहरणार्थ, बंगाल में वह ११९ मुस्लिम स्थानों में से केवल ३९ पर ही अधिकार कर सकी थी। पंजाब में उसने ८६ स्थानों में से केवल १ को ही प्राप्त किया। १९३७ के पश्चात् मुस्लिम लीग की शक्ति बहुत तेजी से बढ़ी। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि १९३८ में सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए मि० जिन्ना ने भारत के विभाजन की माँग उपस्थित की। लेकिन यह माँग अभी प्रयोगात्मक थी और जनवरी, १९४० में मि० जिन्ना ने एक अंग्रेजी पत्र में लिखा, "भारत में दो राष्ट्र हैं और दोनों को अपनी मातृभूमि के शासन में सामान्य भाग मिलना चाहिए।"[१] कूपलैण्ड ने ठीक ही लिखा है, "भाग लेना पृथक्करण नहीं है और मि० जिन्ना ने अभी उस रेखा को पार नहीं किया था।"[२] लेकिन तीन महीने बाद ही उन्होंने पाकिस्तान का राग अलापना शुरू कर दिया। अपने लाहौर-अधिवेशन (मार्च, १९४०) में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में माँग की गई थी कि, "भारत के पश्चिमोत्तर और पूर्वी क्षेत्र जैसे मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को आपस में मिलाकर स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित किया जाना चाहिए। अपने अध्यक्षीय भाषण में मि० जिन्ना ने घोषणा की, "राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र है, अतः उनकी अपनी निवासभूमि, अपना प्रदेश और अपना राज्य होना चाहिए।" इस अधिवेशन के कुछ ही समय बाद मि० जिन्ना ने एसोसियेटेड प्रेस आफ अमेरिका को एक 'इण्टरव्यू' दिया और उसमें कहा कि पाकिस्तान एक लोकतन्त्रात्मक संघीय राज्य होगा जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध और पंजाब व पूर्व में बंगाल और आसाम सम्मिलित होंगे।

पाकिस्तान का विरोध—१९४० के पश्चात् 'पाकिस्तान' मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु हो गया। भारतीय मुसलमानों की वैध आकांक्षाओं को तुष्ट करने के उद्देश्य से व्यक्तियों तथा गुटों ने मुस्लिम लीग के सामने कई योजनाएँ रखीं, लेकिन वह पाकिस्तान की माँग पर अंगद के पैर की तरह जमी रही। पाकिस्तान की योजना का स्वयं मुसलमानों के बीच ही पर्याप्त विरोध हुआ। अखिल भारतीय स्वतन्त्र

१. टाइम एण्ड टाइड, १९ जनवरी, १९४०—कूपलैंड—"इण्डिया ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० १९१।

२. कूपलैंड—वही, पृ० १९१।

मुस्लिम सम्मेलन ने जिसका अधिवेशन खानबहादुर अल्लाबख्श की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ (अप्रैल, १९४०), पाकिस्तान की योजना की तीव्र आलोचना की और कहा कि यह योजना "मुसलमानों को एक 'पृथकत्व-निरोधायन' में पटक देगी।"[१] जमैयत-उल-उलेमा-ए हिन्द भी पाकिस्तान की माँग की कट्टर विरोधी थी। उसका कथन था, "राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय है।" मजलिस-ए-अहरार-ए-हिन्द, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के खुदाई खिदमतगार बलूचिस्तान के राष्ट्रवादी मुस्लिम, अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन और अखिल भारतीय शिया राजनीतिक सम्मेलन आदि दूसरी कई मुस्लिम संस्थाएँ पाकिस्तान के विरुद्ध थीं। जहाँ तक अ-मुस्लिमों का सम्बन्ध है, उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि वे अपनी मातृभूमि की एकता को खण्डित करने वाले प्रत्येक प्रयास का प्राणपण से विरोध करेंगे। पंजाब के सिख अपने छोटे लेकिन पौरुषमय सम्प्रदाय के भविष्य के ऊपर विभाजन के सम्भाव्य परिणामों के बारे में विशेष रूप से शंकित थे और उसका डटकर विरोध करने के लिए बद्धपरिकर थे।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस, निसर्गतः अखण्ड भारत के आदर्श की अनुगामिनी थी। जहाँ कांग्रेस ने स्वयं को मुस्लिम लीग की पाकिस्तान-योजना के एकदम विरुद्ध घोषित किया, वह अनिच्छुक जनता के ऊपर बलपूर्वक लादने के लिए तैयार नहीं थी और प्रादेशिक आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानती थी। लेकिन उसका कथन था कि आत्मनिर्णय का सिद्धान्त मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में निवास करने वाले सभी लोगों के ऊपर लागू होना चाहिए।

विरोध की असफलता—मुस्लिम लीग की माँग थी कि मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में आत्मनिर्णय का अधिकार केवल मुसलमानों को ही मिलना चाहिए। तथापि, पाकिस्तान का विरोध दो मुख्य कारणों से असफल सिद्ध हुआ। साम्प्रदायवादियों ने अशिक्षित और श्रद्धालु मुस्लिम जनता को हिन्दू तानाशाही का भय दिखाया और घृणाभाव का खुलकर प्रचार किया। भोलीभाली जनता उनकी बातों में आ गई। मुस्लिम लीग ने धार्मिक मदान्धता और भावुक उन्माद का जो तूफान खड़ा कर दिया। विवेक की आवाज उसमें निःशब्द हो गई। इसके साथ-ही-साथ ब्रिटिश अधिकारियों ने, जिन्होंने कि भारतवर्ष में जानबूझकर भेद-नीति से काम लिया, एकता बनाए रखने के सारे प्रयत्नों को निष्फल कर दिया। आंग्ल भारतीय नौकरशाही ने सि० जिन्ना को चंग पर चढ़ा दिया और उनके उस पृथक्तावादी संघर्ष को, जिसने कि भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को जटिल व साम्राज्यवादी प्रभुत्व को दीर्घ कर दिया, अद्भुत तटस्थता के साथ निहारा।

---

१. राजपूत द्वारा उद्धृत—"मुस्लिम लीग", पृ० ९५।

क्रिप्स-योजना और पाकिस्तान—पृथक्तावादियों के प्रति ब्रिटिश महानुभूति क्रिप्स-प्रस्तावों (अप्रैल, १६४२) में, जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, स्पष्ट रूप से व्यक्त होती थी। क्रिप्स-योजना में कहा गया था कि द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद, भारत का नया संविधान बनाने के लिए एक संविधान-सभा की रचना की जाएगी। यह मान लिया गया था कि, "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए संविधान को स्वीकार न करना चाहे, तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहे किन्तु साथ में यह व्यवस्था भी रहेगी कि यदि वह प्रान्त बाद में चाहे तो संविधान में सम्मिलित कर लिया जाए। नए संविधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को, यदि वे चाहें सम्राट् की सरकार नया संविधान देना स्वीकार करेगी और उनका पद भी पूर्ण रूप से भारतीय संघ के समान ही होगा।" स्पष्ट है कि योजना में पाकिस्तान की बात प्रकारान्तर से स्वीकार कर ली गई थी। कांग्रेस ने इस योजना को 'भारतीय एकता की मान्यता के ऊपर कठोर आघात' ठीक ही बताया। इस प्रकार, ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग के आन्दोलन के लिए हरी झण्डी दिखा दी और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच संयुक्त भारत के आधार पर समझौते के सब प्रयास निष्फल कर दिए। इस गतिरोध ने भयंकरता के विकट का रूप धारण कर लिया और मुस्लिम लीग की हठधर्मी के कारण उसके निवारण के समस्त प्रयत्न असफल हो गए।

राजगोपालाचारी का प्रस्ताव—१९४४ में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने गतिरोध को दूर करने की एक असफल चेष्टा की। उन्होंने एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसे महात्मा गांधी का समर्थन प्राप्त था यद्यपि बाद में कांग्रेस ने उसका विरोध किया। इस प्रस्ताव ने पाकिस्तान के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसमें निम्न बातें थीं—(१) मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता सम्बन्धी भारत की मांग को स्वीकार करेगी और संक्रमण-काल के लिए अस्थायी सरकार बनाने में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी। (२) युद्ध के पश्चात् एक कमीशन नियुक्त होगा, जो भारत के उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व की ऐसी सीमाएँ निश्चित करेगा जिनमें मुसलमान स्पष्टतः बहु-संख्यक हों। इन क्षेत्रों के समस्त निवासियों का लोक-निर्णय यह निश्चित करेगा कि उन्हें भारत से अलग होना चाहिए या नहीं। (३) पृथक्करण की स्थिति में प्रतिरक्षा, यातायात और दूसरे अनिवार्य प्रयोजनों के लिए समझौते किए जाएंगे। (४) ये शर्तें तभी लागू तथा स्वीकृत होंगी जब कि ब्रिटिश सरकार भारत को सच्चा उत्तरदायित्व तथा सम्पूर्ण सत्ता हस्तान्तरित कर दे।

मि० जिन्ना ने राजाजी की योजना को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने इस योजना द्वारा प्राप्त होने वाले 'लगड़े और हीनाग' पाकिस्तान का तिरस्कार

कर दिया और कहा कि मैं सिन्ध, पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, बंगाल और आसाम की अपनी माँग पर टस-से-मस नहीं होऊँगा। इसके अलावा वे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के अ-मुस्लिम निवासियों को अपने भाग्य-निर्णय में कोई आवाज देने के लिए तैयार नहीं थे।

१०६. कैबिनेट मिशन और उसके बाद

१९४६ के बसन्त से भारत के वैधानिक और साम्प्रदायिक गतिरोध के निर्णय का अन्तिम दौर प्रारम्भ हुआ। उस समय तक चर्चिल सरकार के स्थान पर एटली सरकार की स्थापना हो गई थी। भारतवर्ष में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए साधारण निर्वाचन हो चुका था और उससे महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रकट हुए थे। कांग्रेस ने केन्द्र और प्रान्तों में लगभग सभी हिन्दू स्थानों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी तरह मुस्लिम लीग ने कुल ४९५ मुस्लिम स्थानों में से ४४६ स्थानों पर अधिकार कर लिया था। उसे यदि कहीं असफलता प्राप्त हुई तो केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में। लीग को मन्त्रिमण्डल बनाने में केवल बंगाल और सिन्ध में असफलता मिली लेकिन उसकी निर्वाचन विजय ने यह सिद्ध कर दिया था कि मुस्लिम जाति समग्र रूप से उसकी पाकिस्तान की माँग का समर्थन करती है।

जिस समय भारतवर्ष में निर्वाचन हो रहे थे, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने भारत के प्रति अपनी सरकार की नीति के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि "ब्रिटिश भारत के पूर्ण स्वतन्त्रता और यह निश्चय करने के कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे या न रहे, अधिकार को स्वीकार करती है।" अपने दूसरे वक्तव्य में उन्होंने घोषणा की कि "एक अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की छूट नहीं दी जा सकती कि वह बहुसंख्यक-वर्ग की राजनीतिक प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाए।" इसके साथ-ही-साथ उन्होंने अपनी सरकार के इस निश्चय की भी घोषणा की कि भारतीय समस्या का समाधान प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का एक शिष्टमण्डल भेजा जाएगा।

कैबिनेट मिशन भारत में—कैबिनेट मिशन ने, जिसमें भारत-मन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस, व्यापार मण्डल के प्रधान सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और फर्स्ट लार्ड ऑफ एडमिरेल्टी मि० ए० वी० एलेक्जेण्डर शामिल थे, २३ मार्च, १९४६ को भारत में पदार्पण किया। कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने भारत आने के तुरन्त बाद ही यहाँ के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं और प्रतिनिधियों से बातचीत आरम्भ कर दी। ५ मई को मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार-चार प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शुरू किया। लेकिन सम्मेलन किसी सर्वसम्मत सूत्र को निकालने में सफल न हुआ और

अन्ततः १६ मई को भंग हो गया। इस पर कैबिनेट मिशन ने १६ मई, १९४६ के राजपत्र में अपने निजी प्रस्तावों की घोषणा कर दी।

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव (क) पाकिस्तान की अस्वीकृति—राजपत्र ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया और निष्कर्ष निकाला कि एक प्रभुत्व-सम्पन्न मुस्लिम राज्य की स्थापना अव्यवहारिक है। कैबिनेट मिशन ने कहा कि पाकिस्तान 'साम्प्रदायिक समस्या का ठीक समाधान' नहीं दे सकता। पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार करते हुए, उसने भारत के ऐसे एक संघ के निर्माण का प्रस्ताव किया जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। भारत संघ ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग हो जाने के लिए स्वतन्त्र होगा।

(ख) संविधान सभा—संविधान-सभा के बारे में मिशन ने बताया कि उसके सदस्यों के निर्वाचन का आधार साम्प्रदायिक होगा जिसके अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के धार्मिक सम्प्रदायों को १० लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाएगा। यह संविधान सभा भारत के लिए एक संविधान बनाएगी जो कुछ शर्तों के अधीन होगा।

(ग) भारत संघ : अन्तरिम सरकार- इन शर्तों में एक यह थी कि भारत संघ वैदेशिक मामलों, प्रतिरक्षा तथा यातायात पर नियन्त्रण रखेगा दूसरे सब विषय तथा अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों में निहित होंगी। जब तक संविधान बनकर तैयार हो, उस समय तक के लिए कैबिनेट मिशन ने एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया जिसे भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसमें सभी विभाग जनता के विश्वासपात्र नेताओं के हाथों में रहें।

प्रान्तों के वर्गीकरण के ऊपर वादानुवाद—कैबिनेट मिशन की योजना के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक विषय यह था जो प्रान्तों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता था। इस योजना के अनुसार प्रान्तीय प्रतिनिधि, संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन के पश्चात् तीन विभागों में बँट जाएँगे। विभाग (क) में बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, उड़ीसा और संयुक्तप्रान्त, विभाग (ख) में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पंजाब और सिन्ध तथा विभाग (ग) में आसाम और बंगाल सम्मिलित होंगे। यह स्पष्ट है कि अन्तिम दो विभागों में मुसलमानों का बहुमत था। इन विभागों को इस बात का निश्चय करना था कि प्रान्तों के लिए समूह-विधान की व्यवस्था की जाए अथवा नहीं और अगर ऐसा किया जाए तो समूह को किन विषयों का प्रबन्ध सौंपा जाए। लार्ड पेथिक लारेंस के अनुसार कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों में "तीन स्तरों के संविधान की रचना की गई थी जिसमें सबसे ऊपर भारत संघ होगा। सबसे नीचे प्रान्त होंगे। लेकिन इसके अतिरिक्त हम यह भी सोचते हैं कि प्रान्त गुटों के रूप में

इसलिए एक साथ सम्मिलित होना चाहेंगे कि सामूहिक रूप से वे एक प्रान्त की अपेक्षा और बड़े क्षेत्र की सर्विसों का सचालन कर सकें।"[१]

अपने प्रस्तावों के पैरा १६ (५) में कैबिनेट मिशन ने कहा था—"प्रान्तों को समूह बनाने की स्वतन्त्रता होगी और प्रत्येक प्रान्त समूह यह तय करेगा कि कौन-कौन से विषय सयाल रूप से सामूहिक शासन में रहें।" पैरा १६ (५) में उसने कहा था, "ये विभाग अपने-अपने समूह के प्रान्तों के संविधान को तैयार करेंगे और यह भी तय करेंगे कि क्या उन प्रान्तों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिए, यदि ऐसा हो तो कौन से विषय सामूहिक संविधान के अन्तर्गत रहने चाहिएँ।" प्रस्तावों में यह भी कह दिया गया था कि प्रान्त को अपने समूह से निकल जाने का अधिकार होगा। नए संविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन होने के पश्चात् नया प्रान्तीय विधान-मण्डल इस प्रकार का निर्णय कर सकेगा।

कांग्रेस और लीग के निवर्चनों में विरोध—स्पष्ट है कि प्रान्तों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखने वाली धाराओं को बड़े गोल-मोल शब्दों में व्यक्त किया गया था। निसर्गतः कांग्रेस ने उनका कुछ और अर्थ लगाया तथा मुस्लिम लीग ने कुछ और। कांग्रेस के दृष्टिकोण से समूहों का निर्माण ऐच्छिक था, समझौते की बात-चीत के दौरान में कांग्रेस ने इस बात को बारम्बार कह दिया था कि वह उपसंघों के निर्माण अथवा प्रान्तों के बाध्य वर्गीकरण के विरुद्ध है। मुस्लिम लीग इस निर्वचन से असहमत थी और उसने ब्रिटिश सरकार से स्पष्टीकरण की माँग की।

६ दिसम्बर का वक्तव्य—ब्रिटिश अधिकारियों के इस वचन के प्रतिकूल कि कैबिनेट मिशन की योजना का न निवर्चन किया जाएगा और न उसमें कोई नई चीज जोड़ी जाएगी, ६ दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया जिसमें उसने मूल प्रस्तावों का सर्वथा नूतन अर्थ लगाया। अब उसने कहा कि प्रान्तों का वर्गीकरण योजना का एक अनिवार्य तत्त्व है और यदि कोई सर्व-सम्मत समझौता न हो सके, तो विभाग का निर्णय उसके प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा हो जाना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने यह भी घोषणा की कि 'यदि ऐसी संविधान-सभा जिसमें भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग शामिल नहीं है, कोई संविधान बनाए तो सम्राट् की सरकार भारत के अनिच्छुक भाग पर बलपूर्वक लागू नहीं करेगी।" यह वक्तव्य ब्रिटिश सरकार के इस वचन का कि अल्पसंख्यक वर्ग को बहु-संख्यक वर्ग की राजनीतिक प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं बनने दिया जाएगा, पूर्ण व्यतिक्रम था। यह कांग्रेस को वर्गीकरण से सम्बद्ध धारा के नए निर्वचन को मानने के

---

१. मोहम्मद अशरफ द्वारा उद्धृत—"कैबिनेट मिशन एण्ड आफ्टर", पृ० ५६।

लिए विचार करने की एक स्पष्ट चेष्टा थी।

लीग द्वारा संविधान-सभा का बहिष्कार— इसी बीच में, जुलाई, १९४६ में संविधान-सभा के लिए निर्वाचन हुए। इन निर्वाचनों में कांग्रेस ने २०५ और मुस्लिम लीग ने ७३ स्थान प्राप्त किए। ९ दिसम्बर, १९४६ को संविधान सभा की प्रथम बैठक हुई। मुस्लिम लीग के सदस्यों ने उसमें भाग नहीं लिया। कांग्रेस ने लीग का सहयोग प्राप्त करने की यथासम्भव चेष्टा की। उसने ६ दिसम्बर वाले वक्तव्य को भी स्वीकार कर लिया और ६ जनवरी, १९४७ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि संविधान-सभा को "विभागों में अनुसरण की जाने वाली कार्यप्रणाली के विषय में ब्रिटिश सरकार की व्याख्या स्वीकार कर लेनी चाहिए।" लेकिन इसके साथ ही साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "इसका कारण किसी प्रान्त पर अनुचित दबाव न पड़ना चाहिए और पंजाब में सिक्खों के अधिकार सुरक्षित रहने चाहिएं।" परन्तु लीग ने इस आधार पर कि कांग्रेस ने १६ मई वाले वक्तव्य को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है, संविधान सभा का अपना बहिष्कार वापस लेने से इनकार कर दिया।

१०६. अन्तरिम सरकार का निर्माण

कठिनाइयाँ— १६ मई के वक्तव्य वाली योजना की सिफारिशों के प्रकाशन के तुरन्त बाद ही कैबिनेट मिशन और वायसराय ने योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित एक अन्तरिम सरकार के निर्माण के लिए बातचीत शुरू कर दी। चूंकि कांग्रेस और लीग दोनों ने ही १६ मई के वक्तव्य को स्वीकार कर लिया था, अतः आशा की जाती थी कि अन्तरिम सरकार की स्थापना में कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। तथापि अवसर पर कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। सरकार में कौन-कौन व्यक्ति सम्मिलित हों, इस प्रश्न के ऊपर दोनों दलों में कोई समझौता नहीं हो सका।

१६ जून का वक्तव्य— १६ जून, १९४६ को वायसराय ने एक वक्तव्य निकाला और उसमें कांग्रेस के ६, मुस्लिम लीग के ५ तथा दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों के ३ (एक सिक्ख, एक पारसी और एक भारतीय ईसाई) प्रतिनिधियों को अन्तरिम सरकार में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया। विभागों के वितरण का प्रश्न वायसराय को कांग्रेस और लीग के नेताओं की मन्त्रणा से करना था। वक्तव्य में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि दोनों प्रमुख दलों अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अन्तरिम सरकार में निर्दिष्ट आधार पर सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रकट करने पर वायसराय का इरादा है कि वे अन्तरिम संयुक्त दलीय सरकार निर्माण के कार्य में अग्रसर रहें। जो लोग १६ मई का वक्तव्य स्वीकार करते हैं, वह सरकार उनका यथासम्भव अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व करेगी।

वार्ता-भंग—मुस्लिम लीग ने १६ जून के वक्तव्य को स्वीकार कर लिया, लेकिन कांग्रेस ने माँग की कि उसे अपने प्रतिनिधियों में एक राष्ट्रवादी मुसलमान को सम्मिलित करने का अधिकार मिलना चाहिए। मुस्लिम लीग ने इस माँग का डटकर विरोध किया, फलतः कैबिनेट मिशन ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार में शामिल होने से इनकार कर दिया। लीग ने माँग की कि कांग्रेस के बिना ही सरकार का निर्माण होना चाहिए, लेकिन वायसराय ने इस प्रश्न को कुछ समय के लिए टाल देने का निश्चय किया। चूंकि १६ मई के वक्तव्य को दोनों ही प्रमुख दलों ने स्वीकार किया था, अतः वायसराय दोनों ही दलों का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार का निर्माण करने के लिए वचनबद्ध थे। अस्थाई व्यवस्था के रूप में वायसराय ने राजकर्मचारियों की एक रक्षक सरकार की स्थापना की। इस पर मि० जिन्ना अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर विश्वास-घात का दोषारोपण किया। २६ जुलाई को मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों की अपनी स्वीकृति को वापस ले लिया और हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के लिए क्रमशः दो पृथक संविधान सभाओं की अपनी पुरानी माँग को फिर से दुहराया। उसने मुसलमानों से अनुरोध किया कि वे अपनी पदवियाँ त्याग दें तथा अपनी कार्य-समिति को अधिकार दिया कि वह "पाकिस्तान प्राप्त करने...तथा अंग्रेजों की वर्तमान दासता व सवर्ण हिन्दुओं के भावी प्रभुत्व से छुटकारा पाने के लिए" तत्काल प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का एक कार्यक्रम तैयार करे।

कांग्रेस द्वारा अन्तरिम सरकार का निर्माण—चूंकि मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन योजना के अधीन प्रस्तावित अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं को अस्वीकार कर दिया, अतः ६ अगस्त, १९४६ को वायसराय ने कांग्रेस को इस बात का आमन्त्रण दिया कि वह उन्हें केन्द्र में अन्तरिम सरकार के निर्माण-कार्य में सहायता दे। कांग्रेस ने यह आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और सहयोग के लिए लीग से पुनः अनुरोध किया। लेकिन लीग टस-से-मस नहीं हुई। इस पर २ सितम्बर को अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गई और जवाहरलाल नेहरू उसके उपाध्यक्ष नियुक्त हुए।

प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन और उसका परिणाम—इसी बीच में घटना-चक्र प्रभंजन की गति से आगे बढ़ चुका था। मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्य-वाही का दिन निश्चित किया था। बंगाल सरकार ने इस दिन सार्वजनिक छुट्टी कर दी। प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस को कलकत्ता और सिलहट में गम्भीर उपद्रव हुए। कलकत्ता के नरमेध में लगभग ७००० व्यक्ति मारे गए। इसी प्रकार सिलहट और ढाका में भी भयंकर रक्तपात हुआ। हिंसा की आग पूर्वी बंगाल में जा पहुँची

नोआखली और टिपरा में जो अत्याचार और रक्तपात हुआ "उसने चारों ओर आतंक पैदा कर दिया"'नारी-निर्यातन, बलपूर्वक विवाह, बलात्कार, जबरन धर्म-परिवर्तन, घरों में आग लगा देने, उन पर सामूहिक हमले और प्रसिद्ध परिवारों के इन हमलों में शिकार होने से पूर्वी बंगाल में जो अविश्वास फैल गया था, वह तीन वर्ष पूर्व अकाल में हुई सामूहिक मृत्युओं से कहीं अधिक भीषण था।"[1] केन्द्रीय सभा में वक्तव्य देते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने साफ कह दिया कि दंगे मुस्लिम लीग की पहल और उत्तेजना दिलाने से हुए हैं।

मुस्लिम लीग का अन्तरिम सरकार में प्रवेश—कांग्रेस द्वारा नियन्त्रित अन्तरिम सरकार की स्थापना पर लीग बहुत बेचैन हो रही थी। वायसराय लार्ड वैविल भी लीग को अन्तरिम सरकार में लाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। वार्ताओं के दौरान में उन्होंने संदेहास्पद नीति से काम किया था और अक्टूबर में वे मुस्लिम लीग के पांच मनोनीत सदस्यों को, बिना उससे इस बात का स्पष्ट वचन लिए कि वह संविधानसभा के कार्य में सहयोग देगी, अन्तरिम सरकार में शामिल करने के लिए सहमत हो गए। *मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा के कार्य में कोई सहयोग नहीं दिया।*

१०८. अंग्रेजों का भारत छोड़ने का निश्चय

बिगड़ी हुई परिस्थिति—जैसा कि आशा की जाती थी, अन्तरिम सरकार में कांग्रेस-लीग की संयुक्तता ने स्थिति को और भी खराब कर दिया। साम्प्रदायिक हालत तेजी से बिगड़ गई। बंगाल में जो उपद्रव हुए थे, बिहार, गढ़मुक्तेश्वर (यू० पी०), लाहौर और रावलपिंडी (पश्चिमी पंजाब) में उनकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। सम्पूर्ण प्रशासन छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था। *गृह-युद्ध के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे थे। मुस्लिम लीग ने हलाकू और चंगेजखां के दिनों को पुनरुज्जीवित करने की जो धमकी* दी थी, वह मूर्तरूप धारण करती हुई प्रतीत होती थी।

२० फरवरी, १९४७ की घोषणा—ब्रिटिश सरकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत की स्थिति अब उसके काबू से बाहर निकल गई तथा निर्णय करने में जितनी ही विलम्ब किया जायगा, उतनी ही वहां की हालत और खराब हो जाएगी। *उसने भारत के भाग्य को उसकी जनता के हाथों में छोड़कर वहां से चले जाने का निश्चय किया।* प्रधान मन्त्री एटली ने २० फरवरी, १९४७ की महत्त्वपूर्ण घोषणा में इस निर्णय को व्यक्त किया। उन्होंने कहा, "सम्राट् की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निश्चय को सूचित कर देना चाहती है कि वह जून, १९४८ तक जिम्मेदार भार-

1. पट्टाभि सीतारामय्या—'दी हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस भाग २,' पृ० ८०६।

तीयों के हाथ में शक्ति सौंपने के कार्य को सम्पन्न कर देगी।" यह घोषणा करते समय ब्रिटिश सरकार ने आशा प्रकट की कि ब्रिटिश शक्ति के भारत से हट जाने की बात भारतीय राजनीतिज्ञों के हृदय में आशुबुद्धि पैदा कर देगी और उन्हें वास्तविकताओं का सामना करने तथा उचित समझौता निकालने की सामर्थ्य प्रदान करेगी। लेकिन घोषणा ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि सब प्रकार से प्रतिनिधित्वपूर्ण संविधान सभा जून, १६४८ से पूर्व कोई संविधान न बना सकी, तो उस स्थिति में "सम्राट् की सरकार को यह विचार करना पड़ेगा कि ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार का दायित्व पूरे-का-पूरा, ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को या विभक्त करके वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को, अथवा किसी ऐसे ढंग से जो सर्वोचित तथा भारतीयों के लिए सर्वाधिक लाभपूर्ण हो, सौंपा जाए।" सत्ता-हस्तान्तरण के कार्य को सुगम करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो कदम उठाए, उनमें एक वायसराय लार्ड वैविल को वापस बुलाना और उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन को नियुक्त करना था।

कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार—जैसा कि स्पष्ट है, २० फरवरी के वक्तव्य ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को प्रच्छन्न रूप से स्वीकार कर लिया था। निसन्देह: लीग ने अखण्ड भारत के आधार पर समझौता करने की कोई उत्सुकता प्रकट नहीं की। उसका संविधान सभा का बहिष्कार चलता रहा और देश की राजनीतिक स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती गई। नए वायसराय लार्ड माउण्टबेटन ने सम्पूर्ण स्थिति का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया और निष्कर्ष निकाला कि देश की हालत सुधारने के लिए एक क्रान्तिकारी उपाय का अवलम्बन ग्रहण करने की आवश्यकता है तथा वह क्रान्तिकारी उपाय देश का विभाजन है। अतः उन्होंने भारत के 'काल्पनिक' विभाजन पर आधारित एक योजना तैयार की। कांग्रेस ने आजीवन अखण्ड भारत के आदर्श के लिए संघर्ष किया था। परिस्थितियों से विवश होकर उसने अनुभव किया कि देश के विभाजन को स्वीकार करना ही ब्रिटिश दासता के अन्त करने और देश को गृहयुद्ध की लपटों से बचाने का एकमात्र मार्ग है। वस्तुतः विभाजन को स्वीकार करने का निर्णय उसके २ अप्रैल, १६४६ वाले प्रस्ताव के अनुकूल ही था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "कांग्रेस किसी प्रादेशिक इकाई की जनता को उसकी घोषित और दृढ़ इच्छा के विरुद्ध भारत में बने रहने के लिए विवश करने की भाषा में नहीं सोच सकती।"

माउण्टबेटन-पंचाट, ३ जून, १६४७—माउण्टबेटन-पंचाट की घोषणा ३ जून, १६४७ को की गई। इसमें भारत और पाकिस्तान दो पृथक डोमिनियनों की स्थापना व बंगाल और पंजाब के विभाजन का निर्णय किया गया था। उसने अंग्रेजों के भारत से हटने की तारीख को घटाकर १५ अगस्त, १६४७ कर दिया। पंचाट में कहा गया था कि बंगाल और पंजाब की विधान सभाओं में मुस्लिम और अ-मुस्लिम बहुल जिलों

के जो प्रतिनिधि हैं, वे भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने के प्रश्न पर पृथक्‌तः मतदान देंगे। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त और सिलहट (आसाम का मुस्लिम बहुल क्षेत्र) वयस्क मताधिकार पर आश्रित लोक-निर्णय द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करने को थे। सिन्ध में विधान सभा समग्ररूप से इस प्रश्न पर मतदान देने को थी। बलोचिस्तान अपनी प्रतिनिधिक संस्थाओं की एक संयुक्त बैठक के द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करने को था। इन व्यवस्थाओं के परिणाम पूर्व-निश्चित थे। पंजाब के पश्चिमी और बंगाल के पूर्वी जिलों ने पाकिस्तान के पक्ष में मत दिया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त सिन्ध और बलोचिस्तान ने भी यही किया। फलतः १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान का दो स्वतन्त्र राज्यों के रूप में अवतरण हुआ। स्वतन्त्र भारत, और पाकिस्तान की स्थापना अभूतपूर्व हत्याकाण्डों, लूटपाट, अपहरणों और बलपूर्वक जनसंख्या के हस्तान्तरण के बीच हुई। इन पाशविकताओं के फलस्वरूप ५ लाख से अधिक व्यक्ति कालकवलित और एक करोड़ २० लाख से अधिक व्यक्ति गृहविहीन हुए। भारतीय इतिहास का यह दूषित अध्याय यहाँ जनता के स्मृति-पटल पर ताजा ही है, अतः उसका यहाँ विशद विवरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१०६ १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम

-अधिनियम के मुख्य उपबन्ध —माउण्टबेटन पत्राट के आधार पर ब्रिटिश संसद ने जुलाई, १९४७ में भारतीय स्वातन्त्र्य अधिनियम पास किया। (१) इस अधिनियम ने १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान दो प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न राज्यों की स्थापना की और दोनों को औपनिवेशिक पद प्रदान किया। यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सरकार दोनों डोमिनियनों की संविधान-सभाओं को सत्ता हस्तान्तरित कर देगी और इन संविधान-सभाओं को अपने-अपने देशों के लिए इच्छानुरूप संविधान बनाने की स्वतन्त्रता होगी। (२) यह निर्धारित किया गया कि प्रत्येक डोमिनियन का डोमिनियन मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ब्रिटिश सम्राट् द्वारा नियुक्त एक एक गवर्नर जनरल होगा। अधिनियम ने यह उपबन्धित कर दिया कि गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नर भविष्य में स्वेच्छाचारी शासकों के रूप में कार्य नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें समस्त मामलों में, अपनी विवेकी शक्तियों और उत्तरदायित्वों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार आचरण करना पड़ेगा। (३) प्रत्येक डोमिनियन की संविधान-सभा उसके विधान-मण्डल के रूप में कार्य करेगी तथा उसकी वैधानिक शक्तियों के ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। (४) प्रत्येक डोमिनियन के विधान-मण्डल को पूर्ण विधायिनी शक्ति प्राप्त होगी और १५ अगस्त, १९४७ के पश्चात् ब्रिटिश संसद द्वारा पास किया कोई अधिनियम किसी डोमिनियन

पर उसके विधान मण्डल की स्वीकृति के बिना लागू नहीं होगा। (५) अधिनियम ने भारत मन्त्री के पद को समाप्त कर दिया। (६) जब तक नया संविधान बनकर तैयार नहीं हो जाता, १९३५ का भारत सरकार अधिनियम कुछ संशोधित होकर भारत का वैधानिक कानून बना रहेगा। (७) जहाँ तक भारतीय राज्यों का प्रश्न है, उनके ऊपर से ब्रिटिश सार्वभौमता समाप्त हो गई और उन्हें नए डोमिनियनों के साथ अपने भावी सम्बन्धों को तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए।

१८ जुलाई को अधिनियम पर सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो गई और १५ अगस्त, १९४७ को वह प्रभावी हो गया। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ। साठ वर्षों के पश्चात् भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, परन्तु इसके साथ ही साथ उसे कई दुरूह समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से भारत सदियों से अखण्ड रहा था, उसके विभाजन ने झुण्ड-की-झुण्ड कठिनाइयाँ खड़ी कर दीं। सबसे जटिल समस्या थी, देशी राज्यों की। वे अपने को स्वतन्त्र घोषित कर सकते थे अथवा जिस डोमिनियन में चाहते शामिल हो सकते थे। यहाँ भारत के बलकानिस्तान बनने का गम्भीर खतरा विद्यमान था। यदि देशी नरेश स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करने के अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर बैठते, तो भारत की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रहता। अंग्रेजों ने दीर्घकाल तक भारत का शोषण किया था और जाते-जाते वे उसमें एक और घुन लगा चले। क्या यह एक जानी-बूझी चेष्टा नहीं थी, उस स्वतन्त्रता को अन्तर्ध्वस्त करने के लिए जो उदारता के इतने अधिक प्रदर्शन के साथ दी गई थी? चर्चिल जैसे कई अनुदार राजनीतिज्ञों ने तो यहाँ तक कहा था कि भारत की स्वाधीनता मृग-मरीचिका से अधिक कुछ नहीं होगी, वह गृह-युद्ध की लपटों से क्षत-विक्षत हो जाएगा और उसमें अराजकता फैल जाएगी। फलतः इंगलैण्ड उस पर पुनः अपनी प्रभुत्व शक्ति लादने में समर्थ होगा। यह भारतीय राजनीतिज्ञों के साहस और दूरदर्शिता के प्रति श्रद्धांजलि है कि वे अत्यल्प काल में ही देश की स्वतन्त्रता की जड़ जमाने और लोलुप साम्राज्यवादियों की आशाओं को निर्मूल करने में सफल हुए।

११०. अंग्रेजों ने भारत क्यों छोड़ा?

बहुधा पूछा जाता है कि अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्यवादी शासन को क्यों समाप्त कर दिया? एक उत्तर यह है कि १९४६ में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ और वह भारतीय स्वतन्त्रता के प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था। लेकिन यह व्याख्या विशेष सन्तोषजनक नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत छोड़ने का निर्णय कुशल राजनीतिज्ञता का अथवा महात्मा गांधी के शब्दों में 'ब्रिटिश राष्ट्र का सबसे

भला' काम था। लेकिन इस बात में सन्देह है कि यह निर्णय सर्वथा ऐच्छिक था। यह एक तथ्य है कि इंगलैण्ड की समाजवादी सरकार भी उपनिवेशवाद के प्रतिकूल नहीं रही है। आज भी न्यूनाधिक रूप से ६० छोटे और बड़े उपनिवेशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक जीवित शक्ति है। तब फिर इंगलैण्ड ने अपने भारतीय साम्राज्य से हाथ धोने का क्यों निश्चय किया ?

परिस्थितियों की विवशता—सबसे महत्त्वपूर्ण कारण डा० पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार "समय की गति और परिस्थितियों की विवशता है।" यह श्रेष्ठ आदर्शवाद नहीं अपितु परिस्थितियों का बल था जिसने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इंगलैंड की शक्ति और प्रतिष्ठा को धूलधूसरित कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से उसका दिवाला निकल चुका था और वह अमेरिका का मोहताज होकर ही बने रह सकता था। निस्संदेह उसे अपने राष्ट्रीय और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अपनी सम्पूर्ण जन-शक्ति की आवश्यकता थी। उसकी यह स्थिति नहीं थी कि भारतवर्ष में अपने साम्राज्यवादी प्रभुत्व को कायम रखने के लिए पर्याप्त सेना रख सकता।

ब्रिटिश शासन एक निपट असम्भावना— भारतवर्ष की परिस्थिति ने भी इंगलैण्ड के साम्राज्यवादी शासन को एक निपट असम्भावना कर दिया था। एशिया अपनी युग-युग व्यापी तन्द्रा को त्याग कर उठ खड़ा हुआ था और उपनिवेशवाद की मौत की घण्टी बज चुकी थी। भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना इतनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी कि इंगलैण्ड ने जनता को शक्ति के द्वारा दबाए रखने की असारता देख ली। सन् ४२ की क्रान्ति अंग्रेजों के लिए एक स्पष्ट चेतावनी थी कि वे शीघ्रातिशीघ्र भारत छोड़ दें अन्यथा भयंकर परिणाम होंगे। आजाद हिन्द फौज का उद्भव और भारतीय नौसेना का विद्रोह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। अंग्रेजों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करने के लिए भारतीय सेनाओं का अब और प्रयोग नहीं किया जा सकता। अंग्रेज अपनी राजनीतिक व्यवहार-बुद्धि और अनिवार्यता उपस्थित होने पर समझौते की तत्परता के लिए प्रख्यात हैं। स्पष्ट था कि यदि अंग्रेज राजी से नहीं जाते तो उन्हें बेराजी से जाना पड़ता। फलतः उन्होंने भारत छोड़ने का और जनता की सद्भावनाओं को जीतने का निश्चय किया।

१११. सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज

सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज ने भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यहाँ उनका कुछ विशद् प्रगति-निर्देश करना उचित प्रतीत होता है। नेताजी भारतीय स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ पुजारी थे। मातृभूमि

की परतन्त्रता-बेड़ियों को काटने के लिए उन्होंने जो अथक बलिदान किए उनके कारण उनका नाम देश के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

जन्मजात योद्धा—वे जन्मजात योद्धा थे। अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने एक अंग्रेज अध्यापक को भारत के सम्बन्ध में निन्दायुक्त बातें कहने पर पीट दिया। सोलह वर्ष की अवस्था में वे घर से भाग गए और साधु का भेष धारण कर हिमालय की नीची पहाड़ियों में घूमते रहे। बाद में उन्होंने कैम्ब्रिज से आनर्स की डिग्री प्राप्त की और आई० सी० एस० की परीक्षा में चतुर्थ उत्तीर्ण हुए। लेकिन उन्होंने नौकरी नहीं की और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। देशबन्धु चितरंजनदास के नेतृत्व में उनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ और उन्होंने शीघ्रतापूर्वक अनवरत गति से उन्नति की। जब वे ३३ वर्ष के थे, कलकत्ता के मेयर निर्वाचित हुए। १९३८ में वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अगले वर्ष भी उन्होंने कांग्रेस का अध्यक्ष पद जीत लिया। इस बार उन्होंने महात्मा गांधी के खुला विरोध करने पर भी सफलता प्राप्त की। लेकिन कुछ समय बाद ही कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष के साथ उनका मतभेद इतना तीव्र हो गया कि उन्होंने संस्था छोड़ दी और अपने एक पृथक् दल फार्वर्ड ब्लाक की स्थापना की।

सुभाष बोस कांग्रेस के वामपक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। वे सरदार पटेल और राजेन्द्रप्रसाद की तरह कट्टर गांधीवादी नहीं थे। अहिंसा का सिद्धान्त उन्हें केवल एक नीति के रूप में मान्य था। "यदि गांधीजी भारतीय राष्ट्रवाद के सूर्य थे, जिनके चारों ओर कांग्रेस के समस्त ग्रह परिभ्रमण करते थे, तो सुभाष बोस एक नक्षत्र थे, जिनका अपना एक पृथक् ग्रहपथ था।" देश के नवयुवक-वर्ग का संगठन करने में उन्होंने बहुत काम किया था। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भी वे अध्यक्ष रहे थे। उनका विचार था कि राजनीतिज्ञ के रूप में गांधीजी असफल रहे हैं।

आजाद-हिन्द फौज और सुभाष बोस—जुलाई, १९४० में भारत सुरक्षा अधिनियम के अधीन सुभाष बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण सरकार ने उन्हें छोड़ दिया और उनके घर पर ही उन्हें नजरबन्द कर दिया। २६ जनवरी, १९४१ को वे रहस्यमय ढंग से अदृश्य हो गए और कुली का भेष धारण कर उत्तरी भारत, अफगानिस्तान और रूस होते हुए जर्मनी जा पहुंचे। जुलाई, १९४३ में उन्होंने दक्षिण-पूर्वी एशिया में आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व सम्भाल लिया। आजाद हिन्द फौज का संगठन सितम्बर, १९४१ में भारत के एक क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस ने किया था। इस फौज में वे साठ हजार भारतीय सैनिक सम्मिलित थे जिन्हें ब्रिटिश सेनापतियों ने जापानियों की दया के ऊपर छोड़ दिया था। वे देशभक्त सैनिक रासबिहारी बोस के आह्वान पर जापान की सहायता से भारत की

स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने को कृत-संकल्प हो गए। कैप्टिन मोहनसिंह ने आजाद हिन्द फौज में नई जान फूंकी और उसे देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने का गुरु-मन्त्र दिया। वे उसके प्रथम सेनापति थे। जब सुभाष बोस स्वयं पर पहुंचे तो आजाद हिन्द फौज को मुँह मांगा वरदान एक गतिशील नेता-प्राप्त हो गया। सुभाष बोस को सेना-संचालन का कोई अनुभव नहीं था। लेकिन उन्होंने अपने जादू भरे व्यक्तित्व, अपूर्व संगठन क्षमता और विलक्षण भाषण-कला द्वारा आजाद हिन्द फौज को, जिसके पास न अस्त्र-शस्त्र का समुचित प्रबन्ध था और न भोजनादि का, एक अद्वितीय लड़ाकू सेना बना दिया। उनके 'दिल्ली चलो' नारे ने सिपाहियों में अपूर्व उत्साह पैदा किया, सिपाही अतिशय कठिन परिस्थितियों में लड़े और अनकोटि आपत्तियां आने पर भी अपने दृढ़ निश्चय से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए।

उनके मिशन की असफलता और उनकी मृत्यु—आजाद हिन्द फौज ने बर्मा में शानदार लड़ाई लड़ी और कुछ समय के लिए भारत की भूमि में पदार्पण किया। नेताजी की अस्थायी सरकार ने कुछ समय तक मनीपुर और ऐसेवपुर के छोटे से राज्य क्षेत्र में जिसका विस्तार लगभग 15,000 वर्ग मील था, काम किया। लेकिन अन्त में सामग्री- रसद और अस्त्र-शस्त्रादि के अभाव और पराजित जापानियों के सहायता शून्य दृष्टिकोण के कारण आजाद हिन्द फौज को मित्र राष्ट्रों के सम्मुख घुटने टेकने पड़े। सुभाष बोस अपने मिशन को प्राप्त करने में असफल हुए और 18 अगस्त, 1945 को जापान के आत्म-समर्पण के कुछ समय बाद ही, 48 वर्ष की अवस्था में, एक हवाई दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया।

देश-द्रोही नहीं देश भक्त—सुभाष बोस की मृत्यु ने उन्हें अमर बना दिया। भारत की जनता उन्हें अपने देश के एक ऐसे महान् सपूत के रूप में सर्दैव याद रखेगी जिसने उसकी स्वतन्त्रता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान किया। सुभाष बोस के हृदय में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा का भाव था। कतिपय पश्चिमी लेखकों ने उन्हें विभीषण बताया। लेकिन यह दोषारोपण सर्वथा मिथ्या था। उन्होंने आजाद हिन्द फौज के एक कठपुतली-सेना होने के आरोप का प्रतिवाद किया। अपने सम्बन्ध में एक बार उन्होंने कहा था कि "यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ मुझे फुसलाने अथवा परवश करने में असफल हो चुके हैं, तो कोई और राजनीतिज्ञ ऐसा करने में सफल नहीं हो सकता।" *सुभाष बोस का यह दृढ़ विश्वास था कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में विजय प्राप्त* करने के लिए विदेशी सहायता की अनिवार्य आवश्यकता है। तिलक की भांति उनका भी यह विश्वास था कि अपने साध्य की सिद्धि के लिए मन चाहे साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

सुभाष बोस में जहां इतने गुण थे, वहाँ उनमें कुछ दुर्बलताएँ भी थीं। उनमें

एक बड़ा दोष यह था कि वे स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना पाते थे। उनके चरित्र में अहंमन्यता की प्रधानता थी और अकेले संघर्ष-रत रहना उनके लिए सर्वाधिक सुखकर था। महात्मा गांधी के साथ उनके गम्भीर मतभेद थे और उन्होंने 'कांग्रेस हाई कमाण्ड के सर्वस्वायत्तवाद' के विरुद्ध सतत युद्ध किया। वैसे उन पर स्वयं फासिस्ट प्रवृत्तियों वाला व्यक्ति होने का सन्देह किया जाता था। लेकिन उनके वीरता-पूर्ण अन्त ने उनकी दुर्बलताओं की स्मृति को भुला दिया और देशवासियों के हृदय-मन्दिर में उनकी मूर्ति भारतीय स्वतन्त्रता के उस अमर साधक के रूप में विराजमान है जिसने मातृभूमि की मुक्ति के लिए अपना तन-मन-धन सभी कुछ निछावर कर दिया।

सारांश

१९३५ के अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् मुस्लिम राजनीति में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। अब तक मुस्लिम पृथकतावाद ने अपनी माँगों को पृथक् निर्वाचक मण्डलों, गुरुभार और संरक्षणों तक ही सीमित रखा था। लेकिन १९३८ में द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त सामने आया और १९४० में मुस्लिम लीग ने पृथक् मुस्लिम राज्य पाकिस्तान की माँग अंगीकृत की।

पृथक्करण की इस प्रकार की माँग पृथकतावाद का स्वाभाविक निष्कर्ष था। इससे पहले की प्रत्येक चीज पा चुकने पर मुस्लिम लीग ने मुस्लिम जनता पर अपने प्रभाव को जमाए रखने के लिए पाकिस्तान का नारा बुलन्द किया। पाकिस्तान की माँग के लिए कुछ और कारण भी उत्तरदायी थे। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया, लीग इससे बहुत क्रुद्ध हुई और कायदे-आजम जिन्ना ने देश के विभाजन के लिए प्रचण्ड आन्दोलन शुरू कर दिया। कांग्रेस ने विशाल पैमाने पर जिस जन-सम्पर्क आन्दोलन को शुरू किया था, मुस्लिम लीग ने उसे अपने अस्तित्व के लिए ही एक धमकी समझा और कांग्रेस शासित प्रान्तों में हिन्दू अत्याचार की आवाज ऊँची की। हिन्दुओं के अत्याचार के ढिंढोरा ने लीग को अपनी लक्ष्य-पूर्ति में सहायता दी और मुस्लिम समाज पर उसका प्रभाव जम गया। हिन्दू महासभा के नेतृत्व द्वारा प्रकटित हिन्दू साम्प्रदायिकता का भी यह प्रभाव हुआ। आंग्ल-भारतीय नौकरशाहों ने भी भारत की एकता को खण्डित करने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। उनकी कुचेष्टाओं ने भी पृथकवाद की भावना को बल दिया।

द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु और उसकी पाकिस्तान की माँग का आधार बन गया। उसने दावा किया कि हिन्दू और मुसलमान कभी एक राष्ट्रीयता नहीं हो सकते क्योंकि 'उनके धर्म, दर्शन, सामाजिक आचार और साहित्य एक दूसरे से भिन्न हैं। यह एक विकट सिद्धान्त था। इसने धर्म को राष्ट्रीयता

की एकमात्र कसौटी माना और इस तथ्य की उपेक्षा की कि भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओं के वंशज हैं जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। यदि यह मान भी लिया जाए कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनके दो पृथक् राज्य होने चाहिएँ। "एक राष्ट्र, एक राज्य" एक विगत सिद्धान्त है और स्विट्ज़रलैण्ड तथा सोवियत रूस जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य यह सिद्ध करते हैं कि एक संघीय राज्य की छत्रछाया में कई राष्ट्रीयताएँ शान्तिपूर्वक रह सकती हैं।

लेकिन लीग को तर्क से क्या मतलब था? उसका पाकिस्तान आन्दोलन बराबर आगे बढ़ता गया। लीग ने उत्तर-पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब, सिन्ध और बलोचिस्तान व उत्तर पूर्व में आसाम और बंगाल की माँग की। मुस्लिम सम्प्रदाय के कई विभागों ने इस मांग का विरोध किया। कांग्रेस अखण्ड भारत के आदर्श की पुजारी थी यद्यपि वह मुस्लिम जनता के ऊपर उसकी इच्छा के विपरीत *एकता लादने के लिए भी प्रस्तुत नहीं थी। क्रिप्स-सूत्र (१९४२)* ने पाकिस्तान की माँग को परोक्ष रूप में स्वीकार कर लिया, पर उसको कांग्रेस और लीग दोनों ने ही अस्वीकार कर दिया। राजाजी के सूत्र ने भी मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान लिया। लेकिन कांग्रेस के अधिकारी वर्ग ने उसका तिरस्कार किया और मि० जिन्ना ने भी उसे ठुकरा दिया। इसी बीच में मुस्लिम लीग के साम्प्रदायिक घृणाभाव के प्रचार ने एक भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी और देश गृहयुद्ध की ओर बढ़ता हुआ मालूम पड़ने लगा।

१९४५ में इंगलैण्ड में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ और उसने भारतीय समस्या को नए सिरे से सुलझाने का निश्चय किया। भारत में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों के जो निर्वाचन हुए, उनके महत्त्वपूर्ण नतीजे सामने आए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर चुनाव लड़ा था। उसे ४९५ में से ४४६ स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। उसे असफलता का सामना केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में ही करना पड़ा। स्पष्ट है कि उसकी माँग को मुस्लिम समाज के बहुमत का समर्थन प्राप्त था।

१९४६ के शुरू में प्रधान मन्त्री एटली ने दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए। इन वक्तव्यों में उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार किया और कहा कि "अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की छूट नहीं दी जा सकती कि वह बहुमत की राजनीतिक प्रगति के मार्ग को रोके रखे।" इसके कुछ ही समय बाद राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए कैबिनेट मिशन ने भारत की यात्रा की। अपनी योजना में, मिशन ने पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर दिया और भारत संघ के लिए तीन स्तर वाले संविधान को बनाने के उद्देश्य से एक संविधान सभा की स्थापना का सुझाव दिया। जब तक नया संविधान बन कर तैयार न हो जाए, उस समय तक के लिए उसने एक

ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का जिसमें भारत के प्रमुख दलों के प्रतिनिधि सम्मलित हों, प्रस्ताव किया।

कैबिनेट मिशन पचाट के प्रकाशन के उपरान्त भारत में घटनाचक्र बड़ी तेजी से और भयंकरता से बढ़ा। लीग के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा का बहिष्कार किया। यद्यपि लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई, लेकिन पाकिस्तान को प्राप्त करने के प्रयोजन से। उनके प्रत्यक्ष कार्यवाही आन्दोलन ने विशाल साम्प्रदायिक उपद्रवों की एक शृङ्खला शुरू कर दी। इंगलैण्ड ने जब देखा कि वह भारतवर्ष में अपना साम्राज्यवादी प्रभुत्व और अधिक कायम नहीं रख सकता, तो उसने २० फरवरी, १९४७ को जून, १९४८ तक भारत छोड़ देने के अपने ऐतिहासिक निर्णय की घोषणा कर दी। मार्च, १९४७ में लार्ड वैविल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन भारत के वायसराय बनकर आए। उन्होंने भारत के विभाजन और दो पृथक् डोमिनियनों—भारत और पाकिस्तान की स्थापना के लिए एक योजना तैयार की। देश की संकटापन्न स्थिति को देखते हुए काग्रेस ने एक आवश्यक बुराई के रूप में विभाजन को स्वीकार कर लिया। १५ अगस्त, १९४७ को ३ जून के माउण्टबेटन पचाट की शर्तों के अनुसार देश का विभाजन हो गया और पाकिस्तान तथा भारत दो प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों के रूप में अवतरित हुए।

अध्याय १५

भारत का नया संविधान

११२. संविधान सभा और नए संविधान का निर्माण

संविधान सभा की मांग— भारतीय गणराज्य का यह संविधान, जो २६ जनवरी, १९५० को शुरू हुआ, भारत की संविधान सभा के परिश्रम का फल था, जिसका सबसे पहले ९ दिसम्बर, १९४६ को आयोजन किया गया था और जिसने २६ नवम्बर, १९४९ को अपना काम पूरा किया। कांग्रेस ने वयस्क मताधिकार पर आधारित ऐसी निर्वाचित संविधान सभा की मांग, जो भारत के लिए एक संविधान बना सके, सबसे पहले १९३४ में की थी। कांग्रेस ने १९३६ में और फिर बाद के वर्षों में इस मांग को बारम्बार दुहराया, लेकिन उसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। यह महायुद्ध की विभीषिका का ही फल था, जिसने १९४२ में इंगलैण्ड को क्रिप्स प्रस्तावों में निर्वाचित संविधान सभा के द्वारा भारत के अपने संविधान बनाने के अधिकार को मानने के लिए विवश कर दिया। बाद में ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत के प्रति अपनी नीति के सम्बन्ध में जो भी महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए, उन सब में उन्होंने अपनी इस स्वीकृति को बार-बार दुहराया। भारत की संविधान सभा का जन्म कैबिनेट मिशन योजना के उपबन्धों के आधार पर हुआ था।

गठन और निर्वाचन-प्रक्रिया—संविधान सभा भारत के प्रमुख सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी थी। विभिन्न प्रान्तों और राज्यों के बीच स्थानों का वितरण मोटे तौर से १० लाख की जनसंख्या के ऊपर एक प्रतिनिधि के हिसाब से किया गया था। प्रान्तों से सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रान्तीय सभा साम्प्रदायिक निर्वाचक-समूहों में विभाजित एक निर्वाचक-मण्डल के रूप में कार्य करती थी। ये निर्वाचक समूह आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा एकल संक्रमणीय मत-पद्धति के अनुसार अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करते थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि [illegible] बातचीत के द्वारा निश्चित होने के लिए छोड़ दी गई थी। कैबिनेट [illegible] के अधीन प्रस्तावित संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या ३८९ [illegible] संख्या में देशी राज्यों के ९३ प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे।

प्रान्तों के लिए स्थानों का निर्धारण निम्न प्रकार से हुआ—

प्रतिनिधित्व-तालिका

विभाग क

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	कुल जोड़
संयुक्त प्रान्त	४७	८	५५
मद्रास	४५	४	४९
बिहार	३१	५	३६
बम्बई	१९	२	२१
सी० पी०	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग :	१६७	२०	१८७

विभाग ख

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सिन्ध	१	३	०	४
पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त	०	३	०	३
योग :	९	२२	४	३५

विभाग ग

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग :	३४	३६	७०

उक्त तालिका के अलावा दिल्ली, अजमेर-मारवाड़ और कुर्ग के चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के तीन प्रतिनिधि विभाग क में और बलूचिस्तान का एक प्रतिनिधि विभाग ख में बैठने को थे।

संविधान-सभा की सीमाएँ—कैबिनेट मिशन योजना के अधीन संस्थापित संविधान सभा प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था नहीं थी। उसकी शक्तियाँ सीमित थीं। "उसकी सत्ता मूलभूत सत्ता और प्रक्रिया दोनों में मर्यादित थी।"[1] वह कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित नए संविधान की मुख्य रूपरेखा में कोई फेरफार न कर सकती थी।

१. वी० एन० शुक्ला—'दी कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया' पृ० १३-१४।

उदाहरणार्थ वह केन्द्र को प्रतिरक्षा, यातायात और वैदेशिक मामले छोड़ कर अन्य कोई विषय हस्तान्तरित नहीं कर सकती थी। इसके अलावा, वह ब्रिटिश संसद की अन्तिम सत्ता के अधीन थी।

मुस्लिम लीग द्वारा बहिष्कार—संविधान सभा का पहला अधिवेशन ६ दिसम्बर, १९४६ को हुआ। प्रथम अधिवेशन के अवसर पर सबके सब प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित नहीं हुए। मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार किया। बाद में वह अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई लेकिन वहाँ उसने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए पृथक्-पृथक् संविधान सभा की अपनी मूल माँग को दुहराया। तथापि सभा ने मुस्लिम लीग के सदस्यों की अनुपस्थिति के बावजूद भी अपने काम को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। अपनी पहली बैठक और भारत के विभाजन के बीच के चार अधिवेशनों में, संविधान सभा ने डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को अपना अध्यक्ष निर्वाचित किया, जवाहरलाल द्वारा प्रस्तावित प्रख्यात ऑब्जेक्टिव्स रेजोल्यूशन पास किया और नए संविधान के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए कई समितियाँ[1] नियुक्त कीं। स्वतन्त्रता की घोषणा और भारत व पाकिस्तान, दो पृथक् डोमिनियनों की स्थापना के पूर्व संविधान सभा के कार्य के बारे में निसर्गतः अवास्तविकता का वातावरण व्याप्त था।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने संविधान-सभा के स्वरूप को बिलकुल बदल दिया। अब वह पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था बन गई। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन उसके ऊपर जो प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे, वे सब हट गए। सभा ने विभिन्न समितियों की रिपोर्टों पर विचार किया और ३१ अगस्त, १९४७ को डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता में इन रिपोर्टों के आधार पर नए संविधान के प्रारूप को अन्तिम रूप देने के लिए एक प्रारूपसमिति नियुक्त की। प्रारूप-समिति ने प्रारूप २१ फरवरी, १९४८ को अध्यक्ष के सम्मुख उपस्थित किया और २६ फरवरी को उसे जनता के लिए प्रकाशित कर दिया गया। ४ नवम्बर, १९४८ को प्रारूप-संविधान संविधान-सभा के सम्मुख उपस्थित किया गया और २६ नवम्बर, १९४९ को उसे कतिपय परिवर्तनों सहित अंतिम रूप से पास व अंगीकृत किया गया। इस प्रकार संविधान-सभा को स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने में दो वर्ष ग्यारह महीने व आठ दिन लगे। नया संविधान २६ जनवरी, १९५० के दिन प्रवृत्त हो गया।

---

१. संघीय शक्ति समिति, संघीय संविधान समिति, राज्य संविधान-समिति, मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यक वर्गों पर परामर्शदात्री समिति, कबायली क्षेत्रों पर परामर्शदात्री समिति आदि।

११३. नए संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

लिखित और कठोर संविधान—भारत का नया संविधान संसार का सबसे बृहद् संविधान है। इसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ अनुसूचियाँ हैं। इस प्रकार यह एक लिखित संविधान है। यह एक अभिप्राय में कठोर भी है। देश का कोई भी विधान-मण्डल उसके सबसे महत्त्वपूर्ण उपबन्धों को अकेले संशोधित नहीं कर सकता। लेकिन यदि हम अपने संविधान की अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया के संविधानों से तुलना करके देखें, तो पता चलेगा कि हमारा संविधान इन देशों के संविधानों की अपेक्षा कम कठोर है। संविधान में वर्णित संशोधन की प्रक्रिया न बहुत कठिन है, न बहुत जटिल। संविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दे दी है कि वह आपात की उद्घोषणा निकालकर उसके संघीय ढांचे को एकात्मक ढांचे में बदल सकता है। इससे भी संविधान में लचीलेपन के तत्त्व का समावेश हो गया है। यदि राज्य परिषद् अपने दो तिहाई बहुमत से घोषणा कर दे कि राज्य-सूची में प्रगणित अमुक विषय का संघीय विधान मण्डल के क्षेत्राधिकार में आना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है, तो उस विषय पर साधारण परिस्थितियों तक में संघीय विधान मण्डल कानून बना सकता है।

यह भारत को प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करता है—संविधान भारत को एक प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करता है। भारतीय संविधान का गणराज्यात्मक स्वरूप इस तथ्य से प्रकट है कि राज्य का कार्यकारी प्रधान कोई आनुवंशिक नरेश नहीं, अपितु निर्वाचित राष्ट्रपति है। सार्वभौम वयस्क मताधिकार का सूत्रपात, पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक गणों और अस्पृश्यता का अन्त, समर्थनीय मूल अधिकारों का अनुदान तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका का संगठन आदि तथ्य ऐसे हैं जो भारतीय संविधान के लोकतन्त्रात्मक आधार की पुष्टि करते हैं। संविधान का मुख्य उद्देश्य भारत के समस्त नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता प्राप्त कराना है और इस उद्देश्य को प्रस्तावना में घोषित कर दिया गया है। भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य है, लेकिन इससे उसकी प्रभुत्व-शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एकात्मक आत्मा-सहित संघीय संविधान—संविधान भारतवर्ष में संघीय राजतन्त्र की स्थापना करता है। उसने निर्धारित किया है कि भारत, अर्थात् इण्डिया, राज्यों का संघ होगा। दूसरे संघों की तरह भारत में भी दो कोटि की सरकारें हैं—संघीय सरकार और राज्यों की सरकारें। संविधान शक्तियों का केन्द्र और अवयवी एककों के बीच तीन सूचियों—संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची में बिलकुल

स्पष्ट रूप से विलगन करता है लेकिन यह स्मरणीय है कि यद्यपि भारतीय संघ में संघ-शासन की सामान्य विशेषताएँ तो अवश्य विद्यमान हैं, वह एक आदर्श संघ नहीं है। उसमें निश्चित रूप से एकात्मक अभिनति है। भारत अमेरिकन संघ की अपेक्षा कनाडियन संघ के अधिक समीप है।

संसदीय शासन प्रणाली—संविधान ने भारतवर्ष के लिए केन्द्र और राज्यों दोनों स्थानों पर संसदीय शासन प्रणाली को अंगीकृत किया है। भारत के राष्ट्रपति और राज्यों के राज्यपालों (अथवा राजप्रमुखों) से यह आशा की जाती है कि वे वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेंगे यद्यपि संविधान ने उनकी स्थिति को बिलकुल स्पष्ट नहीं किया है। तथापि, मन्त्री वैधानिक दृष्टि से विधानमण्डल के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी है। यह चीज भविष्य के गर्भ में छिपी हुई है कि भारत की संसदीय-प्रणाली इंगलैण्ड के आदर्श का अनुगमन करेगी अथवा अपने एक नए आदर्श का निर्माण करेगी।

मूल अधिकार—संविधान में एक अध्याय नागरिकों के मूल अधिकारों के ऊपर है। इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता और इन्हें न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि वह कानून अथवा अध्यादेश जो इनमें किसी अधिकार का अपहरण करता है और उच्च न्यायालयों व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है। नागरिक इन अधिकारों के प्रवर्तन और संरक्षण के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा राज्यों के उच्च न्यायालयों की शरण तक जा सकते हैं। मूलभूत अधिकारों (अनुच्छेद १२ से ३५ तक) से भारत के नागरिकों को यह गारण्टी दी गई है कि वे कानून की दृष्टि से बिना भेदभाव के बराबर समझे जाएँगे, उन्हें भाषण, उपासना और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रहेगी, शान्तिपूर्वक सभाएँ करने और समुदाय बनाने का उन्हें अधिकार रहेगा, संघ के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र में घूमने-फिरने की, कहीं भी बसने की और किसी भी जीविका, वाणिज्य या व्यवसाय की स्वतन्त्रता का वे उपभोग करेंगे। संविधान ने मानव के पण्य और बलात् श्रम का प्रतिषेध कर दिया है और नागरिकों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी है। उसने प्रबन्ध किया है कि अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण किया जाएगा व उन्हें शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अधिकार होगा। संविधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति कानून के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा और राज्य प्रतिकर दिए बिना किसी भी वैयक्तिक सम्पत्ति को सार्वजनिक उपयोग के लिए बलात् कब्जा न करेगा।

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व—भारतीय संविधान की एक अपूर्व विशेषता राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व, १९३७ के आयरिश संविधान से उधार ली गई है।

निर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में अन्तर यह है कि निर्देशक तत्वों को न्यायालयों द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती, जबकि मूल अधिकारों को दी जा सकती है। तथ्यतः, इन सिद्धान्तों से केवल यह आशा की जा सकती है कि वे संघ व राज्य सरकारों की नीति का मार्ग दर्शन करें। सक्षम टीकाकारों के मतानुसार ये अस्पष्ट और अनिश्चित है और उनका संविधान में समावेश कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रखता। इन सिद्धान्तों में कहा गया है कि राज्य का ध्येय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करना होगा, जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आश्रित हो तथा जिसमें समस्त नागरिकों को काम व जीविका के उचित साधन पाने का अधिकार हो। राज्य स्वशासन के एककों के रूप में ग्राम-पंचायतों का संगठन करेगा, श्रमिकों के लिए निर्वाह-मजूरी आदि का प्रबन्ध करेगा, नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता बनाने के लिए प्रयत्नशील होगा और बालकों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध करने की चेष्टा करेगा।

संविधान का उद्देश्य भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है—नए संविधान का लक्ष्य भारत में साम्प्रदायिक अथवा धर्म-सापेक्ष राज्य की वृद्धि को रोकना है। इसके स्थान पर उसका उद्देश्य भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना है। ऐसी व्यवस्था में राज्य न तो धार्मिक होता है, न अधार्मिक होता है, न धर्म-विरोधी होता है अपितु धार्मिक मामलों में सर्वथा तटस्थ रहता है। हमारे संविधान ने समस्त नागरिकों को धर्म, वंश और जाति के बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किए हैं। धर्म के सम्बन्ध में संविधान ने प्रत्येक नागरिक को अपने मनोवाछित धर्म का अबाध गति से पालन करने की स्वतन्त्रता दे दी है। यदि किसी व्यक्ति का धर्म में विश्वास नहीं है, तो वह अपने धर्म-विरोधी विचारों को भी धारण कर सकता है। राज्य स्वयं को किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं करता और सब धर्मों पर सम-दृष्टि रखता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य नागरिकों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति करना है, अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पथ व्यक्ति स्वयं प्रशस्त कर सकता है, वह उसका अपवर्जित या वैयक्तिक मामला है।

११४. नागरिकों के मूल अधिकार

'अधिक विशद और यथार्थ'—भारत के संविधान ने नागरिकों को कई मूल अधिकार प्रदान किए है। अमेरिका, सोवियत रूस और बेल्जियम जैसे संसार के अन्यान्य देशों के संविधानों में भी एक अध्याय नागरिकों के मूल अधिकारों पर विद्यमान है। इस प्रकार नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान करना हमारे संविधान की कोई अपनी निजी विशिष्ट विशेषता नहीं है, लेकिन जैसा कि श्री अनन्तशयनम् आयंगर

ने कहा है, "नए भारतीय संविधान में जनता को गारण्टी किए गए मूल अधिकार दूसरे बहुत से देशों के संविधानों में पाए जाने वाले मूल अधिकारों से अधिक विशद और यथार्थ हैं।" चूंकि नए संविधान ने भारत की जनता को मूल अधिकार नाम की वस्तु सर्व प्रथम प्रदान की है इससे पूर्व जनता मूल अधिकारों से सर्वथा वञ्चित थी, अतः इनका महत्व और भी बढ़ जाता है। संविधान के भाग ३ को, जिसमें इन अधिकारों की एक लम्बी सूची दी गई है, भारत के 'मैग्ना-कार्टा' के नाम से पुकारा गया है।

अधिकारों की सात श्रेणियां—संविधान में वर्णित अधिकारों की सात श्रेणियाँ हैं—(१) समता-अधिकार; (२) स्वातन्त्र्य अधिकार; (३) शोषण के विरुद्ध अधिकार; (४) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार; (५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार; (६) सम्पत्ति का अधिकार और (७) संवैधानिक उपचारों के अधिकार।

(१) **समता-अधिकार**—समता-अधिकार में कानून के समक्ष समता धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध और राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर-समता सम्मिलित है। संविधान अस्पृश्यता का अन्त करके और दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों तथा मनोरंजन के स्थानों में सब लोगों को समान रूप से प्रवेश का; तालाब, कुओं, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग का अधिकार देकर समता-अधिकार को व्यावहारिक बना देता है। समता-अधिकार सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर शेष उपाधियों को समाप्त करता है। समता अधिकार पूर्ण है और यह सब नागरिकों को बिना किसी अपवाद के प्राप्त है। फिर भी संविधान में इस बात का उल्लेख है कि स्त्रियों, बच्चों और पिछड़े हुए वर्गों को समान धरातल पर लाने के लिए विशेष उपबन्ध किए जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के संविधान का लक्ष्य भारत में सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। अमेरिका संसार का सबसे प्रगतिशील लोकतन्त्रात्मक देश है लेकिन वहाँ भी रंग के आधार पर विभेद की भावना को दण्ड योग्य अपराध नहीं माना गया। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में जिन समता अधिकारों का उल्लेख किया गया है, वे अमेरिकन संविधान के समता अधिकारों की अपेक्षा अधिक वास्तविक और विध्यात्मक हैं।

(२) **स्वातन्त्र्य-अधिकार**—स्वातन्त्र्य-अधिकार (अनुच्छेद १९) इस बात की गारण्टी देता है कि सब नागरिकों को वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, संस्था या संघ बनाने का, भारत राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण का, भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्यय करने का तथा कोई वृत्ति, उपजीविका व्यापार या कारबार करने का अधिकार होगा।

(२) स्वातन्त्र्य-अधिकार पर प्रतिबन्ध—स्वातन्त्र्य अधिकार किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है। इसके ऊपर कई बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगे हुए हैं और इन प्रतिबन्धों की कई विधान विशारदों ने कड़ी आलोचना की है। उदाहरणार्थ उनका कथन है कि निवारक-निरोध अधिनियम के अधीन, जिसे संविधान का सम्मोदन प्राप्त है किसी भी नागरिक को तीन महीने तक और संसद की स्वीकृति मिलने पर इससे भी अधिक समय तक बिना परीक्षण के जेल में रखा जा सकता है। आलोचकों का मत है कि यह कानून स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल है, इसकी आड़ में शासन अपने राजनीतिक विरोधियों को कुचल सकता है। इसके विपरीत राज्य की मान्यता यह है कि समाज विरोधी तत्त्वों का सामना करने के लिए ये प्रतिबन्ध आवश्यक हैं। भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर संविधान अधिनियम (प्रथम संशोधन) द्वारा जिसे संसद ने जून, ५१ में पास किया था और अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। यह अधिनियम राज्य को ऐसे प्रत्येक कानून की निर्मिति का अधिकार देता है, "जो राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्धों, सार्वजनिक व्यवस्था, सुशीलता व नैतिकता के हित में हो अथवा न्यायालय की मानहानि, अपकीर्ति या अपराध की उत्तेजना के सम्बन्ध में हो।" आलोचकों ने इस संशोधन की कठोर आलोचना की है और इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भयंकर आघात बताया है। सत्तालोलुप शासक इस अधिनियम का प्रयोग कर जनता को उसकी आधारभूत स्वतन्त्रताओं से वंचित कर सकता है।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार—'शोषण के विरुद्ध अधिकार' मानव के पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य बलात् श्रम का प्रतिषेध करता है व इस उपबन्ध के उल्लंघन को अपराध ठहराता है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है। संविधान इस बात का भी उपबन्ध करता है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी खान में नौकर न रखा जाएगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जाएगा। इन अधिकारों का उद्देश्य भारत में एक ऐसी समाज-व्यवस्था को कायम करना है जिसमें कि सबल व्यक्ति निर्बल का शोषण न कर सकें। ये अधिकार नवजात भारत राज्य को 'लोक-संग्रही राज्य' का रूप प्रदान करते हैं।

(४) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार—भारतवर्ष विभिन्न धर्मों की सम्मिलन भूमि है। संविधान ने समस्त नागरिकों को 'अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का' समान अधिकार प्रदान किया है (अनुच्छेद २५)। इन अधिकारों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि इनका प्रयोग सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य आदि के अधीन रहते हुए किया जाए। संविधान ने यह भी निर्धारित किया है कि राज्य द्वारा घोषित शिक्षा संस्थाओं

में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी और राज्य से अभिज्ञात शिक्षा-संस्थाओं में जो राज्य की निधि से सहायता पाती है, किसी भी विद्यार्थी को धार्मिक शिक्षा में भाग लेने अथवा धार्मिक उपासना में संलग्न होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा। तथापि संविधान ने इस बात का उपबन्ध कर दिया है कि राज्य धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियम अथवा निर्बन्धन कर सकता है और हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोल सकता है।

(५) **संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार**—संविधान में संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकारों का भी उल्लेख है। अनुच्छेद २९ में कहा गया है कि भारत के नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा और राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जाएगा। अनुच्छेद ३० धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार देता है व इस बात का उपबन्ध करता है कि शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। ये अधिकार भारत में अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक नए युग का उद्घाटन करते हैं और उन्हें सांस्कृतिक स्वाधीनता की गारण्टी देते हैं।

(६) **सम्पत्ति का अधिकार**—अनुच्छेद ३१ सम्पत्ति के अधिकार का निरूपण करता है। संविधान ने निश्चित किया है कि "कोई व्यक्ति कानून के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा" और कोई भी सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए मुआवजा दिए बिना कब्जाकृत या अर्जित नहीं की जा सकती। इसके अलावा राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई भी ऐसा कानून जो सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन का उपबन्ध करता हो, तब तक प्रभावी नहीं होगा, जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की अनुमति न मिल गई हो। वैयक्तिक सम्पत्ति से सम्बद्ध संविधान के उपबन्ध काफी विवादास्पद रहे हैं। समाजवादी और साम्यवादी इन उपबन्धों की कठोर आलोचना करते हैं। विधान-शास्त्रियों का भी यह मत है कि इन उपबन्धों के कारण भारतवर्ष में 'समाजवाद के अनिवार्य तत्वों सहित लोकतन्त्र' की स्थापना करना कठिन हो जाएगा, जमींदार और सम्पत्तिशाली वर्ग कृषि-सुधारों के मार्ग में रोड़े अटका सकते हैं। उक्त आलोचना निराधार नहीं है, यह इस बात से स्पष्ट है कि कतिपय राज्यों द्वारा पास किए गए जमींदारी-उन्मूलन-कानूनों को वैध करने के लिए संवि-

धान को संशोधित करना पड़ा है ।

(७) संविधानिक उपचारों के अधिकार—संविधान उन संविधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपवन्ध करता है जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारों को प्रवर्तित कराया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ३२ प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह संविधान द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए न्यायालयों की शरण ले सकता है । इन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-wassanto) और उत्प्रेषण (Cretiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकालने की शक्ति प्राप्त है ।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—यह स्मर्तव्य है कि साधारण परिस्थितियों में संविधान द्वारा प्रदान किए गए नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है । दूसरे शब्दों में, यदि राज्य साधारण परिस्थितियों में नागरिकों के इन मूल अधिकारों के अतिक्रमण का प्रयास करे तो न्यायालय उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो सकता है । अन्यान्य लोकतन्त्रात्मक देशों में भी मूल अधिकारों की यही स्थिति है । इसके अलावा अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायपालिका को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि संसद अथवा राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून मूल अधिकारों के प्रतिकूल हो, तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है ।

लेकिन भारतीय संविधान के मूल अधिकारों में कतिपय ऐसी बातें हैं, जिनके ऊपर उग्र वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है । प्रत्येक अधिकार के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं । ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि यदि संविधान एक हाथ से अधिकार देता है, तो दूसरे हाथ से उसे छीन लेता है । भारत के संविधान के विपरीत अमेरिका का संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का बिलकुल निर्भ्रान्त ढंग से निरूपण करता है । भारत में मूल अधिकारों के ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं, उनकी वजह से कभी-कभी न्यायपालिका के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह कार्यपालिका अथवा विधानमण्डलों के अतिक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षा कर सके । सम्भवतः भारतीय संविधान द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों का सबसे विवादास्पद पहलू यह तथ्य है कि इन अधिकारों में सबसे मूल्यवान अधिकार अर्थात् वे अधिकार जो भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्वक सम्मेलन और संचरण आदि की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं, भारत के राष्ट्रपति द्वारा उस समय, जब कि वह आपात की उद्घोषणा निकालता है, स्थगित किए जा सकते हैं । इस प्रकार की उद्घोषणा की प्रवर्तन कालावधि में राष्ट्रपति न्यायालयों से इन मूल अधिकारों को लागू करने की शक्ति भी

से सकता है। यह ठीक है कि मूल अधिकारों का स्थगन केवल थोड़े से काल के लिए ही हो सकता है, लेकिन इसके लिए किए गए उपबन्ध पर आलोचकों ने कठोर आक्षेप किए हैं। उनका कहना है कि इन उपबन्धों की आड़ में कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और जनता के ऊपर तानाशाही लाद सकती है। शासन का इस उपबन्ध के समर्थन में यह कथन है कि राष्ट्रीय आपात की घड़ियों में मूल अधिकारों को स्थगित करने की शक्ति राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है और सार्वजनिक स्वतन्त्रता को कायम रखना व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि शासन अपनी आपात-शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करता है। यदि शासन राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हुए अपनी आपात शक्तियों का प्रयोग करता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुरक्षा और व्यवस्था के नाम में जनता के स्वातन्त्र्य अधिकारों को अतिक्रान्त करेगा।

सम्पत्ति का अधिकार भी आलोचकों के आक्रमणों का आस्पद रहा है। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यह अधिकार मूल अधिकार नहीं, मूल अन्याय है। इसके विपरीत संविधान के निर्माताओं का यह कहना है कि आज जिस संक्रान्तिकालीन दौर से भारत गुजर रहा है, उसमें हमें एक-एक कदम सम्हाल कर रखना है, किसी प्रकार के उग्र उपायों का अवलम्बन राष्ट्रीय हित की दृष्टि से वाञ्छनीय न होगा।

११५. राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व

निर्देशक तत्त्वों का अभिप्राय—भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का समावेश एक ऐसी विशेषता है जो आयरलैण्ड के संविधान से ग्रहण की गई है। इन निर्देशक तत्त्वों का पालन करना राज्य के लिए सर्वथा आवश्यक नहीं है, ये निर्देशक तत्त्व तो केवल आदर्श हैं। संविधान की प्रस्तावना में एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना की बात कही गई है जिसमें जीवन के सभी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समानता, स्वतन्त्रता और न्याय विद्यमान हों। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व उन साधनों का निरूपण करते हैं जिनके द्वारा ऐसी समाज व्यवस्था कायम की जा सकती है। अनुच्छेद ३७ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, तो भी ये "देश के शासन में मूलभूत हैं और कानून बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।" अनुच्छेद ३८ में कहा गया है कि राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करेगा। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का संक्षेप में यही सार है। सुविधा की दृष्टि से उनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक

धान को संशोधित करना पड़ा है।

(७) **संविधानिक उपचारों के अधिकार**—संविधान उन संविधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपबन्ध करता है जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारों को प्रवर्तित कराया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ३२ प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह संविधान द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए न्यायालयों की शरण ले सकता है। इन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-wassanto) और उत्प्रेषण (Cretiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकालने की शक्ति प्राप्त है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—यह स्मर्त्तव्य है कि साधारण परिस्थितियों में संविधान द्वारा प्रदान किए गए नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, यदि राज्य साधारण परिस्थितियों में नागरिकों के इन मूल अधिकारों के अतिक्रमण का प्रयास करे तो न्यायालय उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो सकता है। अन्यान्य लोकतन्त्रात्मक देशों में भी मूल अधिकारों की यही स्थिति है। इसके अलावा अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायपालिका को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि संसद अथवा राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून मूल अधिकारों के प्रतिकूल हो, तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

लेकिन भारतीय संविधान के मूल अधिकारों में कतिपय ऐसी बातें हैं, जिनके ऊपर उग्र वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रत्येक अधिकार के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि यदि संविधान एक हाथ से अधिकार देता है, तो दूसरे हाथ से उसे छीन लेता है। भारत के संविधान के विपरीत अमेरिका का संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का बिलकुल निर्भ्रान्ति ढंग से निरूपण करता है। भारत में मूल अधिकारों के ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं, उनकी वजह से कभी-कभी न्यायपालिका के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह कार्यपालिका अथवा विधानमण्डलों के अतिक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षा कर सकें। सम्भवतः भारतीय संविधान द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों का सबसे विवादास्पद पहलू यह तथ्य है कि इन अधिकारों में सबसे मूल्यवान अधिकार अर्थात् वे अधिकार जो भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्वक सम्मेलन और संचरण आदि की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं, भारत के राष्ट्रपति द्वारा उस समय, जब कि वह आपात की उद्घोषणा निकालता है, स्थगित किए जा सकते हैं। इस प्रकार की उद्घोषणा की प्रवर्त्तन कालावधि में राष्ट्रपति न्यायालयों से इन मूल अधिकारों को लागू करने की शक्ति भी

ले सकता है। यह ठीक है कि मूल अधिकारों का स्थगन केवल थोड़े से काल के लिए ही हो सकता है, लेकिन इसके लिए किए गए उपबन्ध पर आलोचकों ने कठोर आक्षेप किए है। उनका कहना है कि इन उपबन्धों की आड़ में कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और जनता के ऊपर तानाशाही लाद सकती है। शासन का इस उपबन्ध के समर्थन में यह कथन है कि राष्ट्रीय आपात की घड़ियों में मूल अधिकारों को स्थगित करने की शक्ति राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है और सार्वजनिक स्वतन्त्रता को कायम रखना व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि शासन अपनी आपात-शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करता है। यदि शासन राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हुए अपनी आपात शक्तियों का प्रयोग करता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुरक्षा और व्यवस्था के नाम में जनता के स्वातन्त्र्य अधिकारों को अतिक्रान्त करेगा।

सम्पत्ति का अधिकार भी आलोचकों के वाक्‌बाणों का आस्पद रहा है। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यह अधिकार मूल अधिकार नहीं, मूल अन्याय है। इसके विपरीत संविधान के निर्माताओं का यह कहना है कि आज जिस अन्तर्कालीन दौर से भारत गुजर रहा है, उसमें हमें एक-एक कदम सम्हाल कर रखना है, किसी प्रकार के उग्र उपायों का अवलम्बन राष्ट्रीय हित की दृष्टि से वांछनीय न होगा।

११५. राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व

निर्देशक तत्त्वों का अभिप्राय—भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का समावेश एक ऐसी विशेषता है जो आयरलैण्ड के संविधान से ग्रहण की गई है। उन निर्देशक तत्त्वों का पालन करना राज्य के लिए सर्वथा आवश्यक नहीं है, ये निर्देशक तत्त्व तो केवल आदर्श है। संविधान की प्रस्तावना में एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना की बात कही गई है जिसमें जीवन के सभी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समानता, स्वतन्त्रता और न्याय विद्यमान हों। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व उन साधनों का निरूपण करते है जिनके द्वारा ऐसी समाज व्यवस्था कायम की जा सकती है। अनुच्छेद ३७ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, तो भी वे "देश के शासन में मूलभूत हैं और कानून बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।" अनुच्छेद ३८ में कहा गया है कि राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करेगा। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का संक्षेप में यही सार है। सुविधा की दृष्टि से उनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक

तत्त्व, (ख) न्याय, शिक्षा और लोकतन्त्र से सम्बद्ध निर्देशक तत्त्व तथा (ग) प्रकीर्ण निर्देशक तत्त्व।

(क) **आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक तत्त्व**—अनुच्छेद ३९, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८ मुख्यतः आर्थिक मामलों से सम्बद्ध हैं। अनुच्छेद ३९ में कहा गया है कि राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा जिसके फलस्वरूप नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के समान साधन उपलब्ध हो सकें, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो सके; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का अहितकारी केन्द्रण न हो सके, पुरुष और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिल सके, श्रमिक स्त्रियों और पुरुषों के स्वास्थ्य तथा शक्ति और बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो सके एवं आर्थिक विवशताओं से लाचार होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से और नैतिक व आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो सके। अनुच्छेद ४१ बेकारी, बुढ़ापा, अंगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में नागरिकों के लोक-सहायता पाने के अधिकार को स्वीकार करता है। अनुच्छेद ४२ में कहा गया है कि राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा। अनुच्छेद ४३ में कहा गया है कि राज्य श्रमिकों के लिए निर्वाह मजूरी आदि का प्रबन्ध करेगा और कुटीर-उद्योगों की उन्नति के लिए चेष्टाशील होगा। अनुच्छेद ४६ में कहा गया है कि राज्य अनुसूचित जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। अनुच्छेद ४७ में स्वीकार किया गया है कि आहार-पुष्टि-तल और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्तव्य होगा। अनुच्छेद ४८ में कहा गया है कि राज्य कृषि और पशुपालक को वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठन करेगा व गोवध का प्रतिषेध करेगा।

(ख) **न्याय, शिक्षा और लोकतन्त्र से सम्बद्ध निर्देशक तत्त्व**—राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों में कुछ ऐसे भी हैं जो न्याय की सुरक्षा, शिक्षा के विस्तार और लोकतन्त्र के प्रसार का उपबन्ध करते हैं। अनुच्छेद ४४ और ५० न्याय की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते है। अनुच्छेद ४४ में कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ५० में कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण की बात कही गई है। शिक्षा के विस्तार के सम्बन्ध में अनुच्छेद ४५ ने निर्धारित किया है कि "राज्य, इस संविधान

के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की *अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का* प्रयास करेगा।" भारत में लोकतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिए निर्देशक तत्वों में ग्राम-पचायतों के संघटन की बात कही गई है। अनुच्छेद ४० ने निश्चित किया है कि *"राज्य ग्राम-पचायतों का संघटन करने के लिए अग्रसर होगा, तथा उनको ऐसी* शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।"

(ग) **प्रकीर्ण निर्देशक तत्त्व**—अनुच्छेद ४६ और ५१ को हम प्रकीर्ण निर्देशक तत्वों में गणना कर सकते है। अनुच्छेद ४६ में राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और चीजों के संरक्षण की बात कही गई है। राज्य का यह आभार होगा कि वह विनाश, *व्ययन और निर्यात से इनकी रक्षा करे। अनुच्छेद ५१ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा* की उन्नति से सम्बन्ध रखता है। इसमें कहा गया है कि -

"राज्य—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का;

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का,

(ग) सघटित लोगों के, एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संधि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का; तथा

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटारे के लिए प्रोत्साहन देने का, प्रयास करेगा।"

निर्देशक तत्त्वों का संविधानिक महत्त्व—राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इनमें केवल कुछ पवित्र इच्छाओं का ही उल्लेख-मात्र है। *प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने संविधान के अध्याय ४ को, जिसमें राज्य* की नीति के निर्देशक तत्वों का वर्णन किया गया है, आलोचना करते हुए लिखा है कि "इसमें कुछ उदात्त, प्रलाप, बहुत-सी पवित्र इच्छाएँ और कुछ ऐसे अधिकार *जिनकी संविधान द्वारा गारण्टी दी जा सकती थी, समाविष्ट है"*[१] स्त्रियों और पुरुषों को समान काम के लिए समान वेतन मिले, इसकी न केवल संविधान द्वारा गारण्टी ही दी जा सकती है, अपितु इसे कानून द्वारा परिवर्तित भी किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध निर्देशक तत्वों में न होकर यदि मूल अधिकारों में समाविष्ट होता, तो कहीं अधिक श्रेयस्कर था।

---

१. प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा—"इण्डियन जर्नल ऑफ पालिटिकल साइन्स", "सम आस्पेक्टस आफ दी इण्डियन कन्स्टीट्यूशन भाग ३०, अंक ३", पृ० ९८।

राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्त्व बहुत अस्पष्ट हैं। संविधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख कर दिया है कि "इन उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी", परन्तु इसके साथ-ही-साथ यह भी साफ-साफ कह दिया गया है कि ये तत्त्व "देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्त्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।" इस प्रसंग में 'मूलभूत' का क्या अभिप्राय है?

इनमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त आलोचना में सत्य का एक बहुत बड़ा अंश है, लेकिन हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि राज्य की नीति के इन निर्देशक-तत्त्वों में कुछ श्रेष्ठ आदर्श निहित हैं। इन आदर्शों का संविधान में समावेश राज्य को निरन्तर इस बात की स्मृति दिलाता रहेगा कि वह इन आदर्शों की सिद्धि के लिए चेष्टाशील हो, अपनी नीतियों को इस प्रकार निर्धारित करे ताकि ये आदर्श खाली आदर्श ही न रह जाएँ अपितु मूर्तरूप धारण कर सकें। ये आदर्श किसी भी सत्तारूढ़ दल की अच्छाई और बुराई की कसौटी हो सकते हैं। जो सत्तारूढ़ दल जितना ही इन आदर्शों को मूर्तरूप देने में सफल हो, उसकी उतनी ही प्रवीणता स्वतः स्पष्ट है जनता किसी भी सत्तारूढ़ दल की नीतियों और कार्यों का सही-सही मूल्यांकन इन आदर्शों के प्रकाश में कर सकती है। इसके अलावा लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की यह अनिवार्य विशेषता है कि उसमें लोकमत समय-समय पर बदलता रहता है। फलतः यदि आज एक दल शासन की बागडोर को सम्हाल रहा है, तो कल दूसरा दल शासन की बागडोर सम्हाल सकता है, यदि आज अनुदार प्रवृत्तियों का दल सत्तारूढ़ है तो कुछ समय पश्चात् क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का दल सत्तारूढ़ हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्त्व इस बात को समाश्वस्त करते रहेंगे कि अनुदार दल अपनी नीति के निर्धारण में इन तत्त्वों का पूर्णतः उल्लंघन न करे और इसके साथ-ही-साथ क्रान्तिकारी दल अपने आर्थिक व अन्य कार्यक्रमों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह न अनुभव करे कि इस संविधान में काट-छांट करने की आवश्यकता है। श्री एम० सी० सीतलवाड़ के शब्दों में राज्य की नीति के निर्देशक-तत्त्वों के सम्बन्ध में संविधान-निर्माताओं का अवश्य ही "यह उद्देश्य था कि ये तत्त्व प्रज्वलित ज्योति के रूप में राज्य के सभी अधिकारियों का राष्ट्र-निर्माण के प्रयत्नों में मार्ग दर्शन करें और राष्ट्र शनैः शनैः समृद्धिशाली और शक्तिशाली बने जिससे वह विश्व के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सके।"[1]

---

१. श्री एम० सी० सीतलवाड़—"भारतीय संविधान (भाषण माला) के अन्तर्गत 'राज्य की नीति के निर्देशक-तत्त्व", पृ० १४।

११६. भारत—एक धर्म-निरपेक्ष राज्य

धर्म-निरपेक्ष राज्य क्या है ?—भारत के नए संविधान की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि उसका उद्देश्य देश में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है। धर्म-निरपेक्ष राज्य की मान्यता आज के राजनीतिक दर्शन में एक विशेष महत्त्व रखती है। पश्चिम के लगभग सभी राज्य धर्म-निरपेक्ष हैं। धर्म-निरपेक्षता के आधार पर भारत के नए संविधान की रचना करके संविधान निर्माताओं ने भारत को संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों की पंक्ति में ला खड़ा किया है। कुछ लोगों की धारणा है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म-विरोधी होता है, परन्तु यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। वस्तुतः यह राज्य "न धार्मिक होता है, न अधार्मिक होता है अपितु वह धार्मिक रूढ़ियों से सर्वथा विमुक्त रहता है और इस प्रकार धार्मिक मामलों में उसके क्रियाकलाप पूर्णतः तटस्थ होते हैं।"[1]

धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ—धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म को एक वैयक्तिक मामला माना जाता है। किसी व्यक्ति का गीता पर विश्वास है या कुरान पर, मुहम्मद पर या ईसा पर, इससे राज्य को क्या लेना-देना ? चाहे तो कोई व्यक्ति मस्जिद में नमाज पढ़े, गिरजे में अपना पाप स्वीकार करे अथवा मन्दिर में ध्यानमग्न हो, राज्य का इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। व्यक्ति की पुनर्जन्म, आत्मा के अमरत्व और स्वर्ग-नर्क के विषय में क्या धारणाएँ हैं, राज्य इसकी कोई चिन्ता नहीं करता। धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपना धर्म पालने का अधिकार होता है, राज्य स्वयं को किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं करता क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि अन्य धर्मों के विकास का पथ अवरुद्ध हो जाएगा। राज्य का सब धर्मों के ऊपर समान अनुग्रह रहे, यह धर्म-निरपेक्ष राज्य का मूल सिद्धान्त है। इस राज्य में धर्म किसी व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड नहीं होता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का उल्टा, धर्म सापेक्ष राज्य—सच तो यह कि धर्म-निरपेक्ष राज्य ही लोकतन्त्रात्मक राज्य है। इस राज्य का उल्टा धर्म-सापेक्ष या थियोक्रेटिक राज्य होता है। इस राज्य में शासन को ईश्वर का अंश माना जाता है। नागरिकों के लिए यह आवश्यक होता है कि वे शासक के प्रति इसी प्रकार निष्ठा रखें, उसे ईश्वर के समान पूजनीय मानें। थियोक्रेटिक राज्य एक धर्म विशेष से सम्बद्ध होता है और उसके कायदे-कानून धर्म-पुस्तकों के अनुसार निर्मित होते हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही देशों में इस प्रकार के राज्य रहे हैं।

---

१. वेंकटरमन—"ए ट्रीटाइज आन सेकुलर स्टेट", पृ० १।

भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की आवश्यकता—भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्ष राजतन्त्र की पुरःस्थापना का मन्तव्य बिलकुल स्पष्ट है। आजादी की लड़ाई के दौरान में जिस साम्प्रदायिक त्रिभुज का यहाँ विकास हुआ और जिसके कारण देश खण्डित हुआ व मानव-रक्त की सरिता बही, उसकी सबसे बड़ी चेतावनी यही है कि धर्म और राजनीति का समन्वय धर्म और राजनीति दोनों के लिए ही विनाशकारी है। इसके अलावा भारत में कई धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं। ऐसी दशा में राज्य स्वयं को किसी एक धर्म विशेष, चाहे वह धर्म हिन्दू धर्म ही क्यों न हो, के साथ कैसे सम्बद्ध कर सकता है? राज्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सब धर्मों के प्रति सम-दृष्टि रखे अर्थात् धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को अपनाए।

धर्म-निरपेक्षता और भारतीय संविधान—भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को कहाँ तक अपनाया गया है? संविधान की प्रस्तावना में ईश्वर की कोई चर्चा नहीं है और न किसी धार्मिक भावना को ही कोई स्थान दिया गया है। भारतीय गणराज्य का उद्देश्य देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना करना निश्चित किया गया है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मूलमन्त्रों—स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता-को भी प्रस्तावना में जोड़ दिया गया है। स्वतन्त्रता और समानता शब्दों की तो वैधानिक महत्ता है और बन्धुता एक नैतिक मूल्य है। 'धर्म' शब्द युग-युगान्तर से हिन्दू विधान का उद्गम रहा है। प्रस्तावना में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

नागरिकता का आधार धर्म नहीं—संविधान के भाग दो में नागरिकता के आधार और नियम का वर्णन किया गया है। नागरिकता धर्म, वंश और रंग के आधार पर नहीं अपितु प्रादेशिक आधार पर निर्भर है। संविधान ने भारत राज्य क्षेत्र में जन्म, अधिवास और निवास को ही नागरिकता की कसौटी माना है। संविधान के भाग तीन में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है। इन अधिकारों को समता अधिकार, स्वातन्त्र्य-अधिकार, संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार आदि विभिन्न भागों में बाँट दिया गया है। इन अधिकारों में वे अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जिन्होंने धार्मिक परम्पराओं द्वारा आरोपित भेदभावों का अन्त कर दिया है।

धार्मिक भेदभावों का अन्त—अनुच्छेद १५ जाति, लिंग, मूलवंश या जन्म के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है। सड़कों, कुओं और स्नानघाटों जैसे सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का जनता के सभी वर्गों को अधिकार दे दिया गया है। यही सिद्धान्त राज्याधीन नौकरी के विषय में भी लागू होता है। अनुच्छेद १७ में कहा गया है कि "अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" वास्तव में अस्पृश्यता भारतीय समाज का और

विशेष रूप से हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा कलंक रहा है। इसका अन्त करके संविधान ने धर्म-निरपेक्षता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा को दूर कर दिया है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार—संविधान के अनुच्छेद २५-२८ धर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए वे नए धर्म-निरपेक्ष राज्य की आधार-शिला है। सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन राज्य को किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं के विनिमय और नियन्त्रण से, चाहे वे धार्मिक आचरण से ही सम्बद्ध क्यों न हों, वंचित रखा गया है। राज्य को ऐसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है जो "सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करते हों, अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलते हों।" सिक्खों को कृपाण धारण करने का अधिकार दे दिया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों और प्राइवेट धार्मिक संस्थाओं को सम्पत्ति के उपार्जन, स्वामित्व और प्रशासन करने का अधिकार दे दिया गया है। कोई भी नागरिक ऐसे करों को देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिसके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिए गए हों। राज्यनिधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली शिक्षा-संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा ऐसी शिक्षा-संस्था में की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिए शिक्षार्थियों को बाध्य नहीं किया जा सकता लेकिन यदि वे स्वेच्छा से चाहें तो भाग ले सकते हैं।

अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण—अनुच्छेद २९ और ३० में अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिए उपबन्ध निर्धारित किए गए हैं। नागरिकों के किसी विभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है उसे बनाए रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा। धर्म या भाषा पर आधारित समस्त अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है। शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह विद्यालय धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। इन समस्त उपबन्धों का लक्ष्य यही है कि धार्मिक मामलों में बिना किसी बाध्यता के ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा का अधिकाधिक विस्तार हो सके।

अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध—संविधान के भाग १६ में अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में कतिपय विशेष उपबन्धों का उल्लेख है। कहा जा सकता है कि ये उपबन्ध धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशुद्ध विचारधारा के प्रतिकूल पड़ते हैं। परन्तु इन उपबन्धों का उतना सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं, जितना व्यावहारिक महत्त्व है। ये उपबन्ध स्थायी नहीं रहेंगे। अनुसूचित जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं, वे नाना प्रकार की निर्योग्यताओं की शिकार हैं। यदि उनके लिए विशेष उपबन्ध नहीं किए जाते तो फिर उनकी उन्नति कैसे होगी ? जैसे ही वे उन्नति की दौड़ में भारत के शेष वर्गों को पकड़ लेंगी, ये उपबन्ध समाप्त कर दिए जाएंगे।

११७. भारत-संघ

भारत में संघीय विचार की वृद्धि—यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारत में उच्च-कोटि की केन्द्रित, एकात्मक शासन-प्रणाली स्थापित कर दी थी, फिर भी यह बराबर अनुभव किया जा रहा था कि भारत जैसे विशाल देश के लिए जहाँ जातियों, धर्मों और भाषाओं की विभिन्नता विद्यमान है, अतिशय केन्द्रीकरण किसी भी दशा में उपयुक्त नहीं है। माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भविष्य में भारत को राज्यों के एक संघ के रूप में सगठित करने की चर्चा की गई थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत को एक सघ के रूप में सगठित करने की बात पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया था। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय सघ की स्थापना का प्रस्ताव किया, लेकिन इस सघ का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माताओं ने सघवाद को देश के नए सविधान के ढांचे के आधार-रूप में स्वीकार किया।

भारतीय सविधान की संघीय विशेषताएँ—सविधान संघ ने (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया है। वह भारत को 'राज्यों की एक यूनियन' कहता है।[1] फिर भी उसमें सघीय राजतन्त्र की मुख्य विशेषताएँ विद्यमान है। संविधान ने संघ-सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण कर दिया है। सघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची ने प्रत्येक सरकार के क्षेत्र को निश्चित कर दिया है। साधारण परिस्थितियों में राज्य सघ-सरकार के नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है। दूसरे शब्दों में, राज्य भारत सघ के स्वायत्त एकक है। संघ और राज्य दोनों ही अपनी शक्तियाँ सीधे सविधान से प्राप्त करते है। दूसरे, सविधान देश का सर्वोच्च कानून है। उसके उपबन्ध सब सरकारों के ऊपर लागू है और संघ सरकार

१. हिन्दी में Federation और Union दोनों के लिए 'सघ' शब्द का प्रयोग चालू है।

या राज्य सरकारों में से कोई भी उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, कोई सरकार केवल अपनी ही सत्ता पर शक्तियों के वितरण में हेरफेर नहीं कर सकती। तीसरे, संविधान लिखित और कठोर है। चौथे, भारत को एक स्वतन्त्र न्यायपालिका प्राप्त है जो संविधान की निर्वाचिका और अभिभाविका के रूप में कार्य करती है। यदि संघीय संसद अथवा राज्य विधान मण्डलों द्वारा पास किया गया कोई कानून संविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल पड़ता है, तो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं।

संविधान की सबल एकात्मक अभिनति—लेकिन हमारे संविधान ने संघवाद के नियत सिद्धान्तों में इतना फेरफार कर दिया है कि उसे केवल अर्धसंघीय संविधान ही कहा जा सकता है। भारत "सारभूत एकात्मक विशेषताओं सहित संघीय राज्य होने की अपेक्षा सारभूत संघीय विशेषताओं सहित एकात्मक राज्य अधिक है।" यह स्मर्तव्य है कि प्रारूप समिति ने संविधान को संघीय कहना पसन्द नहीं किया। इसके विपरीत उसने सोचा कि "भारत को यूनियन कहने में लाभ है यद्यपि संविधान देखने में संघीय हो सकता है।" इस प्रकार संविधान देखने में संघीय, पर वास्तव में एकात्मक है। न केवल संविधान की भाषा में ही, अपितु उसकी भावना में भी मुख्य बल एकरूपता पर दिया गया है जो राज्यों के मूल्य पर यूनियन को शक्तिशाली बनाती है। संविधान की सबल एकात्मक अभिनति निम्न विशेषताओं से स्पष्ट है—

शक्तिशाली केन्द्र—सबसे पहली बात तो यह है कि संविधान एक शक्तिशाली केन्द्र का सृजन करता है। यह इसलिए किया गया, क्योंकि जिस समय संविधान बना, देश की स्थिति बड़ी खराब थी और संविधान निर्माताओं के देश ने इतिहास की इस शिक्षा को याद रखा कि "केन्द्र कमजोर होने पर हमारा नाश हो जाता है।" फलतः शक्तियों के तिहरे वितरण में सबसे महत्वपूर्ण विषय संघ-सूची में रखे गए हैं। संघ सूची तीनों सूचियों में सबसे लम्बी सूची है और उसमें ६७ विषय शामिल हैं। इसके अलावा समवर्ती सूची में वे ४७ विषय शामिल हैं जिनके ऊपर संघ सरकार आवश्यकता पड़ने पर विधायक और प्रशासनिक अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग कर सकती है और ऐसा करने में राज्य सरकारों की शक्ति का अतिक्रमण कर सकती है। संविधान अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र में निहित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे टिपीकल संघ में अवशिष्ट शक्तियाँ अवयवी एककों को दी जाती हैं तथा संघीय सरकार को अत्यन्त मर्यादित और उल्लिखित शक्तियाँ सौंपी जाती हैं। भारतीय संघ अमेरिकन संघ की अपेक्षा कनाडियन संघ के अधिक निकट है।

संघ और राज्यों के लिए एक संविधान—दूसरी बात यह है कि भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की तरह अवयवी एककों को अपने निजी

संविधान बनाने का अधिकार नहीं दिया गया है। भारत की संविधान सभा संघ और राज्यों दोनों के लिए एकमात्र संविधान-संविधायी सत्ता थी। डॉ० अम्बेदकर के शब्दों में "संघ और राज्यों दोनों का संविधान एक ही है जिससे कोई बाहर नहीं निकल सकता और जिसके अन्दर रहकर काम करना उनके लिए आवश्यक है।"[१]

दुहरी नागरिकता का अभाव – तीसरी बात यह है कि भारत का संविधान दुहरी नागरिकता को मान्यता नहीं देता। इस दृष्टि से हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से बिलकुल भिन्न है। अमेरिका में प्रत्येक नागरिक न केवल समग्र देश का ही नागरिक होता है अपितु वह अपने विशेष राज्य की नागरिकता का भी उपभोग करता है। अमेरिका में राज्य बहुधा अपने नागरिकों के साथ पक्षपात करते हैं, उन्हें कतिपय ऐसे अधिकार और विशेषाधिकार दे देते हैं, जिन्हें वे उन व्यक्तियों को जो उनके नागरिक अथवा निवासी नहीं हैं, नहीं देते या कठिनता से देते हैं। भारत में हमें एकल नागरिकता के साथ दुहरा राजतन्त्र प्राप्त है। "भारतवर्ष में केवल एक नागरिकता है। वह भारतीय नागरिकता है। यहाँ राज्य-नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के एक से अधिकार प्राप्त है, चाहे वह किसी भी राज्य में क्यों न रहता हो।"

आपात-काल में संविधान एकात्मक हो सकता है—चौथी बात यह है कि आदर्शभूत संघ में दृढ़ता होती है, चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न हों, उसे एकात्मक नहीं बनाया जा सकता। "इसके विपरीत भारतीय संविधान समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार एकात्मक और संघीय दोनों प्रकार का हो सकता है।" साधारण परिस्थितियों में वह संघीय प्रणाली के रूप में कार्य करेगा। लेकिन युद्ध और दूसरे राष्ट्रीय संकट-कालों में उसे बिना किसी औपचारिक संशोधन की आवश्यकता के एकात्मक प्रणाली के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यह भारतीय संविधान की अद्वितीय विशेषता है। आपात की उद्घोषणा निकालकर भारत संघ का राष्ट्रपति ऐसी असाधारण शक्तियाँ धारण कर सकता है जिनके फलस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो सकती है। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में संघ की कार्यपालिका वांछित राज्यों तक विस्तृत हो जाती है और संसद राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर भी कानून बनाने में समर्थ हो जाती है। यदि किसी राज्य का राज्यपाल या राज-प्रमुख राष्ट्रपति से इस बात की रिपोर्ट कर दे कि राज्य में संविधान के उपबन्धों के अनुसार शासन नहीं चलाया जा सकता, तब भी यही प्रभाव होगा। तब राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकता है

१. "कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, भाग ८", पृ० ३४।

और घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण से सम्बद्ध संविधान के उपबन्धों को भी मनोवित्त कर सकता है।

साधारण परिस्थितियों में भी संघ की शक्तियां बढ़ायी जा सकती हैं—पाँचवीं बात यह है कि संघ की विधायनी शक्ति साधारण परिस्थितियों में भी राज्यों के मूल्य पर बढ़ायी जा सकती है। साधारणतः राज्य-विधान मण्डलों को राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर अपवर्जी अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। लेकिन यदि राज्य-परिषद् दो-तिहाई बहुमत से समर्थित प्रस्ताव के द्वारा यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संघीय संसद का इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बनाना आवश्यक है, तो संघीय संसद इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बना सकती है।

संसद राज्यों के प्रदेशों का पुनर्वितरण कर सकती है—छठी बात है कि भारत संघ के एककों के प्रदेश अलंघनीय नहीं हैं। संघीय संसद (क) किसी राज्य से उसका कोई प्रदेश अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को मिलाकर नया राज्य बना सकती है, (ख) किसी राज्य के क्षेत्र को घटा या बढ़ा सकती है, और (ग) किसी राज्य की सीमाओं या उसके नाम को बदल सकती है। संविधान के अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि ये परिवर्तन उसी समय किए जा सकते हैं जब कि संसद राष्ट्रपति द्वारा सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यों के विचारों को निश्चित रूप से जान लेने के पश्चात् उसकी सिफारिश पर इस प्रयोजन के लिए एक विधेयक पास कर दे।

राज्य परिषद् में राज्यों का प्रतिनिधित्व—सातवीं बात यह है कि संविधान ने राज्य-परिषद् में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया है। अमेरिका स्विट्जरलैण्ड, सोवियत रूस और दूसरे टिपीकल संघों में अवयवी एककों को संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन में विस्तार और जनसंख्या के भेदों पर बिना कोई ध्यान दिए समान संख्या में स्थान देकर कानूनी समानता प्रदान की गई है।

राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति—आठवीं बात यह है कि संविधान ने निर्धारित किया है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होंगे। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करेंगे। संविधान में उपबन्ध न की हुई किसी आकस्मिकता में राज्य के राज्यपाल के कृत्यों के निर्वहन के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे, वैसा उपबन्ध बना सकेगा। यह एक और तथ्य है जो केन्द्र को राज्यों के प्रशासन पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति देता है, और इसलिए सच्चे संघवाद की भावना से प्रतिकूल है। इस दृष्टि से भी भारतीय संविधान अमेरिकन संविधान की तुलना में कनाडियन संविधान के अधिक निकट है।

संविधान मूलभूत मामलों में एकरूपता स्थिर करता है—नवीं बात यह है कि

कतिपय संघों में दुहरा राजतन्त्र "कानूनों प्रशासन और न्यायिक संरक्षण में विविधता उत्पन्न कर देता है।" डाक्टर अम्बेदकर के अनुसार "एक विशेष सीमा तक तो यह विविधता बुरी नहीं है। इसका स्वागत किया जा सकता है, एक ऐसी चेष्टा के रूप में जो सरकार की शक्तियों को स्थानीय आवश्यकताओं व परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्थित करती है। लेकिन निश्चित सीमा से आगे बढ़ने पर यही विविधता अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है और इसने बहुत से संघीय राज्यों में अव्यवस्था उत्पन्न की है।" अमेरिका में औद्योगिक व्यवस्थापन के क्षेत्र में यह अव्यवस्था स्पष्ट है। भारत में संविधान उन समस्त मूलभूत मामलों में जो देश की एकता को बनाए रखने के लिए अनिवार्य हैं, एकरूपता स्थिर करता है। यह तीन उपायों द्वारा किया गया है—(क) एक न्यायपालिका, (ख) मूलभूत, दीवानी और फौजदारी कानूनों की एकरूप प्रणाली, तथा (ग) सामान्य अखिल भारतीय सेवाएँ। हमारे संविधान के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय एक अखण्ड न्यायपालिका का निर्माण करते हैं। दीवानी और फौजदारी कानून व प्रक्रिया की एकरूपता इन विषयों को समवर्ती सूची में रखकर निश्चित की गई है। इसी प्रकार प्रशासनिक एकरूपता अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों को संघ व राज्यों में मुख्य पदों पर रखकर और राष्ट्रीय महत्त्व के समस्त विषयों में संघीय सरकार व राष्ट्रपति को "पहल का पर्याप्त क्षेत्र देकर सुनिश्चित की गई है।"

भारत की संघीय प्रणाली में कठोरता नहीं है—दसवीं और अन्तिम बात यह है कि भारत की संघीय प्रणाली संसार के अधिकांश दूसरे संघीय राज्यों की तरह कठोर नहीं है। न उसे अतिशय कानूनवाद से दुर्बल ही बना दिया गया है। यह हम पहले देख ही चुके हैं कि हमारे संविधान के संघीय ढांचे को राष्ट्रीय आपात की दशाओं में बिना किसी औपचारिक संशोधन के किस प्रकार एकात्मक ढांचे में बदला जा सकता है। भारत के संविधान में संशोधन करना अमेरिका के संविधान में संशोधन करने की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है। संक्षेप में, भारत की संघीय पद्धति के बारे में अन्तिमता का कोई भाव नहीं है। इसलिए हम डाक्टर डी० एन० बैनर्जी के स्वर में स्वर मिला कर यह कह सकते हैं कि "भारत का संविधान निश्चित एकात्मक अभिरुचि सहित देखने में संघीय है।"

संघीय कार्यपालिका

११८. राष्ट्रपति

भारत-संघ की कार्यपालिका शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है और वह इसका प्रयोग संविधान के उपबन्धों के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदा-

धिकारियों के द्वारा कर सकता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन परोक्ष रीति से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के द्वारा एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करते हैं जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। इस निर्वाचक-गण के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयुक्त मतों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि संसद के दोनों सदनों की मत-संख्या समस्त राज्यों की विधान सभाओं की मत-संख्या के समान हो। किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होते हैं कि एक हजार के गुणित, उस भागफल में हो जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए। संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वही होती है जो समस्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिए नियत सम्पूर्ण मत-संख्या को, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए।

प्रत्यक्ष निर्वाचन को न अपनाने के कारण—यह कहा गया है कि भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए अंगीकृत प्रणाली वैधानिक पद्धति के लिए एक मौलिक देन है। इस प्रश्न पर संविधान सभा में काफी वाद-विवाद हुआ। कतिपय सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में थे। उनका तर्क था कि इस प्रकार की प्रणाली अधिक लोकतन्त्रात्मक होगी और राष्ट्र राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष चुनाव करने में समर्थ हो सकेगा। लेकिन अन्त में परोक्ष-प्रणाली को ही अपनाया गया। इसके कई कारण थे। पहला कारण था कि प्रत्यक्षतः निर्वाचित राष्ट्रपति संसदीय लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं होता क्योंकि संसदीय लोकतन्त्र में वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रयुक्त होती है। "राष्ट्रपति का वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचन, जबकि उसे केवल वैधानिक प्रधान ही होना है, बिलकुल व्यर्थ समझा गया।"[1] संविधान निर्माताओं को भय था कि हो सकता है कि प्रत्यक्षतः निर्वाचित राष्ट्रपति वैधानिक शासक-मात्र की स्थिति से सन्तुष्ट न हो। यदि कहीं उसने वास्तविक शक्तियाँ अपने हाथों में लेने की कोशिश की तो मन्त्रिमण्डल के साथ उसका मतभेद हो जाएगा और इसके फलस्वरूप वैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा। इसके अलावा यह भी भय था कि १८ करोड़ मतदाताओं वाले देश में राष्ट्रपति का राष्ट्रव्यापी प्रत्यक्ष निर्वाचन विपुल व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी कर देगा। दूसरा विकल्प यह सोचा गया था कि राष्ट्रपति अकेले संसद द्वारा ही निर्वाचित हो सकता है। लेकिन इस

१. के० सन्थानम—"दी कान्स्टीट्यूशन आफ इंडिया", पृ० ६८।

प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि वह राष्ट्रपति को बहुमत वाले दल के हाथों का खिलौना बना देता और उसे "स्वतन्त्रता व महिमा के समस्त प्रदर्शन से वंचित कर देता।"[१] अतः संविधान में निश्चित प्रणाली को इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस प्रकार से निर्वाचित राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगा और साथ-ही-साथ वैधानिक शासक भी बना रहेगा।

अर्हताएँ—संविधान ने निश्चित किया है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा जब तक कि वह (क) भारत का नागरिक न हो, (ख) ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो, (ग) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो और (घ) भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद न धारण किए हुए हो। इसका अभिप्राय यह है कि कोई सरकारी नौकर राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने का पात्र नहीं है। लेकिन यह नियम उस व्यक्ति के ऊपर लागू नहीं होता, जो संघ के राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख का पद धारण किए हुए है। (ङ) संविधान के अनुसार यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन का और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि संसद के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाए, तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

उसकी पदावधि और उपलब्धियाँ—राष्ट्रपति पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है। परन्तु वह अपनी पूर्ण पदावधि की समाप्ति के पूर्व त्यागपत्र दे सकता है अथवा महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति पुन-निर्वाचन का पात्र है। वह विभिन्न भत्तों के अलावा १०,००० रुपए प्रतिमास वेतन प्राप्त करता है। उसे बिना किराया दिए सरकारी पदावास के उपयोग का भी हक है।

राष्ट्रपति की पद-च्युति—जब तक कि राष्ट्रपति अपनी पदावधि की समाप्ति के पूर्व अपने पद से त्यागपत्र न दे दे, उसे 'संविधान के अतिक्रमण के लिए' महाभियोग के अलावा अन्य किसी उपाय द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सकता। महाभियोग एक प्रकार का संसदीय मुकदमा है। दोषारोप दो तिहाई बहुमत से पास किए गए किसी प्रस्ताव में संसद के किसी भी सदन द्वारा उपस्थित किए जा सकते हैं। दूसरा सदन दोषारोपों की छान-बीन करेगा और यदि वह दो-तिहाई बहुमत से पास किए गए

१. वहीं, पृ० ४८।

प्रस्ताव में यह घोषित कर दे कि दोषारोप सिद्ध हो गए हैं, तो राष्ट्रपति अपने पद को रिक्त कर देगा।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ : (क) कार्यकारी शक्तियाँ—संविधान संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। भारत सरकार के समस्त कार्यकारी कृत्य राष्ट्रपति की ओर से और राष्ट्रपति के नाम में सम्पादित होते हैं। राज्यों के राज्यपालों, भारत के राजदूतों और दूसरे कूटनीतिक प्रतिनिधियों, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति व दूसरे न्यायाधीशों, भारत के महान्यायवादी और नियन्त्रक, महालेखा-परीक्षक तथा संघ लोक सेवा-आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों आदि की नियुक्तियाँ राष्ट्रपति ही करता है। प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त कमिश्नर अथवा लैफ्टिनेंट गवर्नर करते हैं। राष्ट्रपति सरकार की कार्यवाही के सम्यक् सचालन के लिए नियम बना सकता है।

(ख) विधायिनी शक्तियाँ—संविधान राष्ट्रपति में विशाल विधायिनी शक्तियाँ भी निहित करता है। राष्ट्रपति वर्ष में कम-से-कम दो बार संसद को आहूत करता है। वह संसद के किसी भी सदन का सत्रावसान और लोकसभा का विघटन कर सकता है। यदि संसद के दोनों सदन किसी विधेयक पर एकमत न हो सके, तो वह उनकी संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है। राष्ट्रपति राज्य-परिषद् के १२ सदस्य भी मनोनीत कर सकता है। वह चाहे तो संसद के दोनों सदनों को पृथक् रूप से और चाहे तो उन्हें संयुक्त रूप से सम्बोधित कर सकता है। वह संसद के जिस सदन को चाहे सन्देश भेज सकता है। संसद के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ होने पर राष्ट्रपति एक भाषण देता है। यह भाषण ब्रिटिश सम्राट् द्वारा संसद में दिए गए भाषण के तुल्य होता है।

राष्ट्रपति का स्थगन-निषेधाधिकार—संसद द्वारा पास किया गया कोई विधेयक उस समय तक अधिनियम नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाए। राष्ट्रपति किसी विधेयक पर, यदि वह धन विधेयक नहीं है, चाहे तो अपनी अनुमति दे सकता है और चाहे तो उसे रोक सकता है। लेकिन, यदि उस विधेयक को (जिस पर राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति नहीं दी है और जिसे उसने पुनर्विचार के लिए संसद के पास लौटा दिया है) संसद के दोनों सदन राष्ट्रपति के सन्देश में सुझाए गए संशोधन के सहित या रहित पुन. पास कर दे, तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति—संविधान ने संसद के विश्रान्ति काल में राष्ट्रपति को अध्यादेश-प्रख्यापन की भी शक्ति प्रदान की है। अध्यादेश एक विशेष प्रकार का सकटकालीन कानून होता है। अध्यादेश का बल और प्रभाव संसद के अधिनियम के तुल्य ही होता है। किन्तु अध्यादेश के लिए यह आवश्यक है कि वह

संसद के पुनः समवेत होने पर उसके दोनों सदनों के समक्ष रखा जाए। अध्यादेश संसद के पुनः समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा इस कालावधि से पूर्व दोनों सदनों द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास कर देने पर प्रवर्तन में नहीं रहता।

(ग) वित्तीय शक्तियाँ—राष्ट्रपति को कतिपय महत्त्वपूर्ण वित्तीय शक्तियाँ भी दी गई हैं। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में राष्ट्रपति संसद के समक्ष 'वार्षिक वित्त-विवरण' अथवा वह बजट जो भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय को प्रकट करता है, रखवाता है। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना कोई भी धन विधेयक संसद में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच करों के वितरण के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समय-समय पर एक वित्त आयोग भी नियुक्त कर सकता है।

(घ) कानूनी विमुक्तियाँ और न्यायिक परमाधिकार—राष्ट्रपति कतिपय कानूनी विमुक्तियों और न्यायिक परमाधिकारों का उपभोग करता है। वह अपने पद की शक्तियों और कर्तव्यों के निर्वहन के लिए किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं है। वह केवल महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा ही सिद्धदोष ठहराया जा सकता है। उसकी पदावधि में उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार की फौजदारी प्रक्रियाएँ नहीं लाई जा सकतीं। राष्ट्रपति को उन अवस्थाओं समेत जिनमें कि दण्डादेश मृत्यु का हो, कतिपय स्थितियों में सिद्धदोष व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की अथवा दण्डादेश का निलम्बन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधिपति व न्यायाधीशों को नियुक्त करता है।

(ङ) राष्ट्रपति की आपात-शक्तियाँ—नए संविधान के सर्वाधिक विवादास्पद पहलुओं में से एक संघीय कार्यपालिका में निहित विपुल आपात शक्तियों से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रपति तीन प्रकार की आपातों का सामना करने के लिए इन असाधारण शक्तियों का प्रयोग कर सकता है, (१) युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति से उत्पन्न आपातें, (२) राज्यों में वैधानिक तन्त्र विफल हो जाने से उत्पन्न आपातें और (३) वित्तीय आपातें।

(१) आपात की उद्घोषणा—पहले प्रकार की आपात के सम्बन्ध में संविधान ने निर्धारित किया है कि यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशान्ति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है। यह स्मर्तव्य है कि राष्ट्रपति इस प्रकार की उद्घोषणा युद्ध या बाह्य आक्रमण

या आभ्यन्तरिक अशान्ति के घटित होने के पूर्व भी निकाल सकता है। आपात की उद्घोषणा निकालने के राष्ट्रपति के निर्णय को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और कोई आपात उपस्थित है या नहीं, इसका निर्णय एक-मात्र राष्ट्रपति के हाथों में है। लेकिन राष्ट्रपति का अधिकार संसद के नियन्त्रण का विषय है। आपात की उद्घोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है और वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्त्तन में नहीं रहती जब तक कि उसका उस कालावधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए।

आपात की उद्घोषणा का प्रभाव—राष्ट्रपति द्वारा की गई आपात की उद्घोषणा का सुदूरव्यापी वैधानिक प्रभाव होगा। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है संसद को सम्पूर्ण देश के लिए अथवा उसके किसी भाग के लिए उन विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार होगा जो कि राज्य-सूची में प्रगणित है। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका-शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। दूसरे शब्दों में संघीय विधान मण्डल और कार्यपालिका को राज्यों के विधान मण्डलों और कार्यपालिकाओं के कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। अपरञ्च, आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति को संघ और राज्यों के बीच राजस्व के साधारण वितरण का संशोधन करने की शक्ति दे देगी। इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के प्रभावस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जाएगी तथा देश का संघीय ढांचा एकात्मक ढांचे के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इतना ही नहीं, आपात की उद्घोषणा संविधान द्वारा गारंटी किए गए भारत के नागरिकों के कतिपय महत्त्वपूर्ण अधिकारों अर्थात् भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता, भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता तथा वृत्ति, उपजीविका, कारबार और व्यापार करने की स्वतन्त्रता को स्थगित कर देगी। साधारण परिस्थितियों में ये अधिकार समर्थनीय है और नागरिक उन्हें प्रवर्तित कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों की शरण तक ले सकते है। लेकिन जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, राष्ट्रपति नागरिकों के इस अधिकार को स्थगित कर सकता है।

स्पष्ट है कि संविधान आपातों का सामना करने के लिए संघीय कार्यपालिका को बहुत प्रबल शक्तियां प्रदान करता है। आलोचकों का कहना है कि ये शक्तियां लोकतंत्र के प्रतिकूल है। जब आपात शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध पास किए जा रहे थे, विधान सभा के एक सदस्य ने कहा था—"यह लज्जा का दिन है। ईश्वर ही भारतीय जनता को बचाए।" एक अन्य सदस्य ने अनुच्छेद ३५२ के बारे में जो राष्ट्रपति को

नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन का निलम्बन करने की शक्ति देता है, कहा कि "यह अनुच्छेद संविधान के सर्वाधिक प्रतिगामी अध्याय की शानदार पराकाष्ठा और सबसे बड़ी महिमा है।" आपात काल में नागरिकों को उनके मूल अधिकारों से वंचित करने की शक्ति के द्वारा देश के ऊपर तानाशाही शासन लादा जा सकता है। जर्मनी के तथाकथित लोकतन्त्रात्मक वीमर संविधान के अनुच्छेद ४८ ने जर्मन राष्ट्रपति को यह शक्ति दी थी कि वह घोर संकट की स्थिति में नागरिकों के मूल अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। हिटलर ने इस शक्ति का मनचाहा प्रयोग कर जर्मनी में अपने निरंकुश शासन की जड़ जमायी। तथापि यह स्मर्तव्य है कि आपातों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार के उपबन्ध बहुत से लोकतन्त्रात्मक राज्यों के संविधानों में पाए जाते हैं। इनकी इस आधार पर प्रतिरक्षा की जाती है कि व्यक्ति के अधिकार अमर्यादित नहीं हैं और राज्य की सुरक्षा की तुलना में उनका महत्त्व कम है। वी०एन० शुक्ला ने लिखा है, "ये उपबन्ध कठोर मालूम हो सकते हैं, विशेष रूप से एक ऐसे संविधान में जो लोकतन्त्र व मूल अधिकारों की नींव के ऊपर निर्मित होने की घोषणा करता है। लेकिन इन उपबन्धों का भारत के अतीतकालीन इतिहास के प्रकाश में अध्ययन करना चाहिए। जब कभी भारत की केन्द्रीय शक्ति कमजोर हुई, उसे बुरे दिनों का सामना करना पड़ा। यह अच्छा ही है कि संविधान विघटन की शक्तियों की ओर से सचेत है। राज्य के अस्तित्व तक के लिए खतरा पैदा करने वाली घटनाएँ घटित हो सकती है और यदि इस प्रकार की आकस्मिकताओं के लिए संरक्षण न हों, तो राज्य उस सबके साथ जिसे मूलभूत और अचल रखना है, समाप्त हो जाएगा।"[1]

(२) राज्यों में वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने से उत्पन्न आपात—संविधान ने निर्धारित किया है कि वाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति से रक्षा तथा राज्य की सरकार, संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलायी जाए, यह सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य है। भारत का राष्ट्रपति अपने इस कर्तव्य का अच्छी तरह से निर्वाह कर सके, इस उद्देश्य से उसे अनुच्छेद ३५६ के अधीन कतिपय विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राज्यप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है, जिसमें कि उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति इस आशय की उद्घोषणा निकाल सकता है आपात की उद्घोषणा निकालने पर राष्ट्रपति राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य तथा राज्यपाल या राजप्रमुख अथवा राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या तद्द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तियाँ

१. वी०एन० शुक्ला—"दी कांस्टीट्यूशन आफ इण्डिया", पृ०; ३३६।

अपने हाथ में ले सकेगा और घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद के अधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। राज्य का उच्च न्यायालय इस सम्बन्ध में अपवाद रहेगा। इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के समान ही राज्य में वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा भी सम्बद्ध राज्य की स्वायत्तता को निलम्बित कर देगी और उसे समस्त विधायी और कार्यकारी मामलों में पूर्णतः संघ के अधिकार के अधीन कर देगी। यह उद्घोषणा दो महीने की समाप्ति पर यदि संसद के दोनों सदनों के द्वारा अनुमोदित नहीं हो जाती, प्रवर्तन में नहीं रहेगी। यह उद्घोषणा एक बार में ६ महीने से अधिक के लिए नहीं निकाली जा सकती लेकिन इसे इस नयन अवधि की समाप्ति पर प्रति बार ६ महीने के लिए बढ़ाया जा सकता है। जितनी बार इसकी अवधि बढ़ायी जाय, उतनी बार संसद के अनुमोदन की आवश्यकता है। लेकिन ऐसी उद्घोषणा किसी भी अवस्था में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी।

अनुच्छेद ३५६ ने विधान सभा में तीखा वाद-विवाद खड़ा कर दिया। आलोचकों ने कहा कि यह १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के विभाग ९३ का पुनरधिनियमन है। इस अनुच्छेद के समर्थन में कहा गया है कि इसके अधीन आचरण करता हुआ राष्ट्रपति विभाग ९३ के अधीन आचरण करने वाले राष्ट्रपति से सर्वथा भिन्न होगा। "राष्ट्रपति केवल संघ मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर, जो संसद के प्रति उत्तरदायी है, आचरण कर सकता है। स्वयं संसद में भी उस राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य उपस्थित होंगे, जिसका शासन इस अनुच्छेद के अधीन निलम्बित किया जा सकता है। अनुच्छेद ३५६ का सीधा-सादा फल यह हुआ कि उद्घोषणा की स्थिति में राज्य का शासन अस्थायी रूप से संघ शासन में विलीन हो सकता है। यहाँ कहीं भी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारिता का कोई प्रश्न नहीं उठता। केवल राज्य की स्वायत्तता पर ही कुछ काल के लिए चोट पड़ सकती है।"[1]

(३) वित्तीय आपात – यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा को यदि दो मास की समाप्ति के पूर्व संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता, तो वह इस अवधि के गत होने पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी। यह उद्घोषणा एक बार में छः महीने से अधिक के लिए प्रवर्तन में नहीं रहेगी, लेकिन इसे संसद के अनुमोदन सहित प्रति बार छः महीने के लिए बढ़ाया जा सकता है, तथापि वह किसी भी अवस्था में तीन

१. के सन्थानम—"दी कांस्टीट्यूशन आफ इण्डिया", पृ० २२६।

साल से अधिक के लिए प्रवृत्त नहीं रहेगी।

उस कालावधि में जिसमें कि वित्तीय उद्घोषणा प्रवर्तन में है, राष्ट्रपति की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्त का पालन करने के लिए निर्देश देने तक, जैसे कि निर्देशों में उल्लिखित हों और सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सहित सरकारी नौकरों के वेतन में कमी के लिए आज्ञा देने तक होगा। वह इस बात की माँग कर सकेगा कि विधेयक स्वीकृति के लिए उसके सम्मुख उपस्थित किया जाए। इसके अलावा देश के वित्तीय स्थायित्व को पुनः जमाने के लिए वह अन्य आवश्यक उपाय भी कर सकता है।

११६. राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी है या ध्वजमात्र शासक ?

राष्ट्रपति मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करने के लिए कानूनतः बाध्य नहीं है—राष्ट्रपति ऊपर वर्णित शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करेगा? क्या ये उसकी वास्तविक शक्तियाँ हैं जिनका वह इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है? अथवा ये शक्तियाँ उसे केवल औपचारिक रूप से ही प्राप्त हैं जिनका वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार प्रयोग करने के लिए बाध्य है। विशुद्ध न्यायविद की दृष्टि रखने वाले कुछ टीकाकारों ने कहा है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो स्वेच्छाचारी शासक बन सकता है। संविधान के अनुच्छेद ५३ (१) में कहा गया है, "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा।" डा० वी० एम० शर्मा के अनुसार "इससे राष्ट्रपति को यदि वह चाहे तो सघ का केवल ध्वजमात्र शासक ही नहीं अपितु वास्तविक शासक बनने का पर्याप्त क्षेत्र मिल जाता है।"[१] यह ठीक है कि अनुच्छेद ७४ (१) ने निर्धारित किया है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।" लेकिन डा० डी० एन० बनर्जी के शब्दों में, "आवश्यक बात यह है कि क्या राष्ट्रपति अनुच्छेद ७४ (१) के अधीन अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा को समस्त परिस्थितियों में स्वीकार करने के लिए कानूनतः बाध्य है? मेरा निवेदन यह है कि वह नहीं है।"[२] विधान-सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भी यही मत व्यक्त

१. वी०एम०शर्मा०—"इण्डियन जर्नल आफ पोलिटीकल सायंस' में 'प्रेसीडेण्ट आफ इण्डिया', भाग ११", अंक ४, पृ० १।

२. डी० एन० बनर्जी—'माडर्न रिव्यू' में 'पोजीशन आफ दी प्रेसीडेण्ट आफ इण्डिया' दिसम्बर, १६५०", पृ० ४५८।

किया था। उन्होंने कहा था, "अनुच्छेद ७४ (१) यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति उस मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य होगा।" उन्होंने एक ऐसे उल्लिखित उपबन्ध के करने का सुझाव भी दिया था जिसके अनुसार राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा स्वीकार करना अनिवार्य हो जाए। लेकिन इस सुझाव को कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया।

संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य—लेकिन यह कहना कि राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है; संविधान का आवश्यकता से अधिक कानूनी दृष्टिकोण से निर्वचन करना है। संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य स्पष्ट है। उन्होंने भारतवर्ष के लिए पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् संसदीय-प्रणाली अंगीकृत की। यह निर्णय करते समय संविधान निर्माताओं ने मान लिया था कि संसदीय अथवा मन्त्रिमण्डल शासन प्रणाली की वे समस्त परम्पराएँ, जो इंगलैण्ड में प्रचलित हैं, भारत में भी प्रचलित हो जाएँगी। संसदीय शासन प्रणाली का यह सार है कि वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद् द्वारा प्रयोक्तव्य होनी चाहिए। मन्त्रिगण विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्री सदैव राज्य के ध्वजमात्र अधिकारी प्रधान के नाम में आचरण करते हैं, परन्तु यह ध्वजमात्र कार्यकारी प्रधान समस्त मामलों में अपने मन्त्रियों के परामर्श को स्वीकार करता है।

संसदीय-शासन के अभिसमय—भारत की विधान सभा के संयुक्त मन्त्री श्री आलेकल एम० एन० मुखर्जी के अनुसार "संविधान के निर्माताओं ने संविधान में इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राष्ट्रपति सदैव प्रथम मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करेगा। उन्होंने इस चीज को इंगलैण्ड की तरह अभिसमयों के ऊपर छोड़ दिया है।"[1] प्रारूप समिति के उपाध्यक्ष डा० अम्बेदकर के अनुसार, "राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अंग्रेजी संविधान में सम्राट् की। वह कार्यपालिका का नहीं, राष्ट्र का प्रधान है। वह राष्ट्र का शासन नहीं, अपितु प्रतिनिधित्व करता है। वह साधारणतः मन्त्रियों के परामर्श से बँधा होगा। वह न तो उनकी मन्त्रणा के बिना और न उनकी मन्त्रणा के प्रतिकूल ही कुछ कर सकता है।"[2] भारत के राष्ट्रपति की स्थिति अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न है। अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तविक कार्यकारी है और वह संविधान द्वारा अपने में निहित शक्तियों का स्वविवेकानुसार प्रयोग करता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने मन्त्रियों की बात माने ही माने।

राष्ट्रपति निरंकुश क्यों नहीं हो सकता—कहने का सार यह है कि संविधान

---

१. 'दी हिन्दुस्तान टाइम्स, गणराज्य-दिवस परिशिष्टांक', २६ जनवरी, १९५०।

२. "कान्स्टीट्यूएण्ट एसेम्बली डिबेटस, भाग ७", पृ० ३३।

का उद्देश्य भारत के राष्ट्रपति को प्रभूत गौरवमण्डित, परन्तु वास्तविक शक्ति से हीन बनाना है। संसदीय शासन के अभिसमयों की बात छोड़ देने पर भी राष्ट्रपति निरंकुश नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूले-भटके ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि राष्ट्रपति के लिए अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के प्रतिकूल आचरण करना सम्भव हो जाए, परन्तु यदि उद्दण्डतापूर्वक उनकी मन्त्रणा का उल्लंघन करता है, तो वे त्यागपत्र देकर वैधानिक गतिरोध पैदा कर सकते हैं। यदि संसद में उनका बहुमत है और उन्हें समग्र रूप से जनता का समर्थन प्राप्त है तो राष्ट्रपति को एक अवान्तरिक मन्त्रिमण्डल की रचना कठिन हो जाएगा। इसके अलावा अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रपति की बुद्धि ठिकाने लगाने के लिए महाभियोग का अस्त्र विद्यमान है। यदि राष्ट्रपति और मन्त्रि-मण्डल दो विरोधी राजनीतिक दलों से सम्बन्ध रखते हैं, तो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हो सकती हैं, परन्तु साधारणतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को वैधानिक प्रधान की तरह आचरण करना पड़ेगा।

१२०. उपराष्ट्रपति

उसका निर्वाचन और अर्हताएँ—नए संविधान के अधीन भारत का एक उप राष्ट्रपति होगा। वह एकल संक्रमणीय मत के द्वारा सानुपात प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्वाचित होगा। उप-राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी व्यक्ति के पास निम्न अर्हताओं का होना आवश्यक है। (१) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, (२) उसकी अवस्था पैंतीस वर्ष से अधिक की होनी चाहिए, (३) उसमें राज्य परिषद् के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता होनी चाहिए, (४) उसे भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए नहीं होना चाहिए। उस व्यक्ति को जो संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उप-राज-प्रमुख अथवा संघ का या किसी राज्य का मन्त्री है, इस नियम से छूट रहेगी।

उसके कृत्य—अमेरिका के उपराष्ट्रपति की तरह भारत का उपराष्ट्रपति पदेन संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन अर्थात् राज्य-परिषद् का सभापति होगा। यदि राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, पदच्युति या बीमारी के कारण राष्ट्रपति का पद अस्थायी रूप से रिक्त हो जाए, तो उपराष्ट्रपति नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। इस दृष्टि से वह अमेरिका के उपराष्ट्रपति से भिन्न है क्योंकि अमेरिका का उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति की मृत्यु, पदच्युति या पद-त्याग के पश्चात् शेष राष्ट्रपति पदावधि के लिए स्वतः राष्ट्रपति हो जाता है। भारत का उप-राष्ट्रपति, यदि

वह स्वयं अपना पद त्याग न करे अथवा राज्य-परिषद् के पूर्ण बहुत से पास किए गए ऐसे प्रस्ताव के द्वारा, जिस पर लोक-सभा ने भी अपनी स्वीकृति दे दी हो, अपदस्थ न कर दिया जाए, तो पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है।

१२१. मन्त्री-परिषद्

मन्त्री-परिषद् और मन्त्रिमण्डल—चूंकि राष्ट्रपति वैधानिक शासक है, इसलिए भारत संघ की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री-परिषद् है जो सिद्धान्ततः राष्ट्रपति में निहित शक्तियों का वास्तविक रूप से प्रयोग करती है। यहाँ हम मन्त्रिमण्डल और मन्त्री-परिषद् के भेद को समझ सकते हैं। संविधान में केवल मन्त्रि-परिषद् का ही उल्लेख है। मन्त्रिमण्डल एक अनुपचारिक निकाय है और उसमें सबके सब मन्त्री शामिल नहीं हैं। दूसरे शब्दों में वह मन्त्री-परिषद् का एक भाग है अथवा जैसे कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के बारे में कहा जाता है, चक्र के अन्दर एक चक्र है। मन्त्री-परिषद् में वे कई छोटे मन्त्री (राज्य-मन्त्री और उपमन्त्री) भी शामिल रहते हैं, जिन्हें कि मन्त्रिमण्डल का स्तर प्राप्त नहीं होता। मन्त्रिमण्डल मन्त्री-परिषद् की वास्तविक नीति-निर्मात्री समिति है और वह ऊँचे मन्त्रियों से मिलकर बनता है।

मन्त्री-परिषद की रचना—संविधान ने मन्त्री-परिषद् की रचना के लिए निम्न प्रक्रिया निश्चित की है। अनुच्छेद ७५ (१) कहता है, "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।" राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में अपनी वैयक्तिक रुचि-अरुचि के प्रयोग करने का अत्यल्प अवसर है। लोक-सभा में जिस दल का बहुमत है, राष्ट्रपति उसके नेता को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य है। यदि लोक-सभा में कई दल हों, और उनमें से किसी को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, उस स्थिति में राष्ट्रपति अवश्य अपनी थोड़ी-सी रुचि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग कर सकता है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के पश्चात् राष्ट्रपति को उसके द्वारा चुनी गई टीम स्वीकार करनी पड़ती है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो कि संसद के दोनों सदनों में से किसी का भी सदस्य नहीं है, मन्त्री नियुक्त किया जाता है तो उसे छः महीने की समाप्ति पर, यदि वह इसी बीच में दोनों सदनों में से किसी एक का सदस्य निर्वाचित नहीं हो जाता, अपना पद रिक्त करना पड़ेगा।

मन्त्रिमण्डल के कृत्य—संघ-शासन में मन्त्रिमण्डल की स्थिति सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी शक्तियाँ और उत्तरदायित्व अत्यन्त व्यापक हैं। उसे प्रशासनिक, व्यवस्थापक और वित्तीय मामलों का प्रबन्ध करना पड़ता है। वह मन्त्रिमण्डल ही है जो कि भारत-संघ की साधारण कार्यपालिका नीति निश्चित करता है। वह सम्पूर्ण

शासन का संचालन करता है। उसका प्रत्येक सदस्य एक या एक से अधिक विभागों का प्रधान होता है। मन्त्रिमण्डल संघीय विधान मण्डल के व्यवस्थात्मक कार्यक्रम को भी तैयार करता है। सरकारी विधेयकों को संसद में मन्त्री ही पुरःस्थापित करते हैं। वे ही उन्हें पास करवाते हैं। लोक-सभा में बहुमत होने के कारण संसद में मन्त्रिमण्डल की स्थिति अत्यन्त प्रभावपूर्ण होती है। यदि कोई प्राइवेट सदस्य किसी विधेयक को उपस्थित करता है और इस विधेयक के पीछे मन्त्रिमण्डल का समर्थन नहीं होता, तो इसके पास होने की बहुत कम संभावना समझनी चाहिए। अपरंच, मन्त्रिमण्डल को कई वित्तीय कृत्य भी करने पड़ते हैं। वह बजट तैयार करता है। वह इस बात का निश्चय करता है कि कौन-कौन से कर लगाए जाएँगे और संघ की आय किस प्रकार खर्च होगी। समस्त धन-विधेयकों का मन्त्रियों द्वारा पुरःस्थापित किया जाना आवश्यक है। अंततः मन्त्रिमण्डल भारत संघ की वैदेशिक नीति निर्धारित करता है और इसलिए यह निश्चित करता है कि भारत संघ के संसार के अन्य देशों के साथ क्या सम्बन्ध होंगे।

१२२. मन्त्रिमण्डल की कार्यप्रणाली

राष्ट्रपति उससे बाहर है—मन्त्रिमण्डल शासन की कार्यप्रणाली उन कतिपय सर्वमान्य सिद्धान्तों पर आश्रित है, जो इंगलैण्ड तथा स्वशासित डोमिनियनों में धीरे-धीरे विकसित हुए हैं। पहली बात तो यह है कि यद्यपि सिद्धान्ततः मन्त्रिमण्डल का कार्य राष्ट्रपति को मन्त्रणा और सहायता देना है, लेकिन वस्तुतः राष्ट्रपति उससे बाहर रहता है। यह राष्ट्रपति की तटस्थता निश्चित कर देता है और उसे दलगत राजनीति से ऊपर उठा देता है। मन्त्रिमण्डल द्वारा निश्चित किया गया प्रत्येक कार्य राष्ट्रपति के नाम से सम्पन्न होता है, लेकिन इस बात को हर कोई जानता है कि राष्ट्रपति का इस मामले में कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। यदि शासन अच्छी तरह संचालित होता है, तो इसका श्रेय मन्त्रिमण्डल को मिलता है। इसके विपरीत यदि शासन में गड़बड़ी पैदा होती है, तो राष्ट्रपति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। ब्रिटिश सम्राट् की तरह राष्ट्रपति कोई गलती नहीं कर सकता क्योंकि जो कार्य उसके द्वारा किया समझा जाता है, वह वास्तव में मन्त्रियों द्वारा किया जाता है। हो सकता है कि राष्ट्रपति परोक्ष रीति से मन्त्रियों के निर्णयों पर अपना प्रभाव डाल सके, लेकिन एक बार मन्त्रिमण्डल ने जहाँ किसी कार्य को करने का निश्चय कर लिया, राष्ट्रपति साधारणतः चिन्हित रेखा पर हस्ताक्षर कर ही देता है चाहे यह उसके मन के प्रतिकूल ही क्यों न हो।

मन्त्रिमण्डल और विधान मण्डल का सहयोग—दूसरी बात यह है कि मन्त्रि-

मण्डल विधान मण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करता है। प्रत्येक मन्त्री संसद के किसी न किसी सदन का सदस्य होता है। मन्त्री संसद के दोनों सदनों की बैठकों में उपस्थित होते हैं, विधेयकों को पुरःस्थापित करते हैं और पास करवाते हैं, वाद-विवादों में भाग लेते हैं और अपनी नीतियों की प्रतिरक्षा करते हैं। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का यह सहयोग संसदीय शासन प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है। अमेरिकन अथवा राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली में, जो शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आश्रित है, यह विशेषता नहीं पाई जाती।

राजनीतिक सजातीयता—तीसरी बात यह है कि संसदीय शासन-प्रणाली के अधीन मन्त्रिमण्डल की एक प्रमुख विशेषता राजनीतिक सजातीयता होती है। साधारणतः सारे मन्त्री एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं और इसलिए उनके एक से राजनीतिक दृष्टिकोण तथा सिद्धान्त होते हैं। भारत का पिछला कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल इस सिद्धान्त से विलग मालूम पड़ सकता था क्योंकि उसके कुछ सदस्य गैर-कांग्रेसी थे। लेकिन मन्त्रिमण्डल में लिए जाने के पूर्व गैर-कांग्रेसी सदस्यों ने कांग्रेस शपथ पर हस्ताक्षर किए थे और कांग्रेस दल के मूल सिद्धान्तों का पालन करने की प्रतिज्ञा की थी।

लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व— चौथी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह है कि मन्त्रिमण्डल और इस दृष्टि से सम्पूर्ण मन्त्री-परिषद् उसी समय तक सत्तारूढ़ रहती है जब तक कि उसे लोक-सभा का विश्वास अर्थात् उसके सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। जैसे ही मन्त्रिमण्डल ने यह विश्वास खोया, सम्पूर्ण मन्त्रालय के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह या तो पद रिक्त कर दे अथवा राष्ट्रपति को लोक-सभा विघटन करने और नए साधारण निर्वाचनों का आदेश देने की मन्त्रणा प्रदान करे।

यह उत्तरदायित्व सामूहिक है—यह स्मरणीय है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल एक टीम है और उसके सदस्य साथ ही-साथ डूबते अथवा साथ-ही-साथ तैरते हैं। यदि एक मन्त्री कोई कार्य करता है तो वह सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है और किसी एक मन्त्री की कोई गलती समग्र टीम का अधःपात कर सकती है। यदि लोक-सभा किसी एक मन्त्री के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है, सारे मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ता है। यह भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें लोक-सभा के प्रति मन्त्री-परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट रूप से और उल्लिखित रूप से उप-बन्धित कर दिया गया है। इंगलैण्ड और डोमिनियनों में मन्त्रीय उत्तरदायित्व सम्पूर्णतः अभिसमय पर आधारित है।

प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—पाँचवीं बात यह है कि मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करता है। संविधान ने अनुच्छेद ७४ (१) में यह निर्धारित करके कि एक मन्त्री-परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा, प्रधानमन्त्री की शीर्षस्थानीय स्थिति को औपचारिक मान्यता दी है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की भांति, वह न केवल 'Primus inter pares' अर्थात् बराबर वालों के बीच में प्रथम ही है, अपितु 'Inter stellas luna minores' अर्थात् नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा भी है। यह वह ही है जो दूसरे मन्त्रियों को चुनता है। यह वह ही है जो उनके बीच विभागों का वितरण करता है। यह वह ही है जो मन्त्रिमण्डल की बैठकों के कार्यक्रम को निश्चित करता है और उनकी अध्यक्षता करता है। वह किसी भी समय एक मन्त्री से त्यागपत्र की माँग कर और उसके स्थान पर किसी अन्य मन्त्री को नियुक्त कर मन्त्रिमण्डल में फेर-फार कर सकता है। यदि प्रधानमन्त्री त्यागपत्र देता है तो इसका अभिप्राय यह है कि सब मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ेगा। यदि प्रधानमन्त्री और किसी अन्य मन्त्री के बीच मतभेद हो जाए, तो वह पश्चादुक्त ही है जिसे कि या तो त्यागपत्र देना पड़ता है या झुकना पड़ता है।

प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता मन्त्रिमण्डल के सामुदायिक उत्तरदायित्व के लिए आवश्यक गारण्टी है। डॉ० अम्बेदकर के शब्दों में, "स्पष्ट है कि सामुदायिक उत्तरदायित्व के लिए कोई कानूनी अनुज्ञप्ति नहीं हो सकती। वह एकमात्र अनुज्ञप्ति जिसके द्वारा सामुदायिक उत्तरदायित्व को प्रभावी किया जा सकता है, प्रधानमन्त्री के द्वारा है। मेरे मत में सामुदायिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तों द्वारा प्रभावी होता है। एक सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल के लिए उस समय तक मनोनीत नहीं होगा, जब तक कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा न हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि यदि प्रधानमन्त्री कहे कि अमुक मन्त्री का अपने पद से हटना आवश्यक है, तो वह मन्त्रिमण्डल का सदस्य नहीं रहेगा।"[1]

प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति के बीच मुख्य कड़ी भी है। वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों को राष्ट्रपति तक पहुंचाता है। यदि राष्ट्रपति संघीय मामलों के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाली सूचनाओं तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी प्रस्तावों की माँग करे, तो इन चीजों को उसके पास पहुंचाना प्रधानमन्त्री का कर्त्तव्य है। ससद में प्रधान मन्त्री को साधारण नीति के मामलों पर शासन का मुख्य प्रवक्ता समझा जाता है। अपनी मूर्धन्य स्थिति के कारण प्रधानमन्त्री देश की घरेलू और वैदेशिक नीति के स्वरूप-निर्धारण में निर्णायक हाथ रखता है।

---

१. "कांस्टीट्यूएंट एसेम्बली डिबेट्स, भाग ७", पृ० ११६।

अधिपति नहीं, नेता—इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का केन्द्रबिन्दु है। लेकिन उसकी उच्चता का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि वह स्वेच्छाचारी है और दूसरे मन्त्री खाली उसके अनुचर ही हैं। वह नेता है, अधिपति नहीं। साधारणतः मन्त्रिमण्डल के सदस्य दल के मुख्य नेता होते हैं और प्रधानमन्त्री उनके सहयोग तथा सद्भावना के बिना अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकता। वह जानता है कि मन्त्री उसके दास नहीं, साथी हैं और उसे उनके साथ इसी प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है।

संघीय विधान मण्डल

१२३. संसद

नए संविधान के अधीन संघीय (केन्द्रीय) विधान मण्डल संसद कहलाता है। यह एक द्विसदनात्मक विधान मण्डल है जो राष्ट्रपति तथा संसद के दोनों सदनों से मिल कर बना है। ये सदन क्रमशः राज्य परिषद् तथा लोक-सभा के नाम से प्रख्यात हैं। संविधान ने निर्धारित किया है कि संसद के सदनों का वर्ष में कम-से-कम दो बार आहूत होना आवश्यक है और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए निश्चित तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उप-बन्ध के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति (१) संसद के सदनों को अथवा किसी सदन को आहूत कर सकता है; (२) सदनों का सत्रावसान कर सकता है तथा (३) आवश्यकता पड़ने पर लोक-सभा का विघटन कर सकता है।

१२४. राज्य-परिषद्

रचना—संसद का उच्च सदन राज्य-परिषद् के नाम से प्रख्यात होगा। जैसा कि इसके नाम से ध्वनित होता है, यह सदन राज्यों अर्थात् भारत-संघ के अंगभूत एककों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनेगा। लेकिन जिस प्रकार अधिकांश टिपीकल संघों के उच्च सदनों में विभिन्न अवयवी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है, वैसा भारत में नहीं किया गया है। संविधान ने राज्य-परिषद् की अधिक-से-अधिक सदस्य संख्या २५० निश्चित की है। इनमें से १२ सदस्यों को राष्ट्रपति नामनिर्देशित करेगा। ये १२ सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। शेष सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। चतुर्थ अनुसूची के अनुसार राज्यों के बीच स्थानों का बँटवारा निम्न प्रकार होना था—

भाग (क) राज्य		भाग (ख) राज्य		भाग (ग) राज्य	
आसाम	६	जम्मू और काश्मीर	४	अजमेर-कुर्ग	१
उड़ीसा	६	त्रावनकोर-कोचीन	६	कच्छ	१
पजाब	८	पटियाला और पूर्वी		कूच-बिहार	१
पश्चिमी बंगाल	१४	पंजाब-राज्य	३	दिल्ली	१
बिहार	२१	मध्यभारत	६	बिलासपुर	
मद्रास	२७	मैसूर	६	हिमाचल प्रदेश	१
मध्यप्रदेश	१२	राजस्थान	६	भोपाल	१
बम्बई	१७	विन्ध्य प्रदेश	४	मनीपुर	
उत्तर प्रदेश	३१	सौराष्ट्र	४	त्रिपुरा	१
		हैदराबाद	११		
कुल	१४५	कुल	५२	कुल	७

परन्तु संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम, १९५६ के अनुसार अब राज्यों और क्षेत्रों के बीच स्थानों का बँटवारा इस प्रकार कर दिया गया है—

राज्य		राज्य	
आन्ध्र प्रदेश	१८	पंजाब	११
आसाम	७	राजस्थान	१०
बिहार	२२	उत्तर प्रदेश	३४
महाराष्ट्र	१९	पश्चिमी बंगाल	१६
गुजरात	११	जम्मू और काश्मीर	४
केरल	९	क्षेत्र	
मध्य प्रदेश	१६	दिल्ली	३
मद्रास	१७	हिमाचल प्रदेश	२
मैसूर	१२	मनीपुर	१
उड़ीसा	१०	त्रिपुरा	१
		कुल	२२३
		राष्ट्रपति द्वारा नामजद	१२
		कुल	२३५

सदस्यों की अर्हताएं और निर्वाचन—राज्य परिषद् के सदस्य चुने जाने के लिए व्यक्ति में निम्न अर्हताएं होनी आवश्यक है। उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, उसकी अवस्था कम-से-कम तीस वर्ष होनी चाहिए और उसमें ऐसी अन्य अर्हताएं होनी चाहिएं जो संसद-निर्मित कानून के द्वारा निश्चित की जाएं। राज्य परिषद् के लिए प्रतिनिधि परोक्ष रीति से चुने जाएंगे। राज्यों के प्रतिनिधि जनता के प्रत्यक्ष मत के द्वारा नहीं अपितु प्रत्येक राज्य की विधान सभा के द्वारा आनुपात प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के द्वारा निर्वाचित किए जाएंगे। क्षेत्रों के प्रतिनिधि ऐसे ढंग से चुने जाएंगे, जैसा कि संसद निश्चित करे।

स्थायी सदन—राज्य परिषद् एक स्थायी सदन होगी। दूसरे शब्दों में उसका विघटन नहीं होगा। परिषद् के सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होंगे लेकिन उनमें से एक तिहाई प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जाएंगे। भारत का उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद् का सभापति होगा। परिषद् अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी।

१२५. लोकसभा

रचना और निर्वाचन—संसद का निम्न सदन लोक-सभा के नाम से प्रख्यात होगा। यह उन ५०० सदस्यों से मिलकर बनता था जो वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। परन्तु संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम पारित होने के पश्चात् लोकसभा में राज्यों में बने प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में से सीधे जनता द्वारा चुने हुए सदस्य ५०० से अधिक न होंगे (जम्मू तथा काश्मीर राज्य के प्रतिनिधि उस राज्य के विधान मण्डल की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होंगे) और संघ क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए २० से अधिक सदस्य न होंगे जो कि संसद के कानून द्वारा बताए हुए तरीके से चुने जाएंगे।

प्रत्येक राज्य को उतने स्थान दिए जाएं कि उनके प्रतिनिधियों तथा जन-संख्या का अनुपात यथा सम्भव सभी के लिए एक जैसा हो।

जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा लोक-सभा में स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया था—

भाग (क) राज्य		भाग (ख) राज्य		भाग (ग) राज्य		भाग (घ) राज्य	
आसाम	१२	हैदराबाद	२५	अजमेर	२	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	१
बिहार	५५	जम्मू काश्मीर	६	भोपाल	२		
बम्बई	४५	मध्यभारत	११	बिलासपुर	१		
मध्यप्रदेश	२९	मैसूर	११	कुर्ग	१		
मद्रास	७५	पेप्सू	५	दिल्ली	४		
उड़ीसा	२०	राजस्थान	२०	हिमाचल प्रदेश	३		
पंजाब	१८	सौराष्ट्र	६	कच्छ	२		
उत्तर प्रदेश	८६	त्रावनकोर कोचीन	१२	मनीपुर	२		
पश्चिमी बंगाल	३४			त्रिपुरा	२		
				विन्ध्य प्रदेश	६		
कुल	३७४	कुल	९९	कुल	२६	कुल	१

परन्तु संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम, १९५९ के अनुसार लोक-सभा में स्थानों का वितरण निम्न प्रकार होगा—

राज्य	स्थान	राज्य	स्थान
आन्ध्र प्रदेश	४३	राजस्थान	२२
आसाम	१३	उत्तर प्रदेश	८६
बिहार	५३	पश्चिमी बंगाल	३६
महाराष्ट्र	४४	जम्मू और काश्मीर	६
गुजरात	२२	**क्षेत्र**	
केरल	१८	अण्डमान और निकोबार	१
मध्य प्रदेश	३६	दिल्ली	५
मद्रास	४१	हिमाचल प्रदेश	४
मैसूर	२६	लका द्वीप (नामजद)	१
उड़ीसा	२०	मनीपुर	२
पंजाब	२२	त्रिपुरा	२
		आंग्ल भारतीय (नामजद)	२
		कुल	५०५
		नागा पहाड़ियाँ तुनसांग प्रदेश	१ (रिक्त)
		कुल	५०६

नए संविधान ने पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक-गणों का उन्मूलन कर दिया है लेकिन अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनों के हित का दस वर्ष की अवधि के लिए संरक्षण का प्रबन्ध किया है। उसने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दे दिया है कि यदि उसकी राय हो कि लोक-सभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक-सभा में उस समुदाय के दो से अधिक सदस्य नामनिर्देशित कर सकता है। लोक-सभा के लिए होने वाले निर्वाचनों के प्रयोजनार्थ राज्यों का प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजन कर दिया जाएगा जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७,५०,००० जनसंख्या के लिए एक से कम सदस्य न होगा।

सदस्यों की अर्हताएँ—कोई व्यक्ति लोक-सभा के लिए निर्वाचित होने के लिए तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो। कम-से-कम २५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो और ऐसी अन्य अर्हताएँ न रखता हो जो संसद-निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन विहित की जाएँ।

सदन की अवधि—साधारणतः लोकसभा की अवधि अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से ५ वर्ष की है और इस कालावधि समाप्ति होने पर उसको विघटित कर देना आवश्यक है। परन्तु लोक-सभा को उसकी पूर्ण अवधि के समाप्त होने के पूर्व भी विघटित किया जा सकता है। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, लोक-सभा की इस कालावधि को एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है, लेकिन उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के छः मास पश्चात् यह कालावधि समाप्त हो जाएगी।

अध्यक्ष (The Speaker)—लोक-सभा अपने दो सदस्यों को क्रमशः अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी। अध्यक्ष सदन की कार्यवाही का संचालन करेगा, उसमें व्यवस्था और अनुशासन कायम रखेगा और उनके सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करेगा। साधारणतः अध्यक्ष की स्थिति वही होगी जो ब्रिटिश कॉमन सभा के स्पीकर की है। उसका सर्वथा निष्पक्ष तथा दलगत भावनाओं से उच्च होना आवश्यक है। तथापि यह निश्चित नहीं है कि वे सब अभिसमय भारत में भी लागू होंगे और भारतीय लोक-सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश स्पीकर की भाँति अपने दल का सदस्य नहीं रहेगा तथा राजनीति से पृथक् हो जाएगा। आज जो स्थिति है, उसका श्री जी० वी० मावलकर ने निम्न शब्दों में सारांश दिया है—

"आज भारत में लोक-सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश कॉमन-सभा के स्पीकर की तरह राजनीतिक अखाड़े से पूर्णतः बाहर नहीं है। जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिज्ञ बना रहे हालांकि उसके क्रिया-कलाप काफी मर्यादित हों। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है लेकिन उसे

दल के मामलों में, विशेषकर ऐसे मामलों में जिनकी सदन के सम्मुख आने की सम्भावना हो, भाग न लेना चाहिए। कहने का सार यह है कि उसे किसी प्रकार के प्रचार के साथ स्वयं को एकरूप न करना चाहिए और न ऐसे मत व्यक्त करने चाहिएँ जिनसे कि उसके अध्यक्ष पद के दलदल में फँसने की संभावना हो अथवा जिनसे इस बात का कि अध्यक्ष पक्षावलम्बी है, भाव पैदा होने की गुंजायश रहे।"[1]

१२६. संसद के दो सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध

धन-विधेयकों के सम्बन्ध में—संसद के दो सदनों की स्थिति समान नहीं है। वित्तीय व्यवस्थापन के सम्बन्ध में लोक-सभा की स्थिति मूर्धन्य है और राज्य-परिषद् की शक्तियाँ अत्यन्त मर्यादित हैं। संविधान ने निश्चित किया है कि धन-विधेयक केवल लोक-सभा में ही पुरःस्थापित किया जा सकता है। जैसे ही लोक-सभा उसे पास कर देती है वह सिफारिशों के लिए राज्य-परिषद् के पास भेजा जाता है। राज्य-परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित चौदह दिन के भीतर-ही-भीतर लोक-सभा के पास वापस लौटा दे। इसके पश्चात् लोक-सभा चाहे तो इन सिफारिशों में से किसी को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाएगा। यदि राज्य-परिषद् चौदह दिन के भीतर ही भीतर विधेयक को लोक-सभा के पास वापस नहीं भेज पाती, तब भी वह दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाएगा। इस प्रकार राज्य-परिषद् धन-विधेयक के अधिनियम में केवल दो सप्ताह की देरी कर सकती है। इस दृष्टि से परिषद् ब्रिटिश लार्ड-सभा के तुल्य है। ब्रिटिश लार्ड-सभा भी धन-विधेयकों के बारे में सर्वथा शक्तिहीन है।

धन-विधेयकों से अन्य विधेयकों के बारे में—लेकिन धन-विधेयकों से अन्य विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं। कोई भी अवित्तीय विधेयक उस समय तक अधिनियम का रूप धारण नहीं कर सकता, जब तक कि वह संसद के दोनों सदनों द्वारा पास न कर दिया जाए। लोक-सभा को राज्य-परिषद् के निर्णय का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से राज्य-परिषद् ब्रिटिश लार्ड-सभा से स्पष्टतः भिन्न है। ब्रिटिश लार्ड-सभा धन-विधेयकों से अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में भी, केवल विलम्ब करने वाले सदन के रूप में ही कार्य करता है।

संयुक्त बैठकें—कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि किसी अवित्तीय विधेयक के ऊपर लोक-सभा और राज्य-परिषद् में मतभेद हो जाए। ऐसी स्थिति में गतिरोध दूर

१. जी० वी० मावलंकर—"पार्लमेण्टरी अफेयर्स" में पार्लमेण्टरी लाइफ इन इण्डिया", भाग ४, अंक १, पृ० ११४।

करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक की जा सकती है। संयुक्त बैठक में यदि कोई निर्णय करना होता है, तो वह सीधे-सादे बहुमत के द्वारा किया जाता है। संयुक्त बैठक में लोक-सभा का बोलवाला रहेगा क्योंकि उसकी सदस्य-संख्या राज्य-परिषद् की सदस्य-संख्या से दुगुनी होगी। दूसरे शब्दों में, उच्च सदन उन मामलों में भी, जो कि धन से सम्बद्ध नहीं हैं, घाटे में रहेगा। भारतीय राज्य-परिषद् ब्रिटिश लार्ड-सभा की तरह गौण सदन नहीं होगी। फिर भी उसकी स्थिति लोक-सभा की तुलना में नीची रहेगी।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—संघीय कार्यपालिका के ऊपर दोनों सदनों का जो नियन्त्रण है, जिस सीमा तक नियन्त्रण है, उस क्षेत्र में भी यही बात दिखाई देती है। संविधान मन्त्री-परिषद् को दोनों सदनों के प्रति नहीं, अपितु केवल लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी बनाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य-परिषद् सरकार की नीति पर विचार-विमर्श कर सकती है, प्रश्नों और 'कामरोको' प्रस्तावों द्वारा उसके ऊपर कुछ प्रभाव भी डाल सकती है। लेकिन सरकार के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ करना केवल लोक-सभा के बूते की ही बात है।

१२७. संसद की शक्तियाँ और मर्यादाएँ

(क) विधायिनी शक्तियाँ—संविधान संघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बनाने की शक्ति संसद में निहित करता है। सामान्यतः वह राज्य-सूची में सम्मिलित विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम नहीं है। लेकिन यदि राज्य-परिषद् घोषणा कर दे कि इन विषयों में से कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद उसके सम्बन्ध में कानून बना सकती है। संसद आपात स्थिति की घोषणा के प्रवर्तन-काल में अथवा राज्य में संविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में भी राज्य-विषयों के ऊपर कानून बना सकती है।

साधारणतः राज्य-विषय संसद की सक्षमता से बाहर हैं—संसद की शक्तियों पर एक प्रतिबन्ध यह है कि उसे पूर्ण और सर्वजयी संविधान संविधायी शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वह राज्यों के विधान मण्डलों की सहमति के बिना संविधान में महत्त्वपूर्ण उपबन्धों को संशोधित नहीं कर सकती।

संसद प्रभुत्वसम्पन्न कानून निर्मात्री निकाय नहीं है—इससे भारतीय संसद और ब्रिटिश संसद के बीच के एक स्पष्ट अन्तर का पता चलता है। ब्रिटिश संसद प्रभुत्व-सम्पन्न विधान मण्डल है, उसे पूर्ण संविधान संविधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं और वह देश के संविधान को जिस ढंग से चाहे, संशोधित कर सकती है। इसके अलावा भारतीय संसद द्वारा पास किए गए कानून न्यायिक पुनरीक्षण के विषय हैं। उन

कानूनों को जो संविधान के किन्हीं उपबन्धों के प्रतिकूल पड़ते हैं, सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकते हैं। ब्रिटिश संसद इस प्रकार के किसी प्रतिबन्ध के अधीन नहीं है।

राष्ट्रपति का निषेधाधिकार—यहाँ हम संसद की शक्तियों के ऊपर एक अन्य प्रतिबन्ध की चर्चा कर सकते हैं। प्रत्येक विधेयक के लिए राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे संविधि-पुस्तक में दर्ज किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, राष्ट्रपति संसद द्वारा पास किए गए किसी विधेयक पर अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता है और उसे पुनर्विचार के लिए संसद के पास वापस भेज सकता है। लेकिन कार्यपालिका का यह निषेधाधिकार केवल निलम्बमान (Suspensory) ही है, अन्तिम नहीं। राष्ट्रपति विधेयक के अधिनियम में खाली देर कर सकता है, उसकी हत्या नहीं कर सकता। संसद के दोनों सदन विधेयक को दुबारा सीधे सादे बहुमत से पास करके राष्ट्रपति के निषेधाधिकार का अतिक्रमण कर सकते हैं।

(ख) वित्तीय शक्तियाँ— संसद को विपुल वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। वह संसद की थैली को नियन्त्रित करती है। जब तक संसद का अनुमोदन न हो, जनता के ऊपर कोई कर नहीं लगाए जा सकते और न किसी प्रकार का कोई व्यय ही किया जा सकता है। तथापि, व्यय की कुछ ऐसी मदें अवश्य हैं, जिन पर संसद में मतदान नहीं हो सकता। हाँ! विचार-विमर्श अवश्य हो सकता है। इन मदों का व्ययभार संसद के अनुमोदन सहित भारत संचित-निधि के ऊपर पड़ता है।

(ग) संसद का संघीय कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण—चूँकि भारतवर्ष में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है, अतः संघीय मन्त्री-परिषद् संसद के नियन्त्रण में रहकर कार्य करती है। इस नियन्त्रण का प्रयोग लोक-सभा के द्वारा किया जाता है, जिसके प्रति मन्त्री-परिषद् सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यदि मन्त्री-परिषद् लोक-सभा का विश्वास खो देती है तो लोक-सभा उसे (१) सीधे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके, (२) किसी सरकारी विधेयक को अस्वीकार करके अथवा (३) सरकारी विधेयक में ऐसा संशोधन पास करके जिससे सरकार सहमत न हो, अपदस्थ कर सकती है। संसद प्रश्नों और कामरोको प्रस्ताव आदि के माध्यम से प्रशासन के ऊपर सतर्क दृष्टि रख सकती है और जनता का ध्यान सरकार के क्रिया-कलापों की ओर आकृष्ट कर सकती है। संसद का कोई भी सदस्य सरकार के कार्यों और नीतियों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछ सकता है। निसर्गतः यह सरकार की नीतियों को प्रकाश में लाने के लिए अथवा उसे सार्वजनिक महत्त्व के ऐसे मामलों में आवश्यक कदम उठाने के लिए विवश करने के लिए, जिनकी उसने उपेक्षा की है, शक्तिशाली

उपाय है। 'कामरोको' प्रस्ताव सदन के साधारण कार्य-व्यापार को स्थगित करने का, ताकि रेल-दुर्घटना, जलूस पर पुलिस की गोली-वर्षा अथवा भीषण उपद्रव आदि सार्वजनिक महत्व के मामलों पर विचार किया जा सके, प्रस्ताव है। कामरोको प्रस्ताव का वास्तविक उद्देश्य प्रशासन की भ्रष्टता और दुर्बलता तथा कार्यपालिका की नीति की गलतियों को प्रकाश में लाना है। संसद का नियन्त्रण कार्यपालिका को सतर्क रखता है और उसे स्वेच्छाचारी ढंग से काम करने से रोकता है।

संघीय न्यायपालिका

१२८. भारत का सर्वोच्च न्यायालय

संघ में न्यायपालिका की विशेष स्थिति—लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में सबल, स्वतन्त्र और सुसंगठित न्यायपालिका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसका कर्तव्य है कि वह सरकार को अपनी शक्ति के स्वेच्छाचारी ढंग से प्रयोग करने से रोके और नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा करे। संघीय शासन-प्रणाली के अधीन न्यायपालिका का कार्य और भी महत्वपूर्ण होता है, वह संविधान के अभिभावक का कार्य करती है। संघवाद में संघीय सरकार और अवयवी इकाइयों अथवा राज्यों की सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण होता है। ऐसी पद्धति में क्षेत्राधिकार के प्रश्नों पर मतभेद अथवा विवाद उठ खड़े होना सर्वथा सम्भाव्य है। इसके अलावा, संघीय संविधान शासन के विभिन्न अंगों की शक्तियों और कृत्यों का स्पष्ट रूप से निरूपण कर देता है तथा उनकी मर्यादाएँ बाँध देता है। इसलिए यदि शासन की कोई विशेष शाखा, अपने प्राधिकार की सीमाओं से आगे बढ़ती है, तो विवाद उठ खड़े हो सकते हैं। केवल एक शक्तिशाली न्यायपालिका ही ऐसे विवादों को सुलझा सकती है और शासन के विभिन्न अंगों को अपने लिए विहित क्षेत्रों के भीतर रख सकती है। भारत का नया संविधान स्वरूप में संघीय है। इसी के अनुसार इस प्रकार के विवादों को सुलझाने के लिए और संविधान के अभिरक्षक व अन्तिम निर्वाचक के रूप में कार्य करने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय का गठन—नए संविधान के अधीन संस्थापित सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे ऊँचा न्यायमण्डल है। वह देश की न्यायपालिका के शिखर पर आसीन है। उसका गठन १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के उपबन्धों के अधीन स्थापित संघीय न्यायालय के स्टेटस को ऊँचा उठाकर और उसे अपार क्षेत्राधिकार प्रदान कर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय दीवानी और फौजदारी अपीलों की उन शक्तियों का प्रयोग करती है, जिनका पहले प्रिवी कौंसिल प्रयोग करती थी।[1]

---

१. सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के साथ भारत का प्रिवी कौंसिल से सम्बन्ध टूट गया है।

कुछ मामलों में इन शक्तियों को पर्याप्त बढ़ा दिया गया है।

नए संविधान की अनुच्छेद १२४ के अनुसार भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का एक मुख्य न्यायाधिपति तथा जब तक संसद कानून द्वारा घटाए-बढ़ाए नहीं, सात अन्य न्यायाधीश होते हैं। अन्य न्यायाधीशों की संख्या सर्वोच्च न्यायालय (न्यायाधीशों की संख्या) अधिनियम, १९५६ द्वारा बढ़ाकर दस कर दी गई थी और १९६० में इसकी संख्या १३ कर दी गई है।

हमारे संविधान में (ad hoc) न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए भी कहा गया है। यदि किसी समय अधिवेशन करने अथवा जारी रखने के लिए संख्या पूरी न हो, तो मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति से पूर्व अनुमति लेकर तथा उस उच्च न्यायालय के मुख्य की सलाह से वहाँ के किसी भी न्यायाधीश को बैठकों पर बुला सकता है। परन्तु सभी ऐसे न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय का सदस्य बनने की योग्यता रखते हों और उन्हें वही भत्ते मिलेंगे जो कि एक सर्वोच्च न्यायालय के सदस्य को मिलते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा अर्हताएँ—संविधान ने यह स्पष्ट उपबन्ध कर दिया है कि संसद कानून द्वारा न्यायाधीशों की संख्या को घटा या बढ़ा सकती है। सर्वोच्च न्यायालयों के तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करके, जिनसे इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति को नियुक्त करता है।

सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो, (२) राज्य के किसी उच्च न्यायालय में पांच वर्ष से अन्यून काम न कर चुका हो, (३) किसी उच्च न्यायालय का दस वर्ष से अन्यून अधिवक्ता न रह चुका हो और (४) अथवा राष्ट्रपति उसे पारंगत विधिवेत्ता न समझता हो।

न्यायाधीशों के वेतन आदि—सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराया दिए पदावास के उपयोग का हक है। मुख्य न्यायाधिपति को ५,००० रु० प्रतिमास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश को ४,००० रु० प्रतिमास वेतन मिलता है। न्यायाधीश जहाँ एक बार नियुक्त हुए, फिर उनके भत्तों, उपलब्धियों और विशेषाधिकारों में उनके लिए अलाभकारी किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों को नौकरी की गारण्टी दी जाती है। उनके सेवा-निवृत्त होने की आयु ६५ वर्ष निश्चित् की गई है।

न्यायाधीशों की पदच्युति—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अपने पद से

केवल उसी समय हटाया जा सकता है जबकि सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के लिए उसके हटाए जाने हेतु संसद के दोनों सदनों ने राष्ट्रपति के सम्मुख एक समावेदन रख दिया हो और राष्ट्रपति ने उसके हटाए जाने का आदेश दे दिया हो। समावेदन के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक सदन की समस्त-सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा और उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत के द्वारा पास किया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा निवृत्त होने के पश्चात् किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत करने अथवा उपस्थित होने से वंचित कर दिए गए हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ—भारत का सर्वोच्च न्यायालय एक शक्तिशाली निकाय है। उसकी शक्तियाँ अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के सहित किसी अन्य संघ की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता की शक्तियों से अधिक है। वह एक अभिलेख-न्यायालय है और उसे अपने अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायालय की सब शक्तियाँ प्राप्त हैं।

(क) अभिलेख न्यायालय—अभिलेख न्यायालय वह उच्च न्यायालय होता है जिसके निर्णयों और न्यायिक कार्यवाहियों को नित्य स्मृति के लिए लिख लिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के अभिलेखों का साक्ष्यात्मक मूल्य होता है और जब किसी न्यायालय के सम्मुख उन्हें उपस्थित किया जाता है तब उनकी साक्षी पर किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

(ख) सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकारों का प्रयोग करता है। उसका अपवर्जी प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (१) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीच के; (२) एक ओर भारत सरकार और कई राज्य या राज्यों तथा दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच के, अथवा (३) दो या अधिक राज्यों के बीच के, किसी विवाद में, यदि और जहाँ तक ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (चाहे कानून का हो, चाहे तथ्य का) जिस पर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है, वहाँ तक होता है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का विस्तार उस विवाद पर नहीं है जो पूर्वकालीन देशी राज्यों के साथ की गई सन्धियों के उपबन्धों से सम्बन्ध रखता है और जिसमें कोई राज्य एक पक्ष है।

(ग) सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार में तीन तरह के मामले आते हैं—(क) वैधानिक, (ख) दीवानी और (ग) फौजदारी। वैधानिक मामलों में, किसी उच्च न्यायालय के चाहे तो फौजदारी विषयक और चाहे दीवानी कार्यवाही में दिए गए निर्णय की अपील सर्वोच्च

न्यायालय में हो सकती है यदि वह उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान के निर्वचन का कोई सारवान् विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। दीवानी मामलों में, उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, आज्ञप्ति या अंतिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होगी यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित करे कि विवाद-विषय की राशि का मूल्य २०,००० रु० से कम नहीं है अथवा अपील में कोई सारवान् विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। फौजदारी मामलों में किसी उच्च न्यायालय के दिए हुए निर्णय की सर्वोच्च न्यायालय में अपील होगी यदि उस उच्च न्यायालय ने (१) अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को पलट दिया है तथा उसको मृत्युदण्डादेश दिया है, (२) अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण करने के हेतु अपने पास मंगा लिया है तथा ऐसे परीक्षण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्यु-दण्डादेश दिया है, अथवा (३) प्रमाणित किया है कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील किए जाने लायक है। संसद, कानून के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है।

संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को कतिपय परामर्शीय कृत्य भी दिए हैं। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि कानून या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जो सार्वजनिक महत्त्व का है, तो उस पर वह सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त कर सकता है। इस क्षेत्राधिकार के अधीन राष्ट्रपति उन विवादों को भी सर्वोच्च न्यायालय को राय देने के लिए सौंप सकता है जो पूर्वकालीन देशी राज्यों के साथ की गई सन्धियों और समझौतों के निर्वचन को अन्तर्ग्रस्त करते है।

सर्वोच्च न्यायालय और मूल अधिकार—सर्वोच्च न्यायालय भारत के नागरिकों की स्वतन्त्रताओं और मूल अधिकारों का रक्षक है। यदि किसी विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून उन मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है जो संविधान ने जनता को प्रदान किए है, तो न्यायालय उसको शून्य घोषित कर सकता है। निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड १४ के मामले में यह किया गया था, राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश निकालकर इस खण्ड को अपवर्जित कर दिया। अभी हाल ही में राज्यों के उच्च न्यायालयों ने और सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद १६ और ३१ के प्रतिकूल पड़ने वाले कतिपय कानूनों को निष्फल किया है।

संविधान का अभिरक्षक और निर्वचक—सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण और मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए लेख निकाल सकता है। इस प्रकार अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह भारत के सर्वोच्च न्यायालय को विधान मण्डलों द्वारा पास किए गए कानूनों का पुनरीक्षण करने और उन्हें, यदि वे संविधान के किसी उपबन्ध के विरुद्ध हों, अवैध घोषित करने की शक्ति दे दी गई है। दूसरे शब्दों में

सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अभिरक्षक और निर्वचक है।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने व उसे कार्यपालिका या व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप अथवा प्रभाव से दूर रखने का उचित उपबन्ध कर दिया है। न्यायाधीश जहां एक बार नियुक्त हुए, फिर उन्हें एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया के अलावा अन्य किसी रीति से अपदस्थ नहीं किया जा सकता। इसके अलावा, न्यायधीशों के वेतन और सर्वोच्च न्यायालयों के प्रशासनिक व्ययों का भार भारत की सचित निधि के ऊपर पड़ता है। ये व्यय संघीय विधान मण्डल के मतापेक्षी नहीं है।

सारांश

भारत के नए संविधान की रचना मन्त्री-मिशन योजना के उपबन्धों के अधीन १९४६ में निर्मित संविधान सभा ने की थी। यह संसार का सबसे बड़ा और विशाल वैधानिक प्रलेख है। इसमें आठ अनुसूचियों के अलावा ३९५ अनुच्छेद है। यह कठोर भी है यद्यपि अमेरिका के संविधान से कम कठोर है। यह देखने में संघीय है लेकिन इसकी आत्मा एकात्मक है। इसने भारतवर्ष के लिए संसदीय शासन प्रणाली को अंगीकृत किया है। इसमें नागरिकों के मूल अधिकारों के ऊपर एक अध्याय है। ये अधिकार समर्थनीय है। लेकिन इसमें से कुछ महत्वपूर्ण अधिकारों को आपात-कालों में स्थगित किया जा सकता है। हमारे संविधान की एक अतुल विशेषता राज्य-नीति के निर्देशक तत्व हैं। इन तत्वों को न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती। ये तत्व उन व्यक्तियों के लिए जो राज्य की सत्ता का प्रयोग करते है, नैतिक शिक्षाओं के रूप में हैं। संविधान ने भारतवर्ष में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। ऐसे राज्य में सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है।

भारतीय संविधान में संघीय शासनतन्त्र के विशिष्ट लक्षण विद्यमान है। राज्यों और संघ के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण है, संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और संविधान के अभिभावक तथा निर्वचक के रूप में न्यायपालिका का अपना विशेष कार्य है। लेकिन संविधान में सबल एकात्मक अभिनति पाई जाती है और वह केवल अर्द्ध-संघीय ही है। केन्द्र को अवशिष्ट शक्तियों सहित व्यापक शक्तियां दी गई है। साधारण परिस्थितियों तक में केन्द्र राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकता है। आपातों में संविधान को बिना किसी औपचारिक संशोधन के एकात्मक बनाया जा सकता है।

संघीय कार्यपालिका—भारत-संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। वह राज्यों की विधान सभाओं तथा संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित

सदस्यों द्वारा परोक्षतः निर्वाचित होता है। संविधान ने राष्ट्रपति को विपुल कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। लेकिन साधारणतः राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों की मन्त्रणा पर करता है। वह वैधानिक शासक है और उसकी स्थिति ब्रिटिश शासक के समान है। कुछ अधिकारी विद्वानों का कहना है कि चूँकि राष्ट्रपति सब मामलों में मन्त्रियों की मन्त्रणा को मानने के लिए कानूनतः बाध्य नहीं है, अतः वह कतिपय परिस्थितियों में वास्तविक शासक अथवा तानाशाह बन सकता है।

लेकिन संसदीय शासन प्रणाली में, जिसे कि भारत में अपनाया गया है वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री-परिषद् होती है। यदि मन्त्री-परिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाता है और दूसरे मन्त्री प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। मन्त्री-परिषद् प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में विधान मण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करती है।

संघीय विधान मण्डल—अथवा संसद द्विसदनात्मक है। उच्च सदन (राज्य परिषद्) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षतः निर्वाचित होता है। उसकी अधिकतम सदस्य-संख्या २५० है, १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित होते हैं। लोकसभा की अधिकतम सदस्य-संख्या ५०० थी परन्तु अब ५२० कर दी गई है। इसके सदस्य वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचक-गणों के आधार पर जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं, लोकसभा की साधारण कालावधि ५ वर्ष है। राज्य-परिषद् स्थायी सदन है। उसके सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं, परन्तु तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष निवृत्त हो जाते हैं। संसद के दोनों सदन शक्तियों और प्रभाव की दृष्टि से समान नहीं है। वित्तीय मामलों में लोकसभा परमेष्ठ है लेकिन अ-वित्तीय मामलों में दोनों सदन बराबर है।

संघीय न्यायपालिका—संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय का उपबन्ध किया है। यह न्यायालय राज्य का अन्तिम निर्वचक है। इसके साथ ही साथ वह देश का सर्वोच्च न्यायमण्डल भी है। वह भारत के मुख्य न्यायाधिपति और ७ दूसरे न्यायाधीशों से मिलकर बनता है। वह प्रारम्भिक और अपीलीय क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार में वैधानिक, दीवानी और फौजदारी के मामले आते हैं। तथ्य या कानून के किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्रपति उससे परामर्श भी ले सकता है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली निकायों में से है।

अध्याय १६

भारत का नया संविधान—क्रमशः

(राज्य की सरकार)

१२६. भारत-संघ के राज्य

भारत-संघ के राज्य-क्षेत्र में राज्यों के राज्य-क्षेत्र समाविष्ट हैं। भारत-संघ में अण्डमान और निकोबार-द्वीपों के अलावा राज्यों की श्रेणियाँ हैं और वे नए संविधान की प्रथम अनुसूची में उल्लिखित हैं। उन्हें निम्न तालिका में दिखाया गया है—

भाग (क) राज्यों के नाम	भाग (ख) राज्यों के नाम	भाग (ग) राज्यों के नाम	भाग (घ) राज्यों के नाम
१. आसाम	१. जम्मू और काश्मीर	१. अजमेर	अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह
२. उड़ीसा	२. ट्रावनकोर कोचीन	२. कच्छ	
३. पंजाब	३. पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ	३. कूच-विहार	
४. पश्चिमी बंगाल	४. मध्य भारत	४. कुर्ग	
५. बिहार	५. मैसूर	५. त्रिपुरा	
६. मद्रास	६. राजस्थान	६. दिल्ली	
७. मध्य प्रदेश	७. विन्ध्य प्रदेश	७. बिलासपुर	
८. बम्बई	८. सौराष्ट्र	८. भोपाल	
९. उत्तर प्रदेश	९. हैदराबाद	९. मनीपुर	
		१०. हिमाचल प्रदेश	

भाग (क) राज्य पूर्वकालीन भारतीय प्रान्तों के तत्स्थानी हैं और भाग (ग) तथा (ग) प्राचीन देशी राज्यों के या उनके संघों के और पूर्वकालीन मुख्यायुक्तों के प्रान्तों के तत्स्थानी हैं।

नए संविधान के अधीन राज्यों का पद—नया संविधान भारत को एक संघ बनाता है। फलतः राज्य जो संघ के अवयवी एकक हैं, एक स्वायत्त स्टेट्स का उपभोग करते हैं। संविधान संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण करता है। साधारण परिस्थितियों में कतिपय विषय राज्यों के अपवर्जी क्षेत्राधिकार में आते हैं लेकिन संविधान में ऐसे कुछ उपबन्ध विद्यमान हैं जो संघ सरकार को उन विषयों पर भी, जो कि राज्य-सूची में प्रगणित हैं कानून बनाने और नियन्त्रण रखने की शक्ति प्रदान करते हैं। यह प्रबन्ध भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए किया गया है। इसलिए नया संविधान केन्द्रवाद और संघवाद के बीच समझौता है।

१३०. संघ तथा राज्यों के सम्बन्ध

शक्तियों का वितरण—संविधान व्यवस्थापन के विभिन्न विषयों को तीन सूचियों—संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची—में बाँटता है। ये सूचियाँ सातवीं अनुसूची में दी हुई हैं। संघ-सूची में वे विषय हैं जिनके ऊपर संघीय (केन्द्रीय) सरकार को अपवर्जी प्राधिकार प्राप्त हैं और जिनके ऊपर वह कानून बना सकती है।

(१) **संघ सूची**—संघ सूची में ९७ विषय हैं। प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, नागरिकता, देशीयकरण तथा अन्य देशीय, रेलवे, राष्ट्रीय राज्य पथ, चलार्थ, टंकण और विधिमान्य, विदेशी विनिमय, भारत का रिजर्व बैंक, डाकघर बचत बैंक, विदेशी वाणिज्य, बीमा आदि विषय संघ सूची में सम्मिलित हैं।

(२) **राज्य सूची**—राज्य सूची में सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, शिक्षा, कृषि, वन, मीन-क्षेत्र, उद्योग और राज्य की लोक-सेवाएँ आदि के सहित ६६ विषय हैं। संविधान में उल्लिखित केवल उन परिस्थितियों को छोड़कर, जबकि संघ सरकार इन विषयों को अपने हाथ में ले सकती है, राज्य सरकार को इनके ऊपर अपवर्जी व्यवस्थात्मक तथा प्रशासनिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

(३) **समवर्ती सूची**—समवर्ती सूची फौजदारी कार्यवाही विवाह और तलाक, संविदाएँ, दीवानी कार्यवाही, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, विद्युत, समाचार-पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय आदि को मिलाकर ४७ विषय प्रगणित करती है। समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों के ऊपर कानून बनाने के लिए संघ सरकार और राज्यों की सरकारें—दोनों ही सक्षम हैं। लेकिन इसमें एक शर्त है और वह यह कि यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के प्रतिकूल पड़ता है, तो संसद द्वारा निर्मित

कानून प्रभावी होगा तथा राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा।

अवशिष्ट शक्तियां—ये तीनों सूचियां बड़ी विशद हैं। लेकिन हो सकता है कि भविष्य में ऐसे किसी विषय का पता चले जो कि इनमें से किसी भी सूची में सम्मिलित न किया गया हो। संविधान के उपबन्धों के अनुसार ऐसे सब विषय संघ सरकार के क्षेत्राधिकार में आकर पड़ेंगे। दूसरे शब्दों में अवशिष्ट शक्तियां संघ में निहित की गई हैं।

यह स्पष्ट है कि नए संविधान के अधीन किए गए शक्तियों के वितरण का उद्देश्य केन्द्र को अत्यन्त शक्तिशाली बनाना है। अवशिष्ट शक्तियां को केन्द्र के हाथों में सौंप देने का भी यही उद्देश्य है। अमरिका और स्विट्ज़रलैण्ड जैसे ठिपीकल संघों में अवशिष्ट शक्तियां अवयवी एककों में निहित की गई हैं। भारत में उन सम्बन्धों में भी जो संघ सरकार को राज्यों के क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करने और राज्य-सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति देते हैं, केन्द्र को अधिकाधिक सबल बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है। संघ और राज्यों के विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धों का पर्यवेक्षण इस कथन की सत्यता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

विधायी सम्बन्ध—जहां तक संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्धों का प्रश्न है, संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के उक्त वितरण से यह प्रकट है कि संघ की सरकार और राज्य की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं। लेकिन यहाँ यह स्मरणीय है कि जहाँ राज्य का विधान मण्डल संघीय संसद के क्षेत्राधिकार का किसी भी दशा में अतिक्रमण नहीं कर सकता, संघीय संसद निम्न दशाओं में राज्य-सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बना सकती है—(१) यदि राज्य परिषद् दो तिहाई बहुमत से इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दे कि अमुक विषय राष्ट्रीय महत्व का है, तो संसद् उस विषय पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २४९)। (२) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में संसद राज्य-सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २५०)। (३) यदि दो या दो से अधिक राज्य संसद से इस बात की प्रार्थना करें कि वह किसी राज्य-विषय पर उनके लिए कानून बना दे, तो संसद उस विषय पर कानून बनाने के लिए सक्षम है। (अनुच्छेद २५२)। (४) संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ की हुई संधि या करार के परिपालन के लिए राज्य विधान मण्डल के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। (अनुच्छेद २५३)। (५) यदि संसद द्वारा निर्मित कानूनों और राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों में असंगति हो, तो संसद द्वारा

निर्मित कानून, चाहे वह राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों के पहले या पीछे पास हुआ हो, अभिभावी होगा और राज्यों के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होंगे। (अनुच्छेद २५४)। (६) राज्यों में वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल के अधिकार अपने हाथों में लेकर संसद को दे सकता है और उस दशा में उसके सब अधिकारों का प्रयोग संसद करेगी। (अनुच्छेद ३५६)। (७) राज्य विधान मण्डल द्वारा पास किए गए कुछ विधेयक ऐसे है जिन्हें राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है और जो राष्ट्रपति की स्वीकृति पाने पर ही कानून बन सकते हैं। (अनुच्छेद २०१)।

प्रशासनिक सम्बन्ध—संविधान ने यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा जिससे संसद द्वारा निर्मित विधियों का, तथा किन्ही वर्तमान विधियों का, जो उस राज्य में लागू हैं, पालन सुनिश्चित रहे। संघ को अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकता है। (अनुच्छेद २५६)। इसके साथ-ही-साथ संघ राष्ट्रीय महत्त्व के यातायात के साधनों के निर्माण तथा उनकी रक्षा करने के लिए राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकेगा। इन निर्देशों के पालन में राज्यों को जो अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, उसे संघ सरकार वहन करेगी। (अनुच्छेद २५७)। राष्ट्रपति राज्य-सरकार की अनुमति से राज्य के कर्मचारियों को संघीय सरकार के किसी भी काम को करने का आदेश दे सकता है। (अनुच्छेद २५८)। संसद को अन्तर्राज्यिक नदियों तथा नदी की घाटियों के सम्बन्ध में उठने वाले झगड़ों के निपटारे के लिए कानून बनाने का अधिकार है। (अनुच्छेद २६२)। यदि विभिन्न राज्यों के मध्य अथवा राज्यों और संघ के मध्य ऐसे विषयों के ऊपर कोई विवाद उठे, जिनमें सामान्य हित हो, तो राष्ट्रपति उसकी परीक्षा करने तथा उस पर सिफारिश करने के लिए एक अन्तर्राज्यिक परिषद् का निर्माण कर सकता है। (अनुच्छेद २६३)। देशी राज्यो के पास संविधान प्रारम्भ होने से पूर्व जो सेनाएँ थीं, वे उनके पास उस समय तक बनी रहेंगी, जब तक संसद कानून द्वारा उनकी कोई अन्य व्यवस्था न कर दे। ऐसी सभी सेनाएँ भारतीय सेना का अंग समझी जाएँगी व उन पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहेगा। (अनुच्छेद २५६)। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जाएगी और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। (अनुच्छेद ३५३)। संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वायत्त राज्यों को अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त है, फिर भी संघ सरकार उनके प्रशासन में पर्याप्त हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त द्वितीय

श्रेणी के राज्यों पर तो संघ सरकार का संविधान प्रारम्भ होने के दस वर्ष बाद तक काफी नियन्त्रण रहेगा।

वित्तीय सम्बन्ध—नए संविधान ने संघ और राज्यों के बीच आर्थिक स्रोतों का बँटवारा बहुत कुछ १६३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार ही किया है। कुछ कर तो पूर्ण रूप से संघ के हाथों में हैं और कुछ राज्यों के। कुछ कर संघ लगाता है लेकिन राज्य एकत्रित करता है। कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ लगाता और संग्रहीत करता है परन्तु राज्यों को दे देता है। निम्नलिखित कर पूर्ण रूप से संघ के हाथ में हैं—कृषि को छोड़कर अन्य आय पर कर, सीमा-शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क भी है, भारत में निर्मित या उत्पादित तम्बाकू तथा मानव-उपभोग के मद्य सारिक पानों, अफीम, भांग और अन्य पीनक लाने वाली औषधियों तथा स्वापकों को छोड़कर, किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत करके जिसमें मद्यसार का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क, निगम-कार, व्यक्तियों या समवायों की आस्ति में से कृषि-भूमि को छोड़कर उनके मूलधन-मूल्य पर कर, समवायों के मूलधन पर कर, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क, रेल या समुद्र या वायुपथ से ले जाए जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जन-भाड़े और वस्तु-भाड़े पर कर, मुद्रांक-शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठि चत्वर और वादा-बाजार के सौदों पर कर, विनिमय-पत्रों, चैकों, वचन-पत्रों, वहन-पत्रों, प्रत्यय-पत्रों, बीमा-पत्रों, अंशों के हस्तान्तरण, ऋण-पत्रों, प्रति-पत्रियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक-शुल्क की दर, समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर। (संघ सूची ८२-६२)।

निम्नलिखित कर पूर्ण रूप से राज्यों की सरकारों के आय के स्रोत हैं—कृषि आय पर कर, कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क, कृषि-भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, संसद से विधि द्वारा खनिज-विकास के सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज-अधिकार पर कर, अफीम और भांग पर कर, विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर, समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर, समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर आदि आदि। (राज्य-सूची ४६-६३)।

निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और संग्रहीत किए जायेंगे किन्तु राज्यों को सौंप दिए जायेंगे—कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक-शुल्क, कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति-विषयक सम्पत्ति-शुल्क, रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल-भाड़ों और वस्तु-भाड़ों पर कर,

श्रेष्ठि-चत्वरों और वायदा बाजारों के सौदों पर मुद्रांक-शुल्क से अन्य कर; समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर। (अनु० २६६)।

संविधान ने निश्चय किया है कि कृषि-आय से अतिरिक्त अन्य आय पर करों को भारत सरकार द्वारा उद्‌गृहीत और संहीत किया जाएगा तथा संघ और राज्यों के बीच में वितरित कर दिया जाएगा। (अनु० २७०)।

अनुच्छेद २६६ और २७० में किसी बात के होते हुए भी संसद उन अनुच्छेदों में निर्दिष्ट शुल्कों या करों में से किसी को भी किसी समय संघ के प्रयोजनों के लिए अभिभार द्वारा वृद्धि कर सकेगी तथा ऐसे किसी अभिभार के समस्त आगम भारत की संचित निधि के भाग होंगे। (अनु० २७१)।

संघ-सूची में वर्णित औषधीय तथा प्रसाधन-सामग्री पर उत्पादन-शुल्क से अन्य संघ-उत्पादन-शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्‌ग्रहीत और संग्रहीत किए जाएँगे किन्तु यदि संसद विधि द्वारा यह उपबन्धित करे तो शुल्क लगाने वाली विधि जिन राज्यों को लागू होती हो उन राज्यों को भारत की संचित निधि में से उस शुल्क के शुद्ध आगमों के पूर्ण अथवा किसी भाग के बराबर राशि दी जाएगी और वे राशियाँ उन राज्यों के बीच विधि द्वारा सूत्र-बद्ध वितरण-सिद्धान्तों के अनुसार वितरित की जाएँगी। (अनु० २७२)।

आसाम, उड़ीसा, बिहार और पश्चिमी बंगाल पटसन और पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्यात शुल्क के स्थान में सहायक-अनुदान प्राप्त करेंगे। (अनु० २७३)।

ऐसी राशियाँ जो संसद विधि द्वारा उपबन्धित करे, उन राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में प्रतिवर्ष भारत की संचित निधि पर भारित होंगी जिन राज्यों के सम्बन्ध में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है, तथा भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए भिन्न राशियाँ नियत की जा सकेंगी। इसके अतिरिक्त किसी राज्य के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में भारत की संचित-निधि में से वैसी मूल तथा आवर्तक राशियाँ दी जा सकेंगी जैसी कि उस राज्य को उन विकास योजनाओं के खर्चों के उठाने में समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हों, जो उस राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण की उन्नति करने के प्रयोजन के लिए अथवा उस राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन-स्तर को उस राज्य के शेष क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उन्नत करने के प्रयोजन के लिए उस राज्य ने भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ में ली हों। (अनु० २७५)।

किसी राज्य के विधान मण्डल की ऐसे करों सम्बन्धी कोई विधि जो उस राज्य या किसी नगरपालिका, जिला-मण्डली, स्थानीय मण्डली अथवा उसमें अन्य स्थानीय प्राधिकारी के हित साधन के लिए वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं या नौकरियों के बारे

में लागू होती है, इस आधार पर अमान्य न होगी कि वह आयकर है । राज्य को अथवा इसमें की किसी एक नगरपालिका, जिला-मण्डली स्थानीय मण्डली या अन्य स्थानीय प्राधिकारी को किसी एक व्यक्ति के बारे में वृत्तियों, व्यापारों आजीविकाओं और नौकरियों पर करों द्वारा देय समस्त राशि दो सौ पचास रुपए प्रतिवर्ष से अधिक न होगी। इस सम्बन्ध में विधियां बनाने की राज्य के विधान मण्डल की शक्ति का यह अर्थ नहीं होगा कि वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों से प्रोद्भूत या उत्पन्न आय पर करों के विषय में विधियां बनाने की संसद की शक्ति किसी प्रकार सीमित की गई है। (अनु० २७६)।

राज्य की कार्यपालिका

१३१. राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति, पदावधि, अर्हताएं और उपलब्धियां—नए संविधान के अधीन भाग (क) राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित की गई है। राज्यपाल भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है[1] और उसके प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए उसकी पदावधि पांच वर्ष होगी। कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने के लिए उस समय तक पात्र नहीं होगा, जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो और ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। अपनी पदावधि में उसे लाभ के किसी अन्य पद को धारण करने से वंचित कर दिया जाता है जब तक वह राज्यपाल का पद धारण करता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के किसी सदन का अथवा राज्य के किसी विधान मण्डल का सदस्य न हो। जब तक संसद इस सम्बन्ध में अन्यथा उपबन्ध न करे, राज्यपाल को बिना किराया दिए पदावास के उपयोग तथा अपने पद के कर्तव्यों का सुविधा और

---

१. यद्यपि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्देशित होता है, लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि वह राज्य-मन्त्रालय के ऊपर लाद दिया जाएगा। १९४७ और १९४९ के बीच परम्परा यह रही है कि राष्ट्रपति राज्यपाल को अन्तिम रूप से चुनने से पूर्व सम्बद्ध राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श कर लेता है। नए संविधान के अधीन इस परम्परा का चालू रहना अनिवार्य है। के० सथानमम—"दी कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया", पृ० १६२।

प्रतिष्ठा के साथ और निर्वहन करने के लिए यात्रा व व्यय सम्बन्धी दूसरे भत्तों[1] के अलावा ५, ५०० रु० प्रति मास वेतन का हक होगा।

राज्यपाल की शक्तियाँ—संविधान राज्यपाल को कई शक्तियाँ प्रदान करता है। इन शक्तियों को चार शीर्षकों में बाँटा जा सकता है। (क) कार्यपालिका, (ख) विधायिनी, (ग) वित्तीय और (घ) न्यायिक। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका शक्ति का भण्डार है और वह इस शक्ति का या तो स्वयं और या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा संविधान के अनुसार प्रयोग करता है।

(क) **कार्यपालिका शक्तियाँ**—राज्यपाल की कार्यपालिका-शक्तियाँ उन सब विषयों के प्रशासन से सम्बन्ध रखती है जो राज्य-सूची में प्रगणित हैं और जिनके सम्बन्ध में कानून बनाने के लिए राज्य का विधान मण्डल सक्षम है। समवर्ती सूची में प्रगणित मामलों के सम्बन्ध में राज्यपाल की कार्यपालिका-शक्तियाँ राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अधीन हैं।

विधायिनी शक्तियाँ—अपनी विधायिनी शक्तियों के बल पर राज्यपाल राज्य के विधान मण्डल को आहूत कर सकता है, सदन या सदनों का सत्रावसान कर सकता है और विधान-सभा का विघटन कर सकता है। यदि राज्य का विधान मण्डल द्विसदनात्मक है, तो वह विधान-परिषद् के लिए कुछ सदस्यों को नामनिर्देशित भी कर सकता है। वह राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन को अथवा राज्य परिषद् के साथ समवेत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्य के विधान मण्डल के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में राज्यपाल विधान-सभा को अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था में साथ समवेत हुए दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्यपाल का यह सम्बोधन ब्रिटिश संसद में सम्राट् द्वारा दिए गए भाषण का तत्स्थानी है। राज्य के विधान मण्डल द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक उस समय तक कानून नहीं बनता, जब तक कि उस पर राज्यपाल की अनुमति प्राप्त न हो जाए। राज्यपाल यदि चाहे तो विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है, चाहे तो उसे रोक सकता है और चाहे तो उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है। राज्यपाल किसी विधेयक को, यदि वह धन-विधेयक नहीं है तो पुनर्विचार के लिए राज्य के विधान मण्डल को

१. वर्तमान काल में यू० पी० का राज्यपाल अपने वेतन के अलावा निम्न भत्ते प्राप्त करता है। व्यय सम्बन्धी भत्ते १६,००० रु० (वार्षिक); सैनिक-मन्त्री और व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डल १६,००० रु० (वार्षिक), पदावास की सामग्री और सजावट १५,००० रु० (वार्षिक), सजावट का नया सामान ६३,००० रु० (पांच वर्षों में); सुसज्जा का भत्ता (नियुक्ति पर) १६०० रु०। मनोरंजन-भत्ते ५,००० रु० (वार्षिक)।

पास वापस भेज सकता है। यदि विधेयक दुबारा पास कर दिया जाता है, तो राज्यपाल उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकता। कोई भी धन विधेयक राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान-सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता।

राज्यपाल की अध्यादेश निकालने की शक्ति—*संविधान ने राज्य के विधान मण्डल के विश्रान्तिकाल में राज्यपाल को अध्यादेश निकालने की शक्ति प्रदान की है। राज्यपाल द्वारा निकाले गए अध्यादेश का वही बल होता है जो राज्य के विधान मण्डल के अधिनियम का होता है लेकिन वह विधान मण्डल के पुनः समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा उस कालावधि की समाप्ति से पूर्व विधान मण्डल द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास किए जाने पर प्रवर्तन में नहीं रहता। कुछ अवस्थाओं में राज्यपाल राष्ट्रपति के अनुदेशों के बिना अध्यादेश नहीं निकाल सकता।*

वित्तीय शक्तियाँ—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पूर्व राज्यपाल *(मन्त्रियों के द्वारा) राज्य के विधान मण्डल के समक्ष 'वार्षिक वित्त विवरण' रखता* है। इसमें उस राज्य की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययों का विवरण *होता है। किसी भी अनुदान-मांग (अर्थात् राज्य के राजस्व के किसी भाग को खर्च* करने की शक्ति की मांग) अथवा करारोप के प्रस्ताव को, सिवाय इसके कि राज्यपाल *के नाम से करते हुए मन्त्री उपस्थित करे, अन्य किसी प्रकार से उपस्थित नहीं किया* जा सकता।

न्यायिक शक्तियाँ और उन्मुक्तियाँ—*राज्यपाल को कतिपय न्यायिक शक्तियाँ* भी प्राप्त है। वह जिला-न्यायाधीशों और दूसरे न्यायिक पदाधिकारियों की नियुक्तियों, पद-स्थापनाओं और पदोन्नति का निर्णय कर सकता है। उसे विधि-न्यायालयों द्वारा सिद्ध दोष व्यक्तियों को क्षमा देने और उनके दण्डादेश को कम करने की भी शक्ति प्राप्त है। राज्यपाल अपनी पदावधि में तमाम फौजदारी दीवानी और प्रक्रियाओं से वैयक्तिक उन्मुक्ति का उपभोग करता है। दूसरे शब्दों में देश के किसी भी न्यायालय में किसी भी अपराध के लिए उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

१३२. राज्यपाल की शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग होता है ?

साधारणतः उसे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करना पड़ता है—जिस प्रकार कि भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में सिद्धान्त और व्यवहार के बीच व्यवधान है, वही स्थिति राज्य के राज्यपाल की है। सिद्धान्ततः राज्यपाल तमाम कार्यपालिका शक्तियों का पुंज है लेकिन व्यवहारतः वह एक वैधानिक शासक है और उसे सामान्यतः अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करना पड़ता है। संविधान का कथन है, "जिन बातों में इस संविधान द्वारा या उसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा

की जाती है कि वह अपने कृत्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्री-परिषद् होगी।" [अनुच्छेद १६३ (१)]

साधारण परिस्थितियों के अधीन थोड़ी-सी स्वविवेकी शक्तियाँ—यह एक महत्त्वपूर्ण उपबन्ध है। भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में इसका तत्स्थानी कोई उपबन्ध नहीं है। लेकिन साधारण परिस्थितियों में संविधान यह छोड़कर कि आसाम का राज्यपाल कतिपय आदिम जाति जनक्षेत्रों और सीमान्त भूखण्डों के प्रशासन के सम्बन्ध में स्वविवेक से कार्य कर सकता है, राज्यपाल को थोड़ी ही शक्तियाँ देता है। यह ऐसा इसलिए है क्योंकि उसे भारत के राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में इन क्षेत्रों और भूखण्डों का प्रशासन करना पड़ता है। राज्य का राज्यपाल मुख्यमन्त्री को नियुक्त करने में, विधान सभा का विघटन करने में और राज्य में वैधानिक तन्त्र की विफलता का राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देने में, स्वविवेक से कार्य कर सकता है। लेकिन इनमें से किसी भी मामले में संविधान की वास्तविक क्रियान्विति में राज्यपाल की अपनी वैयक्तिक रुचि-अरुचि का कोई स्थान न होगा।

साधारणतः राज्यपाल को वैधानिक शासक होना चाहिए—इस प्रकार, साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह प्रायः समस्त मामलों में अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करेगा अथवा दूसरे शब्दों में राज्य-प्रशासन का वैधानिक या ध्वजमात्र शासक होगा। यह ठीक है कि संविधान ने इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राज्यपाल के लिए अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करना अनिवार्य है। लेकिन संसदीय शासन प्रणाली के अधीन, जिसे कि भारत में केन्द्र और राज्यों—दोनों स्थानों पर अंगीकृत किया गया है, यह अपरिहार्य है कि केवल कुछ उल्लिखित अपवादों को छोड़कर राज्यपाल अपने मन्त्रियों की जो विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं, मन्त्रणा के अनुसार कार्य करे। उसका वास्तविक कार्य "मन्त्रणा देना, चेतावनी देना और फिर झुक जाना" है। राज्यपाल के नाम से जो भी कार्य किया जाता है, उसका उत्तरदायित्व मन्त्रियों के सिर पड़ता है। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि जो उत्तरदायित्व को वहन करते हैं, वे शक्ति का भी प्रयोग करें। चूंकि राज्यपाल का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, इसलिए वह किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य राज्यपाल को ध्वजमात्र शासक बनाना था, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि उन्होंने जनता के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा उसके निर्वाचन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और इसके स्थान पर यह निश्चित किया कि वह राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाएगा। यह सोचा गया कि "जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल और विधान मण्डल के प्रति उत्तर-

दायी मुख्य मन्त्री का एक साथ होना तनाव और उसके फलस्वरूप प्रशासन मे दुर्बलता उत्पन्न कर सकता है।"[1]

• वे परिस्थितियाँ जिनके अधीन राज्यपाल अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करने के लिए विवश न होगा—लेकिन ऐसी कतिपय उल्लिखित परिस्थितियाँ हैं जिनके अधीन राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति के निर्देशन में आ जाएगा और उस *सीमा तक अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होगा।* उदाहरणार्थ यदि राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा निकाल देता है, तो राज्यपाल राष्ट्रपति का अभिकर्त्ता बन जाता है और अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर कार्य न करके उनके अनुदेशो के अधीन कार्य करता है। यही प्रभाव उस समय होगा जबकि अनुच्छेद ३५६ के अधीन उद्घोषणा द्वारा राष्ट्रपति इस बात की उद्घोषणा कर देता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता और उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर राज्य-सरकार के समस्त या कोई कार्य अपने हाथ मे ले लेता है। इस प्रकार की उद्घोषणा के फलस्वरूप राज्य की मन्त्री-परिषद् का विघटन कर दिया जाएगा और भारत के राष्ट्रपति की ओर से राज्य का शासन सीधे राज्यपाल करेगा। यह एक असाधारण शक्ति है और संविधान सभा में उसकी कटु आलोचना हुई थी। आलोचकों का कथन था कि यह तो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के दुष्टतापूर्ण विभाग ९३ का पुनरधिनियमन है और इसलिए साम्राज्यवादी अतीत का एक अवशेष है। संविधान के आपात-उपबन्धों के फलस्वरूप राज्य की स्वायत्तता स्थगित हो सकती है और राज्य सरकार अस्थायी रूप से संघ-सरकार में विलय हो सकती है। *दूसरे शब्दों में संविधान राज्यो में पूर्ण उत्तरदायी शासन की* स्थापना नही करता।

१३२. मन्त्री-परिषद्

नियुक्ति-प्रक्रिया—संविधान ने उपबन्ध किया है कि जिन बातों में संविधान द्वारा या उसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्री-परिषद् होगी। मन्त्री-परिषद् की नियुक्ति के लिए निम्न प्रक्रिया निर्धारित की गई है। राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है। मुख्यमन्त्री को नियुक्त करते समय राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि इस व्यक्ति को राज्य की विधान सभा में स्थायी

---

१. ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन, ७५ पाद टिप्पणी।

बहुमत तो प्राप्त है न ? दूसरे मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है। समस्त मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि विधान मण्डल के सदस्य हों। ऐसा कोई व्यक्ति जो राज्य के विधान मण्डल का सदस्य न हो, मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, परन्तु वह छः महीने की समाप्ति पर मन्त्री नहीं रहेगा, यदि वह इसी कालावधि में राज्य के विधान मण्डल के लिए निर्वाचित नहीं हो जाता। मन्त्रियों के बीच विभागों का वितरण राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है।

मन्त्री-परिषद् और राज्यपाल के सम्बन्ध—राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री-परिषद् है। यद्यपि प्रशासन राज्यपाल के नाम में संचालित होता है, लेकिन वास्तविक निर्णय मन्त्रियों द्वारा किए जाते हैं। राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के मामलों के प्रशासन से सम्बद्ध मन्त्री-परिषद् के निर्णयों को, व्यवस्थापन प्रस्तावों को तथा ऐसी सूचना को जो राज्यपाल माँगे, राज्यपाल के पास पहुँचाए। यदि किसी मामले का निर्णय किसी व्यक्तिगत मन्त्री के द्वारा किया गया है तो राज्यपाल इस बात की माँग कर सकता है कि वह मामला समग्र परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया जाए। इस तरह राज्यपाल का यह अधिकार है कि उसे सब प्रकार की सूचना मिलती रहे। मन्त्रियों द्वारा विचारित किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में उन्हें चेतावनी तथा मन्त्रणा देकर राज्यपाल उनके मार्ग-दर्शक और मित्र के रूप में भी कार्य कर सकता है। लेकिन जहाँ मन्त्रियों ने एक बार किसी बात का निश्चय कर लिया, राज्यपाल केवल उन थोड़े से अपवादों को छोड़कर, जिनका हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं, उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य है। संविधान का कहना है कि मन्त्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे। इस प्रकार सिद्धान्ततः राज्यपाल यदि चाहे तो वह किसी मन्त्री को अपदस्थ कर सकता है लेकिन मन्त्री-परिषद् का राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व देखते हुए राज्यपाल सामान्यतः अपनी इस शक्ति का व्यवहार में प्रयोग नहीं करेगा।

मन्त्री-परिषद् और राज्य विधान मण्डल के सम्बन्ध—संविधान ने इस बात का उपबन्ध करके कि मन्त्री-परिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी [अनुच्छेद १६४ (२)] राज्य विधान मण्डल के साथ मन्त्री-परिषद् के सम्बन्ध का निरूपण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्री-परिषद् उसी समय तक पदारूढ़ रह सकती है, जब तक कि उसे विधान-सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। मन्त्री राज्य विधान मण्डल के सदस्य हैं। उन्हें उनकी बैठकों में उपस्थित होने और उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है। वे सरकारी विधेयकों को पुरःस्थापित करते है और उन्हें पास करवाते है।

राज्य का विधान मण्डल मन्त्रियों के कार्य का कई तरह से नियन्त्रण और

निरीक्षण कर सकता है। विधान मण्डल के सदस्य सूचना को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। बजट वादविवादों के दौरान में वे प्रशासन के विरुद्ध जनता की शिकायतों की आवाज को बुलन्द कर सकते हैं। वे अतिशय सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर 'कामरोको' प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रस्तावों द्वारा सरकार की नीतियों को प्रकाश में लाया जा सकता है और उसकी गलतियों की आलोचना की जा सकती है। अन्ततः सामुदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के कारण विधान सभा किसी सरकारी विधेयक को पास न करना अस्वीकार करके किसी ऐसे गैर-सरकारी विधेयक को पास करके जिसका मन्त्रियों ने विरोध किया हो, मन्त्रियों द्वारा उपस्थित की गई बजट की माँगों में कमी करके अथवा मन्त्री-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास का सीधा प्रस्ताव पास करके, मन्त्री-परिषद् को पदच्युत कर सकती है। कहने का सार यह है कि विधान मण्डल मन्त्रियों को बना या बिगाड सकता है। दूसरी ओर मन्त्री भी विधान मण्डल को अपने नियन्त्रण और प्रभाव में रख सकते हैं। वे बहुमत वाले दल के नेता होते हैं। इस बहुमत का समर्थन मिलने के कारण साधारणतः वे अपने विधायी प्रस्तावों को पास करवाने में सफल हो जाते हैं। यदि दल का अनुशासन कठोर है और उसका विधान मण्डल में पूर्ण बहुमत है तो मन्त्री-परिषद् विधान मण्डल को अपने हाथ की कठपुतली बना सकता है। विधान मण्डल पदारूढ दल को उसी समय अपदस्थ कर सकता है जबकि दल का बहुमत संदिग्ध हो अथवा उसके सदस्यों में फूट हो।

राज्य का विधान मण्डल

१३३. एक सदनात्मक और द्विसदनात्मक राज्य विधान मण्डल

संविधान ने निश्चित किया है कि प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मण्डल होगा जो राज्यपाल तथा विधान मण्डल के यथा-स्थिति एक या दो सदनों से मिलकर बनेगा। पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश के राज्यों में दो सदन होंगे। भाग (क) के शेष राज्यों में एक सदनात्मक विधान मण्डल होंगे। द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य में उच्च सदन विधान परिषद् और निम्न सदन विधान सभा के नाम से प्रख्यात होगा। यदि राज्य का विधान मण्डल एक सदनात्मक है, तो वह विधान सभा कहलाएगा। राज्यों को द्विसदनात्मक विधान मण्डल देने के प्रश्न पर संविधान सभा में खूब जोर-दार बहस हुई थी। फलतः किसी राज्य में द्विसदनात्मक विधान मण्डल हो या न हो, इस बात का निश्चय उस राज्य के प्रतिनिधियों के मतानुसार किया गया। तीन

राज्यों—आसाम, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा ने द्वितीय सदन का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत भाग (क) के शेष छः राज्यों ने द्वितीय सदन का समर्थन किया। इसलिए अनुच्छेद १६८ इन राज्यों के लिए द्विसदनात्मक विधान मण्डलों का उपबन्ध करता है।

द्वितीय सदनों के उत्सादन के लिए उपबन्ध—लेकिन अनुच्छेद १६९ में निश्चित किया है कि द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य के उच्च सदन का उत्सादन किया जा सकता है यदि राज्य की विधान सभा ने इस उद्देश्य का प्रस्ताव सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पास कर दिया हो।

१३४. विधान सभा

रचना और निर्वाचन—संविधान ने निर्धारित किया है कि किसी राज्य की विधान सभा ५०० से अनधिक और ६०[1] से अन्यून सदस्यों से मिलकर बनेगी। विधान सभा की सदस्यता के लिए सार्वभौम वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचक गणों के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होंगे।

कतिपय वर्गों के लिए स्थानों का संरक्षण—संविधान ने पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक गणों का उत्सादन कर दिया है, लेकिन विधान सभा में कतिपय अल्प-संख्यक वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए उपबन्ध कर दिया है। अनुच्छेद ३३२ ने निश्चित किया है कि विधान सभा में (क) अनुसूचित जातियों के लिए तथा (ख) आसाम के आदिम जाति क्षेत्रों में की अनुसूचित आदिम जातियों को छोड़कर अन्य आदिम जातियों के लिए स्थान संरक्षित रहेंगे। संविधान ने आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए भी विशेष उपबन्ध किया है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल की राय हो कि उस राज्य की विधान सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और पर्याप्त नहीं है, तो उस विधान सभा में उस समुदाय के जितने सदस्य वह समुचित

---

१. जनता के प्रतिनिधित्व-अधिनियम (१९५०) ने प्रत्येक राज्य की विधान-सभा की सदस्य-संख्या निम्न प्रकार से निश्चित की है—

भाग (क) राज्य—आसाम १०८, बिहार ३३०, बम्बई ३१५, मध्य प्रदेश २३२, मद्रास ३७५, उड़ीसा १४०, पंजाब १२६, उत्तर-प्रदेश ४३०, पश्चिमी बंगाल २३८।

भाग (ख) राज्य—हैदराबाद १७५, मध्यभारत ९९, मैसूर ९७, पेप्सू ६०, राजस्थान १६०, सौराष्ट्र ६०, त्रावनकोर-कोचीन १०८।

सभी नाम-निर्देशित कर सकता है। लेकिन यह स्मर्त्तव्य है कि अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा आंग्ल-भारतीयों के लिए स्थानों के संरक्षण सम्बन्धी ये विशेष उपबन्ध संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि की समाप्ति पर प्रभावी न रहेंगे और उस समय तक नहीं बढ़ाए जाएँगे जब तक कि संविधान में संशोधन न हो।

सदस्यों की अर्हताएँ—किसी राज्य की विधान सभा में के किसी स्थान के लिए चुने जाने के लिए संविधान के निम्न अर्हताएँ निश्चित की हैं। प्रत्याशी के लिए यह आवश्यक है कि (क) वह भारत का नागरिक हो, (ख) २५ वर्ष की अवस्था पूरी कर चुका हो, और (ग) ऐसी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो इस बारे में राज्य के विधान-मण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन निश्चित की जाएँ। राज्य की विधान सभा अपने सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष निर्वाचित करती है।

विधान सभा की अवधि—प्रत्येक राज्य की विधान सभा की अवधि, यदि उसका पहले ही विघटन न कर दिया जाए तो अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से ५ वर्ष की होगी। परन्तु इस कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद कानून द्वारा किसी कालावधि के लिए बढ़ा सकती है, जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छः मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी।

१३५. *विधान-परिषद्*

रचना—द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की समस्त संख्या की एक चौथाई से अधिक न होगी। तथापि यह निर्धारित कर दिया गया है कि किसी अवस्था में भी किसी राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या चालीस से कम न होगी।"[1] जब तक संसद कानून द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे, विधान परिषद् की रचना निम्न रीति से होगी—(क) तृतीयांश स्थानीय निकायों के सदस्यों द्वारा

---

१. जनता के प्रतिनिधित्व-अधिनियम (१६५०) के अधीन विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदों की सदस्य-संख्या निम्न प्रकार से निश्चित हुई है—भाग (क) के राज्य—बिहार ७२, बम्बई ७२, मद्रास ७२, पंजाब ४०, उत्तरप्रदेश ७२, पश्चिमी बंगाल ५१। भाग (ख) के राज्य—मैसूर ४०।

निर्वाचित होगा, (ख) द्वादशांश ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होगा जो किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष से स्नातक हैं, (ग) द्वादशांश ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न स्तर की शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम-से-कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं, (घ) तृतीयांश राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नहीं है और (ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से नाम-निर्देशित किए जाएँगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। विधान परिषद् के लिए तमाम निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत के द्वारा सानुपात प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होंगे।

सदस्यों की अर्हताएँ—विधान परिषद के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले व्यक्ति में निम्न अर्हताओं का होना आवश्यक है—(क) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, (ख) उसकी आयु कम-से-कम तीस वर्ष की होनी चाहिए, और (ग) उसमें ऐसी अन्य अर्हताएँ होनी चाहिएँ जो संसद इस बारे में कानून के द्वारा या अधीन निश्चित करे। राज्य की विधान परिषद् अपने ही सदस्यों में से एक सभापति और एक उप-सभापति निर्वाचित करेगी। विधान परिषद् स्थायी निकाय होगी और उसका विघटन नहीं किया जाएगा। विधान परिषद् के सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होंगे और तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष हट जाया करेंगे।

राज्य के विधान मण्डल के सत्र—राज्य के विधान मण्डल के सदन या सदनों को (यथास्थिति) राज्यपाल एक वर्ष में कम-से-कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत करेगा और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए राज्यपाल, समय-समय पर सदन या सदनों को आहूत कर सकेगा, उनका सत्रावसान अथवा विधान सभा का विघटन कर सकेगा।

१३६. राज्य-विधान मण्डल की शक्तियाँ और उसके कृत्य

विधायिनी शक्तियाँ—राज्य के विधान मण्डल को राज्य सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस क्षेत्र में राज्य विधान मण्डल साधारणतः अपवर्जी क्षेत्राधिकार का उपभोग करता है। राज्य विधान मण्डल समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता है। लेकिन इस क्षेत्र में उसका क्षेत्राधिकार अपवर्जी नहीं है। इन विषयों पर संसद भी कानून बना सकती है और यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित

कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के विरुद्ध है तो संसद द्वारा निर्मित कानून, चाहे वह उसके अधिनियमन के पहले या पीछे पास हुआ हो, अभिभावी होगा और राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा। लेकिन यदि किसी समवर्ती विषय से सम्बद्ध राज्य के कानून के ऊपर, उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई है तो वह उसी विषय पर पास किए गए संघीय कानून के ऊपर अभिभावी होगा।

वित्तीय शक्तियाँ— *राज्य का विधान मण्डल राज्य के वित्त पर भी नियन्त्रण रखता है।* इस क्षेत्र में यदि राज्य का विधान मण्डल द्वि-सदनात्मक है, तो विधान-सभा की स्थिति सर्वोच्च होती है। राज्य के राजस्वों पर भारित व्यय के अलावा, जिस पर राज्य का विधान मण्डल वाद-विवाद कर सकता है, पर मतदान नहीं दे सकता, समस्त व्यय-प्रस्तावों का अनुदान मांगों के रूप में विधान सभा के सम्मुख उपस्थित किया जाना अनिवार्य है। विधान सभा माँग को स्वीकार या अस्वीकार अथवा उसकी राशि को कम कर सकती है। इसी प्रकार विधान सभा के अनुमोदन के बिना कोई भी कर नहीं लगाए जा सकते।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण— नए संविधान ने केन्द्र और प्रान्तों दोनों स्थानों पर संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की है। फलतः राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री-परिषद् को विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी बना दिया गया है। इस प्रकार विधान मण्डल मन्त्री-परिषद् के ऊपर नियन्त्रण और निरीक्षण रख सकता है तथा उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ कर सकता है। इसके अलावा जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं विधान मण्डल के सदस्य प्रश्नों, बजट के वाद-विवादों तथा 'कामरोको' प्रस्तावों के द्वारा शासन की गलतियों को जनता के सामने ला सकते हैं।

१३७. राज्य विधान मण्डल के दो सदनों के सम्बन्ध

विधान सभा की परमेष्ठता—द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य में निम्न सदन अर्थात् विधान सभा को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। उच्च सदन (अर्थात् विधान परिषद्) न केवल द्वितीय सदन ही है अपितु गौण सदन भी है। वित्तीय मामलों में विधान सभा को ही पूरी और अन्तिम सत्ता प्राप्त है।

धन विधेयकों के सम्बन्ध में—धन विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान सभा में ही पुरःस्थापित कर दिया जाता है, तब वह विधान परिषद् के पास भेजा जाता है। परिषद् के पास भेजे जाने के १४ दिन के पश्चात् वह विधेयक चाहे इस बीच में परिषद् ने उसे पास किया हो या न किया हो, राज्यपाल की स्वीकृति

मिल जाने पर कानून बन जाता है। इसके अलावा अनुदान माँगों पर केवल विधान सभा ही मत दे सकती है।

अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में—धन विधेयकों को छोड़कर, अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान सभा विधान परिषद् की अपेक्षा महत्तर शक्तियों का उपभोग करती है। यदि विधान परिषद् वाले राज्य की विधान सभा द्वारा धन विधेयक से किसी अन्य विधेयक के पास किए जाने तथा विधान परिषद् के पास पहुँचाए जाने के पश्चात्—(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उसके विधेयक के पास किए बिना तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है जिससे सभा सहमत नहीं होती, तो विधान सभा विधेयक को उसी या किसी आगामी सत्र में विधान परिषद् द्वारा प्रस्तावित संशोधनों सहित या बिना, यदि कोई हों, पुनः पास कर सकती है और इस प्रकार पास किए गए विधेयक को विधान परिषद् तक पहुँचा सकती है। यदि विधान सभा द्वारा विधेयक को इस प्रकार दोबारा पास किए जाने तथा विधान परिषद् तक पहुँचाए जाने के पश्चात्—(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है; अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उसके पास हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है, जिनसे सभा सहमत नहीं होती; तो विधेयक राज्य के विधान मण्डल के दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पास किया समझा जाएगा जिसमें कि वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पास किया गया था।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में—राज्य की कार्यपालिका का नियन्त्रण विधान सभा के हाथ में रखा गया है और यदि किसी राज्य में द्वितीय सदन है तो विधान परिषद् सूचना आदि प्राप्त करने के अलावा इस शक्ति में कोई हिस्सा नहीं रखती। संविधान ने मन्त्री-परिषद् को सामूहिक रूप से अकेले विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया है। दूसरे शब्दों में विधान परिषद् नहीं, अपितु विधान सभा ही मन्त्री-परिषद् को अपदस्थ कर सकती है।

१३८. राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों पर प्रतिबन्ध

कतिपय विधेयकों की पुनःस्थापना के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी—नया संविधान राज्य विधान मण्डलों को उन शक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक शक्तियाँ देता है जिनका प्रान्तीय विधान मण्डल १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन उपभोग करते थे। साधारण परिस्थितियों के अधीन अपने निश्चित क्षेत्र में

वे करीब-करीब प्रभुत्व-सम्पन्न हैं लेकिन उनकी सक्षमता के ऊपर लगाए गए कुछ प्रतिबन्ध हमारे संविधान की एकात्मक भावना को प्रकट करते हैं। पहली बात यह है कि कुछ विधेयक भारत के राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना राज्य के विधान मण्डल में प्रस्तावित नहीं किए जा सकते। उदाहरणार्थ यह शर्त उन विधेयकों के ऊपर लागू होती है जो राज्य के भीतर या दूसरे राज्यों के साथ वाणिज्य, व्यापार और समागम की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हैं। (अनुच्छेद ३०४)। दूसरी बात यह है कि राज्य विधान मण्डल द्वारा पास किए गए कुछ विधेयक उस समय तक प्रभावी नहीं हो सकते, जब तक कि वे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी स्वीकृति प्राप्त न कर लें। इस कोटि में (१) राज्य द्वारा सम्पत्ति के अर्जन से सम्बद्ध विधेयक (अनुच्छेद) और (२) समवर्ती मामलों से सम्बद्ध वे विधेयक जो संसद द्वारा पास किए गए वर्तमान कानूनों के प्रतिकूल हो जाते हैं (अनुच्छेद २५४)। वे विधेयक भी जो संसद द्वारा समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक घोषित की गई वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर करारोपण करते हैं, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने पर उसकी अनुमति बिना प्रभावी नहीं हो सकते (अनुच्छेद २८६)।

राज्य परिषद् संसद को राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर कानून बनाने की शक्ति दे सकती है—तीसरी बात यह है कि संविधान ने संसद को राज्य-सूची में के विषयों के बारे में कानून बनाने की शक्ति दी है। यदि राज्य परिषद् उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की दो तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित प्रस्ताव द्वारा यह घोषित कर दे कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या इष्टकर है कि संसद को राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर कानून बनाना चाहिए तो संसद उन विषयों के ऊपर कानून बना सकती है (अनुच्छेद २४९)। इस उपबन्ध की कठोर आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि यह उपबन्ध राज्यों की स्वायत्तता के ऊपर कठोर आघात है। तथापि यह स्मर्तव्य है कि राज्य-सूची में के किसी विषय को संसद के विधायी क्षेत्राधिकार को सौंप देने की राज्य परिषद् की शक्ति अर्ध आपात व्यवस्थापन तक मर्यादित है। इस उपबन्ध के अधीन संसद द्वारा पास किए गए कानून केवल एक परिमित अवधि के लिए ही प्रभावी होंगे।

आपात काल में संसद राज्य-सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है—चौथी बात यह है कि जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य-सूची में प्रगणित विषयों में से किसी के बारे में कानून बना सकती है (अनुच्छेद २५०)। इस उपबन्ध के अधीन संसद द्वारा पास किया कानून उद्घोषणा प्रवर्तन की समाप्ति के पश्चात् छः मास की कालावधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगा। पांचवीं बात है कि संसद राज्यों में

वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की घोषणा के प्रवर्तन काल में भी राज्य-सूची में प्रगणित विषयों पर कानून बना सकती है। जब तक ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में है राष्ट्रपति घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी (अनुच्छेद ३५६)।

१३६. भाग (ख) राज्य

संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ख) में उल्लिखित राज्यों में से प्रत्येक के राज्य-क्षेत्र में वह राज्य क्षेत्र समाविष्ट है जो संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले तत्स्थानी देशी राज्य में समाविष्ट था। स्वतन्त्र भारत की बड़ी सफलताओं में से एक इन राज्य-क्षेत्रों का भारत-संघ के एककों के रूप में आठ भाग (ख) राज्यों में और पाँच भाग (ग) राज्यों में विलीनीकरण तथा भाग (क) राज्यों में अभिभावी परिस्थितियों के अनुकूल लोकतन्त्रीकरण है।

राजप्रमुख—नए संविधान के अधीन भाग (ख) में के राज्यों के शासन-तन्त्र को भाग (क) राज्यों के शासन-तन्त्र के पद-चिन्हों पर ले आया गया है। लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उदाहरणार्थ इन राज्यों में से प्रत्येक का कार्यकारी प्रधान राज्यपाल नहीं राजप्रमुख कहलाता है। यद्यपि वह नरेश वर्ग का एक सदस्य है और उसकी उपलब्धियाँ एक भिन्न आधार पर निश्चित होती हैं फिर भी उसकी वैधानिक स्थिति भाग (क) के राज्यपाल की वैधानिक स्थिति के सदृश है। निजी थैली के रूप में राजप्रमुख को दिए गए भत्ते सम्बद्ध राज्य के राजस्वों पर भारित न होकर जैसा कि भाग (क) राज्य के राज्यपाल के वेतन व भत्तों के बारे में है, संघ के राजस्वों पर भारित होते हैं।

विधान मण्डल—संविधान ने उपबन्ध किया है कि इन राज्यों में से प्रत्येक का एक विधान मण्डल होगा जो राजप्रमुख और (क) मैसूर राज्य में दो सदनों व (ख) दूसरे राज्यों में एक सदन से मिलकर बनेगा।

न्याय पालिका—इन राज्यों में न्यायपालिका का सगठन उसी रीति से किया गया है जैसा कि भाग (क) राज्यों में है। लेकिन भाग (क) के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन जहाँ संविधान द्वारा निश्चित किए गए है, वहाँ भाग (ख) राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, छुट्टी और निवृत्ति-वेतन के नियम सम्बद्ध राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किए जाते है।

केन्द्र से सम्बन्ध (क) विधायी—केन्द्र से भाग (ख) राज्यों के सम्बन्ध व्यावहारतः भाग (क) राज्यों के सम्बन्धों की तरह ही हैं। जहाँ तक समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों का प्रश्न है, उनके ऊपर उनका उन प्रतिबन्धों के अधीन रहते हुए

जो भाग (क) राज्यों के विधान मण्डलों पर लागू होते हैं, सामान्य क्षेत्राधिकार होगा।

जम्मू और काश्मीर—लेकिन जम्मू और काश्मीर के राज्य के बारे में विशेष उपबन्ध कर दिए गए हैं। इस राज्य के बारे में सघीय संसद की कानून बनाने की शक्ति (क) सघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित केवल उन विषयों तक जो प्रवेश लिखित द्वारा केन्द्र को दिए गए हैं तथा (ख) उन विषयों तक जो राज्य की सरकार की सहमति से राष्ट्रपति उल्लिखित कर दे, सीमित होंगी।

(ख) प्रशासनिक सम्बन्ध—भाग (क) राज्यों की वैधानिक स्थिति से भाग (ख) राज्यों की वैधानिक स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर इन राज्यों के केन्द्र के साथ प्रशासनिक सम्बन्धों में निहित है। भाग (क) राज्यों के विपरीत भाग (ख) राज्य सघीय सरकार के साधारण निरीक्षण और नियन्त्रण में हैं। इन राज्यों की सरकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उन विशेष निर्देशों का जो राष्ट्रपति समय समय पर प्रख्यापित कर सकता है, पालन करें। इस उपबन्ध को संविधान के प्रारम्भ होने से दस वर्षों की अवधि के लिए किया गया है लेकिन यदि संसद चाहे तो इसे घटा या बढ़ा सकती है। इसके अलावा राष्ट्रपति को इस बात की शक्ति प्राप्त है कि वह भाग (ख) में के किसी राज्य को केन्द्र के साधारण नियन्त्रण से सम्बद्ध उपबन्ध से छुटकारा दे सकता है।

केन्द्रीय नियन्त्रण का औचित्य—कतिपय टीकाकारों ने सघीय सरकार के इस नियन्त्रण की आलोचना की है और इसे 'नई परमेष्ठता' बताया है। स्पष्टतः इसके कारण भाग (ख) राज्यों की स्वायत्तता भाग (क) राज्यों को दी गई स्वायत्तता से कम हो जाती है। लेकिन भाग (ख) राज्यों के ऊपर सघीय सरकार के इस साधारण नियन्त्रण का इस आधार पर कि ये राज्य पिछड़े हुए हैं और अधिकांशतः इनमें सुसंगठित प्रशासनिक व न्यायिक प्रणाली का अभाव है एक अन्तर्कालीन उपबन्ध के रूप में औचित्य सिद्ध किया है। इन राज्यों के प्रशासन व सार्वजनिक जीवन-मानों को (क) राज्यों के धरातल पर आने में कुछ समय लगेगा। जब तक ऐसा होता है, उनके ऊपर केन्द्रीय सरकार का थोड़ा नियन्त्रण होना आवश्यक है।

(ग) वित्तीय सम्बन्ध—भाग (क) राज्यों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों का नियमन करने वाले संविधान के साधारण उपबन्ध भाग (ख) राज्यों के ऊपर भी लागू होंगे।

कतिपय मामलों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था—लेकिन संविधान ने निश्चित किया है कि सघीय सरकार निम्न मामलों के सम्बन्ध में भाग (ख) राज्यों की सरकारों के साथ कोई भी समझौता कर सकती है: (१) ऐसे राज्य में भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत किए जाने वाले किसी कर या शुल्क का उद्ग्रहण तथा संग्रह करना और उसके

आगम का वितरण करना; (२) भारत सरकार द्वारा संविधान के अधीन उद्ग्रहीत किए जाने वाले किसी कर या शुल्क से अथवा अन्य किन्हीं स्रोतों से जो राजस्व राज्य पाता था, उसकी हानि के लिए ऐसे राज्य को केन्द्र द्वारा वित्तीय सहायता अनुदान करना और (३) भाग (ख) राज्य द्वारा शासकों की निजी थैली के रूप में किन्हीं राशियों की करमुक्त देनगी के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को दिया जाने वाला अंशदान।

१४०. भाग (ग) राज्य

केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र—प्रथम अनुसूची के भाग (ग) राज्यों में पूर्वकालीन मुख्य आयुक्तों के प्रान्त (जैसे दिल्ली) और कतिपय पूर्वकालीन देशी राज्यों (जैसे हिमाचल प्रदेश और भोपाल) के राज्यक्षेत्र समाविष्ट हैं। संविधान ने निश्चित किया है कि इन राज्यों में से प्रत्येक का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा और वह इस बारे में अपने द्वारा नियुक्त किए जाने वाले मुख्य आयुक्त या उपराज्यपाल के अथवा पड़ोसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करेगा।

भाग (ग) राज्यों में स्वशासन—भाग (ग) राज्यों में लोकतन्त्रात्मक स्वशासन की स्थापना के बारे में पर्याप्त आन्दोलन होता रहा है। संसद संविधान द्वारा प्रदान की गई शक्तियों के अधीन काम करती हुई एक ऐसे विधेयक पर विचार कर रही है जिसके द्वारा इन राज्यों में विधान मण्डलों, मन्त्री-परिषदों और परामर्शदाताओं का सृजन किया जा सके।

१४१. भाग (घ) राज्य-क्षेत्र

प्रथम अनुसूची के भाग (घ) में अण्डमान और निकोबर द्वीप समाविष्ट हैं। इनका और इस अनुसूची में अनुल्लिखित दूसरे राज्य-क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति करता है और वह इस बारे में अपने द्वारा नियुक्त किए जाने वाले मुख्य आयुक्त या अन्य पदाधिकारी के द्वारा कार्य करता है। राष्ट्रपति ऐसे किसी राज्य-क्षेत्र में शान्ति और सुशासन के लिए तथा संसद-निर्मित किसी कानून का अथवा किसी वर्तमान कानून का जो उस पर लागू है, निरसन या संशोधन करने के लिए विनियम बना सकता है।

सारांश

भारत राज्यों का संघ है। संविधान ने इन राज्यों का तीन विभिन्न कोटियों में वर्गीकरण किया है। संघीय पद्धति के अधीन ये राज्य अर्ध-स्वायत्त स्टटस का उपभोग करते हैं लेकिन साधारण परिस्थितियों में इन्हें अपने उल्लिखित क्षेत्र के भीतर वास्तविक प्रभुत्व शक्ति प्राप्त है। आपातों में उनकी स्वायत्तता को स्थगित किया जा

सकता है।

भाग (क) राज्य की कार्यपालिका-शक्ति औपचारिक रूप में राज्यपाल में निहित है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और पाँच वर्ष तक पद धारण करता है। उसे व्यापक कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। लेकिन वह वैधानिक शासक है और साधारणतः अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता है। यह केवल थोड़ी-सी उल्लिखित अवस्थाओं की ही बात है, जब राज्यपाल केन्द्र का अभिकर्ता हो जाता है और अपने विवेक के अनुसार कार्य करता है।

राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री-परिषद् है। मन्त्री-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य के विधान मण्डल के प्रति (अथवा यदि राज्य में द्वितीय सदन है तो केवल विधान सभा के प्रति) उत्तरदायी है। राज्य की मन्त्री-परिषद् संघ की मन्त्री-परिषद् के पद-चिन्हों का अनुसरण करती हुई ही कार्य करती है।

प्रत्येक राज्य में एक विधान मण्डल है। भाग (क) के छः राज्यों और भाग (ख) के एक राज्य में द्विसदनात्मक विधान मण्डल है। उच्च सदन (विधान परिषद्) परोक्षतः निर्वाचित और नामनिर्देशित सदस्यों से मिलकर बनता है। विधान सभा की तुलना में विधान परिषद् सर्वथा शक्तिहीन है। यह स्थायी सदन है। उसकी अवधि ६ वर्ष है लेकिन प्रति दूसरे वर्ष उसके तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते हैं। विधान सभा जनता का सदन है। वह वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचकगणों के आधार पर प्रत्यक्षतः निर्वाचित होती है। साधारणतः राज्य-सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर राज्य के विधान मण्डल को अनन्यवर्ती क्षेत्राधिकार प्राप्त है लेकिन कुछ परिस्थितियों में यह क्षेत्राधिकार संसद को हस्तान्तरित किया जा सकता है। राज्य का विधान मण्डल (द्विसदनात्मक विधान मण्डलों वाले राज्यों में विधान सभा) राज्य के वित्तों को नियन्त्रित करती है और मन्त्री-परिषद् के कार्य का निरीक्षण करती है।

भाग (ख) राज्य का प्रशासन साधारणतः भाग (क) राज्य के प्रशासन का तत्स्थानी है परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भाग (ख) राज्य में राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख होता है। चूँकि इनमें से अधिकांश राज्य पिछड़े हुए हैं और इनमें सुसंगठित प्रशासनिक व न्यायिक तन्त्र का अभाव है, अतः दस वर्ष की संक्रान्तिशील अवधि के लिए केन्द्रीय सरकार को इन राज्यों के ऊपर साधारण निरीक्षण रखने और नियन्त्रण करने की शक्ति दे दी गई है। यह आशा की जाती है कि इस अवधि की समाप्ति पर इन राज्यों के प्रशासन व सार्वजनिक जीवन के मान भी भाग (क) राज्यों के धरातल पर आ जाएँगे।

भाग (ग) के राज्य केन्द्र द्वारा शासित होते हैं। राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त मुख्य आयुक्तों अथवा उप-राज्यपालों के द्वारा इनका शासन करता है। संसद ऐसे उपायों पर विचार कर रही है जिनसे इन राज्यों में विधान मण्डलों, परामर्शदाताओं व मन्त्री-परिषदों की स्थापना के द्वारा लोकतन्त्रात्मक स्व-शासन को कायम किया जा सके।

अध्याय १७

देशी राज्य : उनका विलीनीकरण और लोकतन्त्रीकरण

९२. देशी राज्यों की पृष्ठभूमि

ब्रिटिश भारत और देशी राज्य—आज भारत में "राज्य" शब्द भारत-संघ के अवयवी एककों के लिए प्रयुक्त होता है। लेकिन ब्रिटिश शासन-काल में यह शब्द देशी नरेशों के अधीनस्थ प्रदेशों के लिए लागू होता था। देशी राज्यों की संख्या ५६२ थी। ये राज्य सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे। इनमें सारे देश का ४५ प्रतिशत क्षेत्र और उसकी कुल जन-संख्या का २६ प्रतिशत भाग पाया जाता था। विस्तार, जनसंख्या और शक्तियों की दृष्टि से उनमें पर्याप्त अन्तर था। "एक ओर तो हैदराबाद था, जिसकी आबादी १ करोड़ ६५ लाख व वार्षिक आय १० करोड़ रुपए थी, दूसरी ओर बावरी था, जिसकी आबादी २७ और वार्षिक आय ८० रु० थी। काठियावाड़ में २८२ राज्य थे। इनमें ८ राज्यों की तो आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी थी, बाकी २७४ राज्यों की कुल वार्षिक आय १३५ लाख रुपए थी। इस राशि को २७४ शासक-परिवारों का पालन करना पड़ता था और इससे आशा की जाती थी कि यह २७४ पृथक् अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों के प्रशासनों का सचालन करे।"

राज्यों की उत्पत्ति—देशी राज्यों की उत्पत्ति विभिन्न रीतियों से हुई। कुछ राज्य बहुत पुराने थे। उदाहरणार्थ, कूचबिहार, त्रावणकोर और कोचीन का इतिहास काफी पुराना था। मैसूर, जोधपुर और उदयपुर जैसे कुछ दूसरे राज्य भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के काफी पूर्व से वर्तमान थे। बहुत से राज्य मुगल-शक्ति के पतन के पश्चात् उत्पन्न हुए। ब्रिटिश शासन की जड़ जमने के पूर्व भारत एक अखण्ड देश नहीं था अपितु स्वतन्त्र राज्यों का एक समुदाय था। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन राज्यों के पारस्परिक संघर्षों में हस्तक्षेप करना शुरू किया, तब उसने उनमें से बहुतों को विजय अथवा दूसरे अधिक कारगर उपायों द्वारा अपने वश में कर लिया। लेकिन ऐसे भी बहुत से राज्य बाकी बच गए जिन्हें अंग्रेजों ने प्रत्यक्षतः अपने अधीन नहीं किया। वरन् राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसीसियों को भारत से बाहर करने के लिए अंग्रेजों को उनकी सद्भावना तथा सहायता की आवश्यकता थी। फलतः उन्होंने इन

राज्यों से सन्धि की और उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता देकर अपना 'स्वामिभक्त मित्र' बना लिया। बहुत से उन भारतीयों को, जिन्होंने अंग्रेजों को भारतीय उप-महाद्वीप के ऊपर अपना आधिपत्य जमाने में सहायता दी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जागीरें प्रदान कीं। इस रीति से भी अनेक राज्यों की उत्पत्ति हुई। स्पष्टतः इस ढंग से प्रादुर्भूत राज्य अपने अस्तित्व के लिए सीधे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऋणी हैं।

देशी राज्यों की अधोगति—देशी राज्य अधोगति के गर्त में डूबे हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से वे सामन्तवाद और प्रतिक्रियावाद के गढ़ थे। अधिकांश राज्यों के नरेश स्वेच्छाचारी की भाँति शासन करते थे। राज्य के प्रशासन में जनता की कोई आवाज नहीं थी और वह राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित थी। कुछ राज्यों में विधान मण्डल थे परन्तु उनका कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं था। ट्रावनकोर, कोचीन, बड़ौदा और ग्वालियर जैसे कुछ राज्यों का शासन प्रबन्ध न्यूनाधिक रूप से प्रगतिशील था, लेकिन उनकी संख्या बहुमत कम थी। आर्थिक दृष्टि से भी राज्य अनुन्नत थे। केवल थोड़े से राज्यों को छोड़कर, शेष राज्यों में औद्योगिक विकास की पूर्ण उपेक्षा की गई थी और उनमें सिर से पैर तक सामन्ती अर्थ-व्यवस्था वर्तमान थी। किसानों की दशा बड़ी दयनीय थी। जमींदार व जागीरदार उनका निर्दयतापूर्वक शोषण और दमन करते थे। राज्यों के साधन-स्रोत अत्यन्त सीमित थे। शासक आकण्ठ विलासिता में मग्न रहते थे। उनके विलास के उपकरण जुटाने में ही राज्यों का आर्थिक मेरुदण्ड टूट जाता था, फलतः राष्ट्र-निर्माण और सामाजिक सेवा के कार्यों के लिए कोष में अत्यल्प धनराशि बच पाती थी। अधिकांश राज्यों में जनता की शिक्षा अथवा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ बिलकुल प्राप्त नहीं थीं। केवल तीन राज्यों में विश्व-विद्यालय थे और डिग्री कालिज केवल तीस राज्यों में थे। राज्यों में कुल मिलाकर केवल ७ प्रतिशत जनता साक्षर थी। यह ठीक है कि इस सम्बन्ध में कुछ राज्य अपवाद-स्वरूप भी थे। उदाहरणार्थ ट्रावनकोर और कोचीन में, भारत में सबसे अधिक ४० प्रतिशत साक्षरता थी।

१४३. सार्वभौम सत्ता

सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय—देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व सम्पन्न राज्य नहीं थे। इसके विपरीत वे ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। 'सार्वभौम सत्ता' शब्द की सांगोपांग व्याख्या कभी नहीं की गई लेकिन साधारण रूप से इसका आशय यह था कि देशी राज्य ब्रिटिश सम्राट् के सार्वभौमत्व के अधीन हैं और इस सार्वभौमत्व का प्रयोग भारत में सम्राट् के प्रतिनिधि वायसराय करते हैं। देशी राज्यों के सम्बन्ध में ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम अथवा सर्वोच्च सत्ता का १९२६ में लार्ड

रीडिंग ने हैदराबाद के निजाम को लिखे गए अपने पत्र में स्पष्ट रूप से निरूपण किया था। उन्होंने लिखा था, "भारत में ब्रिटिश सम्राट् की प्रभुत्व-शक्ति सर्वोच्च है और इसलिए देशी राज्य का कोई भी शासक ब्रिटिश सरकार से समानता के आधार पर बातचीत करने का दावा उपस्थित नहीं कर सकता।"

इसलिए सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय था कि देशी राज्य वास्तविक आशय में राज्य नहीं थे। ह्वीटर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उनकी कोई स्थिति नहीं थी। वे अधीनस्थ अथवा रक्षित राज्य थे। वे न तो युद्ध की घोषणा कर सकते थे और न विदेशी राज्यों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे क्योंकि उनके वैदेशिक सम्बन्ध पूर्णतः ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित होते थे। राज्यों को आन्तरिक क्षेत्र में भी असीमित स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती थी। साम्राज्य, न्याय अथवा सुशासन के हितों के अन्तर्गत होने पर सम्राट् उनके मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के घरेलू मामलों में जब चाहे तब हस्तक्षेप कर बैठती थी। कभी-कभी वह प्रशासक नरेशों को अधिकारच्युत तक कर देती थी। उदाहरणार्थ, १८९१ में मनीपुर के सेनापति को फाँसी दे दी गई। १९३८ में नाभा के महाराजा को पदच्युत और गिरफ्तार किया गया। १९३९ में अलवर के शासक को विवश किया कि वह २४ घण्टे के भीतर-ही-भीतर अपना राज्य छोड़कर चले जाएँ। किसी राज्य के उत्तराधिकार को निश्चित करने और दत्तक-ग्रहण के सम्बन्ध में यह आवश्यक था कि सम्राट की अनुमति प्राप्त कर ली जाए। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मतभेद पैदा होने पर अन्तिम निर्णय सम्राट् के हाथों में रहता था। ब्रिटिश सार्वभौमत्व की अधीनता में देशी राज्यों की स्थिति गुलामों के समान ही था।

१४४. १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघ

भारत के आधुनिक इतिहास में १९३५ के अधिनियम ने प्रथम बार राज्यों और प्रान्तों को एक अखिल भारतीय संघ के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन के अधीन लाने का प्रस्ताव किया। तथापि, यह निश्चित कर दिया गया था कि संघ का प्रादुर्भाव उसी समय होगा जबकि ऐसे देशी राज्यों के शासक जिनकी जनसंख्या समस्त राज्यों की कुल जनसंख्या की आधी से अन्यून हो और जो प्रस्तावित संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन में देशी राज्यों के लिए नियत स्थानों में कम से कम आधे स्थानों के लिए हकदार हों, संघ में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हो जाएँ। राज्यों का संघ में प्रवेश ऐच्छिक था और अमुक राज्य संघ में सम्मिलित होगा या नहीं, इसका निर्णय वहाँ के शासक के ऊपर छोड़ दिया गया था।

योजना की असफलता—यह योजना कार्यान्वित न हो सकी क्योंकि भारतीय

लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने जिसमें देशी नरेश भी सम्मिलित थे, इसका विरोध किया भारतीय जनता को यह सन्देह था कि जब तक राज्यों के आन्तरिक प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण नहीं हो जाता, वे संघ में प्रतिक्रियावादी रुख ग्रहण करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की डगमगाती हुई नौका के लिए अवलम्ब तुल्य सिद्ध होंगे। कांग्रेस ने इस सम्बन्ध में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को फरवरी, १६३८ में पास किए गए प्रस्ताव में स्पष्ट किया, "एक सच्चे संघ के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र एककों से मिलकर बने। ये एकक लोकतन्त्रात्मक निर्वाचन पद्धति द्वारा न्यूनाधिक रूप से एक-सी स्वतन्त्रता, नागरिक स्वाधीनता तथा प्रतिनिधित्व का उपभोग करते हों।" नरेशों ने इस योजना को इसलिए अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उन्हें भय था कि यह उन्हें सम्राट् और संघीय सरकार दो स्वामियों की अधीनता में पटक देगी।

१४५. स्वतन्त्रता के बाद देशी राज्य

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा उत्पन्न की गई उलझन—भारतीय स्वतन्त्रता अपने साथ कई नई समस्याएँ लाई। इन समस्याओं में सबसे जटिल समस्या देशी राज्यों की थी। भारत संघ के साथ उनका क्या सम्बन्ध होने को था? भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने एक बड़ी खतरनाक स्थिति पैदा कर दी थी। अधिनियम ने घोषणा की थी कि राज्यों के ऊपर जो ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम सत्ता थी, वह देश की नई केन्द्रीय सत्ता को हस्तान्तरित हुए बिना ही समाप्त हो गई। इससे भयंकर उलझन पैदा हो गई। औपचारिक रूप से राज्य स्वतन्त्र हो गए और उनकी वही स्थिति हो गई, जो अंग्रेजों की अधीनता में आने के पूर्व थी। कानूनी तौर से राज्य दोनों डोमिनियनों (भारत या पाकिस्तान) किसी में भी सम्मिलित होने अथवा अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए स्वतन्त्र थे। स्पष्ट है कि वह भारत की एकता को भंग करने और उसकी नव-प्राप्त स्वतन्त्रता को भंग करने की एक चेष्टा थी।

राज्यों का भारत संघ में प्रवेश—यदि कहीं अधिकांश राज्य अपने उक्त अधिकार का प्रयोग कर लेते, स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते, तो भारत की राष्ट्रीय एकता और शक्ति को तीव्र आघात पहुंचता। निसर्गतः भारत इस बात के लिए तैयार नहीं था कि ५०० प्रभुत्व सम्पन्न सामन्ती राज्य उसकी सीमाओं के भीतर विद्यमान रहें। ये राज्य राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से किस प्रकार भारत में मिलाए जा सकते थे ताकि भारत एक प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का रूप धारण कर सकता? बिना किसी रक्तपात के पारस्परिक सहयोग के द्वारा इस समस्या का समाधान किस प्रकार सम्भव था? राज्यों से वंचित भारत बिलकुल लुंजपुंज हो जाता।

लेकिन सरदार पटेल जैसे भारतीय नेताओं के प्रयासों और कई नरेशों की देश-भक्ति के फलस्वरूप अधिकांश राज्य भारत संघ में सम्मिलित हो गए। ट्रावनकोर और हैदराबाद जैसे कुछ अपवाद भी थे। लेकिन बाद में इन राज्यों को भी भारत संघ में सम्मिलित कर लिया गया, पहले को तो शान्तिपूर्ण दबाव के द्वारा और दूसरे को शक्ति द्वारा। जूनागढ़ के नवाब ने अपने राज्य की भौगोलिक स्थिति और जनता की इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए उसके पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। लेकिन जनता के दृढ़ संकल्प ने शासक की कुचेष्टा को निष्फल कर दिया। काश्मीर के स्थायी प्रवेश का प्रश्न अभी अनिश्चित है। लेकिन भारत ने अपने अटल निश्चय की घोषणा कर दी है कि इस प्रश्न का निर्णय राज्य की जनता ही करेगी।

दृढ़ीकरण (राज्यों का विलीनीकरण)—भारत संघ में राज्यों का प्रवेशमात्र तो समस्या के समाधान में पहला कदम था। ५५२ राज्यों को उसी स्थिति में, जिसमें वे ब्रिटिश शासन की अधीनता में थे, छोड़ देना मूर्खतापूर्ण था। लगभग उन सबके पास ऐसे साधन-स्रोतों का अभाव था जिनसे कि वे एक प्रगतिशील शासन पद्धति कायम रख सकते और भारत संघ के पूर्ण विकसित एकक बने रहते। इसलिए राज्यों को थोड़े से 'विराटकाय और जीने योग्य' एककों के रूप में सगठित कर देना आवश्यक था। इस लक्ष्य को विलीनीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूरा किया गया। मुख्य रूप से इस कार्य को तीन तरह से किया गया है।

राज्यों का प्रान्तों में विलीनीकरण—विलीनीकरण की पहली प्रक्रिया छोटे-छोटे राज्यों को पड़ौसी प्रान्तों में मिला देने की थी। यह प्रक्रिया १ जनवरी, १६४८ को शुरू हुई जब उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के ३६ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ५६,००० वर्गमील और आबादी ७० लाख थी) उड़ीसा और सी पी के प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया। १६ फरवरी, १६४८ को एक कोल्हापुर को छोड़कर दक्षिण के समस्त राज्यों को बम्बई प्रेसीडेंसी में मिला दिया गया। १० जून, १६४८ को गुजरात के राज्य, ताल्लुके और थाने, जिनकी संख्या १५३, क्षेत्रफल १६३०० वर्गमील और आबादी २७ लाख थी, बम्बई प्रेसीडेंसी के भाग बन गए।

राज्यों का संघों में विलीनीकरण—राज्यों के विलीनीकरण की दूसरी प्रक्रिया यह थी कि कई बड़े-बड़े राज्यों को संघों (यूनियनों) के रूप में सगठित कर दिया गया ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक बन सकें। सबसे पहले काठियावाड़ अथवा सौराष्ट्र के राज्यों का एक संघ बनाया गया। यह अनुष्ठान १५ फरवरी, १६४८ को पूरा हुआ। इस संघ में ३० राज्य शामिल हैं। इसका क्षेत्रफल ३१८८५ वर्ग मील और जन-संख्या ३५ लाख से ऊपर है। न्यूनाधिक रूप से सौराष्ट्र के ही आदर्श

पर देश के दूसरे भागों में राजस्थान, मध्यभारत और पेप्सू जैसे संघों का निर्माण हो गया है।

चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों में विलीनीकरण—तृतीयतः कुछ राज्यों अथवा राज्य समूहों को चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों (भाग ग राज्यों) में मिला दिया गया। इन प्रान्तों का शासन-प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार की देख-रेख में होता है। इस प्रकार शिमला पहाड़ी के २२ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ११,२५४ वर्ग मील और जन-संख्या १०.४६ लाख थी) हिमाचल प्रदेश के रूप में संगठित किया गया। विंध्य-प्रदेश, भोपाल, बिलासपुर, कच्छ और मनीपुर-त्रिपुरा इसी कोटि के राज्य हैं। इनका शासन-प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार करती है।

लोकतन्त्रीकरण—स्वतन्त्रता के स्वर्णोदय के पश्चात अधिकांश राज्यों में स्वेच्छाचारिता का अन्त करने और उनकी संस्थाओं व प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण करने के समानान्तर लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। नए संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग ख में सम्मिलित राज्य-संघों अथवा राज्यों के राजप्रमुख वैधानिक शासक हो गए हैं और उनकी स्थिति भाग (क) राज्यों के राज्यपालों के समान ही है। मूलभूत अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में इन राज्यों की जनता और प्रान्तों की जनता में कोई भेद नहीं है। भाग (ख) राज्यों को १० वर्ष के लिए केन्द्रीय शासन की देख-रेख में रखा गया है ताकि अन्तर्काल के दौरान में इनके प्रशासन का नवीनीकरण हो सके। प्रथम अनुसूची के भाग ग में जो पूर्वकालीन देशी राज्य सम्मिलित हैं उनमें लोकतन्त्र की बहुत कम उन्नति हुई है लेकिन अब इस त्रुटि को दूर करने के यथासम्भव उपाय किए जा रहे हैं।

रक्तहीन क्रान्ति—१५ अगस्त, १९४७ के पश्चात् देशी राज्यों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे एक गौरवपूर्ण रक्तहीन क्रान्ति कहा गया है। हैदराबाद, जूनागढ़ और काश्मीर को छोड़कर शेष देशी राज्यों के विलीनीकरण और लोकतन्त्रीकरण की दोहरी प्रक्रिया बिलकुल शान्तिपूर्वक, लगभग अलक्षित भाव से घटित हो गई है। यह सही है कि नरेशों के सहयोग को प्राप्त करने के लिए एक बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ी है। इनको निजी खर्चे के तौर पर कुल मिलाकर लगभग आठ करोड़ रुपए प्रति वर्ष दिए जाते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लिए यह व्यय भार असह्य है। नरेशों को अपनी उपाधियाँ बनाए रखने और विशेषाधिकारों का उपभोग करने की भी आज्ञा दे दी गई है। उनमें से कुछ को राजप्रमुख और उपराजप्रमुख बना दिया गया है। लेकिन अधिकांश लोगों की राय में राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति को देखते हुए, जिसका श्रेय सरदार पटेल की दृढ़ और दूरदर्शिनी राजनीतिज्ञता को जाता है, यह उत्सर्ग अनुचित नहीं है।

उपरोक्त प्रबन्ध केवल परिस्थिति का सामना करने के लिए किए गए थे। इस व्यवस्था से भारतीय संघ के विभिन्न प्रशासनिक एककों का न तो संतुलन अथवा संगठन हो सका और न ही उनके बीच की सांवैधानिक असमानता ही दूर हुई। कांग्रेस दल द्वारा स्वीकार किए हुए प्रस्ताव के अनुसार एक भाषा वाले क्षेत्रों को मिलाकर नए राज्यों की रचना करने की माँग भी पैदा हो गई थी। देश में राष्ट्रीय आयोजन का कार्यक्रम आरम्भ किए जाने पर राज्यों के पुनःसंगठन की आवश्यकता का भी अनुभव किया गया। परन्तु इस समस्या पर शान्ति तथा धैर्य के साथ यह दृष्टिकोण के सामने रखकर विचार करना था कि प्रत्येक प्रशासनिक एकक के निवासियों में साथ-साथ सम्पूर्ण देश की जनता का भी हित होना चाहिए।

राज्य पुनःसंगठन आयोग—अतः राज्य के पुनःसंगठन पर विचार करने तथा इसके सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देने का कार्य एक राज्य पुनःसंगठन आयोग को सौंपा गया। यह आयोग २६ दिसम्बर, १९५३ को सैयद फज़ल अली की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। श्री हृदयनाथ कुंजरू तथा श्री के० एम० पणिक्कर इसके अन्य सदस्य थे।

संगठित एककों का रूप—आयोग ने सुझाव दिया कि पुनःसंगठन के आवश्यक परिणाम के रूप में भारतीय संघ के प्रशासकीय एककों के बीच सांवैधानिक असमानता नहीं होनी चाहिए। इसके अनुसार भारतीय संघ के संगठित एकक ये होंगे

(१) 'राज्य'—भारत के प्रशासनिक एकक, तथा

(२) 'क्षेत्र'—केन्द्र द्वारा प्रशासित

राज्य और क्षेत्र—आयोग ने आन्ध्र, असम, बिहार, बम्बई, जम्मू तथा काश्मीर, कर्नाटक, केरल, हैदराबाद, मध्य प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, विदर्भ तथा पश्चिम बंगाल के राज्यों के, तथा दिल्ली, मणिपुर और अण्डमान तथा निकोबार द्वीपसमूहों के केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों के निर्माण का सुझाव दिया।

पुनःसंगठित रूप—भारतीय संघ में अब १५ राज्य तथा ६ क्षेत्र हैं। असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, जम्मू तथा काश्मीर के सम्बन्ध में कोई क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं किया गया है। केरल, मद्रास, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, राजस्थान तथा पंजाब के नाम भी परिवर्तन नहीं किए गए हैं। कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्रों को जिन्हें मिलाकर एक कर दिया गया है, अब 'मैसूर' नाम दे दिया गया है। बड़े आन्ध्र राज्य को जिसमें हैदराबाद तथा आंध्र के राज्य मिला दिए गए हैं, "आन्ध्र प्रदेश" कहा जाता है। आयोग द्वारा प्रस्तावित विदर्भ तथा बम्बई के दो राज्यों को मिला एक तथा बम्बई राज्य बना दिया गया था परन्तु फिर उसे दो भागों में बाँट दिया गया है और इन दो राज्यों के नाम महाराष्ट्र और गुजरात है।

हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा और लक्कादीव, मिनीकाय तथा अमीनदिवी द्वीप-समूह भी संघीय क्षेत्र घोषित कर दिए गए हैं। दिल्ली, मणिपुर तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपों को मिलाकर ६ क्षेत्र हैं।

सारांश

ब्रिटिश शासन काल में भारत दो भागों—देशी और ब्रिटिश भारत में विभाजित था। देशी भारत में ५६२ देशी राज्यों के प्रदेश सम्मिलित थे। राज्य राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे और उनका शासन सामन्ती नरेश स्वेच्छाचारी ढंग से करते थे।

देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य नहीं थे। वे ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। इसका अभिप्राय यह था कि ब्रिटिश सरकार उनके वैदेशिक सम्बन्धों को पूर्णतः नियन्त्रित करती थी और कभी-कभी उनके घरेलू मामलों में भी टांग अड़ा देती थी।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ, राज्यों ने एक कठिन और जटिल समस्या उपस्थित की। कानूनी दृष्टि से राज्य भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित होने या स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देने के लिए स्वतन्त्र थे। निस्संदेह यदि कहीं बहुत से प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बनने के अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर बैठते, तो सारे देश में अव्यवस्था फैल सकती थी। यह सरदार पटेल जैसे नेताओं की राजनीतिज्ञता और नरेशों की देश भक्ति के प्रति श्रद्धांजलि है कि भारत की एकता के ऊपर मंडराने वाला यह खतरा राज्यों के भारत-संघ में प्रवेश करने से दूर हो गया। इस कार्य को तीन तरह से पूरा किया गया। कई छोटे-छोटे राज्यों को पड़ोसी प्रान्तों में मिला दिया गया। कुछ बड़े राज्यों के संघ बना दिए गए ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक हो सकें। कुछ राज्यों अथवा राज्य-समूहों को चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के रूप में (भाग ग राज्य) केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में ले आया गया।

राज्यों के विलीनीकरण के साथ ही साथ उनका लोकतन्त्रीकरण भी होता गया है। देशी राज्यों के स्वरूप-परिवर्तन और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भारतीय एकता को एक गौरवपूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति कहा गया है।

परन्तु उपरोक्त परिस्थिति क्रान्ति का पहला दौर था। सांविधानिक असमानता को दूर करने तथा राष्ट्रीय आयोजन के दृष्टिकोण से राज्यों का पुनःसंगठन करने के लिए एक राज्य पुनःसंगठन आयोग नियुक्त हुआ जिसकी सिफारिशों के आधार पर संगठित एककों का रूप यह था—जो 'राज्य' भारत के प्रशासनिक एकक होंगे तथा क्षेत्र जो केन्द्र द्वारा प्रशासित होंगे।

भारतीय संघ में अब १५ राज्य और ६ क्षेत्र है। उनके नाम ये हैं :—

राज्य—असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, मैसूर, केरल, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, जम्मू तथा कश्मीर और पंजाब।

क्षेत्र—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डामान तथा निकोबार और लक्काद्वीव, मिनीकाय तथा अमीनदिवी।

अध्याय १८

महात्मा गांधी और उनका सन्देश

१४६ गांधी जी : राजनीतिक नेता के रूप में

सेतुरूप और समन्वयकार—आर्थर कोएस्टिलर ने अपने ग्रन्थ 'दी योगी एण्ड दी कमीसार' में लिखा है कि मानव-सभ्यता का भविष्य मानव-मन के पुनर्गठन पर निर्भर है। 'आज की परिस्थिति में न तो सन्त ही हमारी रक्षा कर सकता है और न क्रान्तिकारी ही। दोनों के समन्वय में विश्व का कल्याण है।' महात्मा गांधी इस समन्वय के श्रेष्ठ प्रतीक थे। वह सन्त भी थे और क्रान्तिकारी भी। सन्त के रूप में उनकी तुलना कृष्ण, बुद्ध और ईसा से की जाती है। क्रान्तिकारी के रूप में वह वाशिंगटन, मेजिनी और लेनिन के सदृश ठहरते हैं। गांधीजी के सन्त और क्रान्ति-कारी रूपों के समन्वय का ही यह फल है कि उन्होंने आध्यात्मिक और ऐहिक का सुन्दर मेल मिलाया तथा दोनों का एक साथ निर्वाह किया। अरनेस्ट बारकर ने गांधीजी के समन्वयशील व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह ठीक ही लिखा है कि "मैंने उनमें सन्त फ्रांसिस को पाया, जिसने समस्त विश्व के साथ सामञ्जस्य और विश्व की सब वस्तुओं के साथ प्रेम अनुभव करते हुए गरीबी की सादी जिन्दगी बिताने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, मैंने उनमें सन्त थामस एक्विनस को भी पाया, जो संसार का एक महान् विचारक और दार्शनिक हो गया है और जो बड़ी-बड़ी दलीलें देने में समर्थ था तथा विचारों में सब तोड़-मोड़ों में उन बारीकियों से भली-भाँति परिचित था। इन दोनों के अलावा मैंने उनमें एक व्यावहारिक मनुष्य को भी पाया, जिसके पास अपनी व्यावहा-रिकता को मजबूत बनाने के लिए कानून की शिक्षा भी मौजूद थी और जो अपनी कुशल सलाह से लोगों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए पहाड़ की चोटी से घाटी में भी उतरकर आ सकता था।'[1]

धर्मप्राण राजनीतिज्ञ—महात्मा गांधी स्वभावतः धर्मप्राण व्यक्ति थे, उन्हें राजनीतिज्ञ तो आवश्यकता के कारण बनना पड़ा। गांधीजी का राजनेतृत्व उस विशाल प्रासाद की भाँति था जिसका मूल आधार धर्म हो। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों

१. अरनेस्ट बारकर—सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित "गांधी अभि-नन्दन-ग्रंथ" में, पृ० ४७-४८।

मे "राजनीतिज्ञ लोग आम तौर पर धर्म की गहराई में नहीं जाते क्योंकि एक जाति का दूसरी जाति पर राजनीतिक आधिपत्य और निर्बल तथा निर्धन मनुष्यों का आर्थिक शोषण आदि जो लक्ष्य राजनीतिज्ञों के सामने रहते है, वे धार्मिक लक्ष्यो से स्पष्ट ही इतने भिन्न तथा असम्बद्ध है कि वे लोग गम्भीरता से इन पर ठीक-ठीक चिन्तन कर ही नहीं सकते।"[१] महात्मा गांधी इस कथन के अपवाद थे। उनके लिए तो सम्पूर्ण जीवन एक और अभेद्य वस्तु था। उन्होंने स्वयं लिखा है, "जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्व-भावना का साक्षात्कार करना हो, उसे जगत के निम्नतम प्राणी को आत्मवत् प्रेम करना चाहिए और जिसकी ऐसी महत्त्वाकांक्षा है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को पृथक् नहीं रख सकता। यही कारण है कि सत्य का पुजारी होने के कारण मुझे राजनीति में आना पड़ा है और मैं बिना तनिक भी संकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते है कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है।"[२] और, "मुझे संसार के नश्वर वैभव की चाह नहीं है, मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य अर्थात् आध्यात्मिक मुक्ति के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ......अतः मेरी देशभक्ति भी, अनन्त शान्ति और स्वतन्त्रता के देश की ओर मेरी यात्रा का एक पड़ाव-मात्र है। इससे प्रकट है कि मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नहीं। राजनीति धर्म का साधन-मात्र है। धर्म-रहित राजनीति मृत्यु का जाल है क्योंकि उसमें आत्मा का हनन होता है।"[३]

राजनीति को साधारणतः गन्दा खेल माना जाता है। महात्मा गांधी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में आध्यात्मिकता का समावेश किया। अपनी इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप महात्मा गांधी साध्य और साधन के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि हमें श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग करना चाहिए। यदि हमारे साधन दूषित होंगे, तो श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साध्य के ऊपर उनकी काली छाया का पड़ना अवश्यम्भावी है। गांधीजी के अनुसार "......साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता।"[४]

---

१ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—"गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ", पृ० ११।
२ सी० एफ० एण्ड्रूज "महात्मा गांधी हिज ओन स्टोरी", पृ० ३५३-५४।
३ सी० एफ० एण्ड्रूज "महात्मा गांधी हिज ओन स्टोरी", पृ० ३५३।
४ रामनाथ सुमन "गांधीवाणी" पृ० १०६।

व्यावहारिक आदर्शवादी—महात्मा गांधी कवि शैली की उस चिड़िया (स्काई-लार्क) की भाँति नहीं थे जो पृथ्वी पर स्थित अपने नीड़ की सुध-बुध भूलकर अनन्त आकाश में पर फैलाए उड़ती रहती है, वह कवि वर्डस्वर्थ की उस चिड़िया के समकक्ष थे जिसे आकाश में उड़ते समय भी पृथ्वी पर स्थित अपने नीड़ का निरन्तर ध्यान बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका मत था कि आदर्शवाद को यथार्थ का रूप धारण करने के लिए व्यावहारिक होना आवश्यक है। वह भावात्मक सत्य को उस समय तक बिलकुल व्यर्थ मानते थे, जब तक कि वह व्यक्तियों के जीवन में प्रकट नहीं होता। उनके सन्तत्व ने उन्हें आदर्शवादी बनाया और समन्वय-क्षमता ने यथार्थवादी। १९२० में उन्होंने अपने एक लेख में लिखा था, "मैं स्वप्न नहीं देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओं के लिए नहीं है। वह जनसाधारण के लिए भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओं का जीवन-सिद्धान्त है, उसी तरह अहिंसा हम मानवों का।"[२]

---

१. "हरिजन सेवक—३१-३-३३", पृ० ३।

२. जवाहरलाल नेहरू—"राष्ट्रपिता", पृ० ४३-४४।

अहिंसा के देवदूत गांधीजी के ये वचन कि "जब मेरे सामने केवल दो विकल्प रह जाएँगे—कायरता और हिंसा—तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूँगा। इसके बजाए कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मैं यह पसन्द करूँगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार उठाए।" अथवा "संसार निरे तर्क से ही शासित नहीं होता। स्वयं जीवन में ही थोड़ी-बहुत हिंसा अन्तर्ग्रस्त है और हमें न्यूनतम हिंसा का मार्ग चुनना है", उनके व्यावहारिक आदर्शवाद के ही द्योतक है। आचार्य जे० बी० कृपलानी के शब्दों में—"महात्मा गांधी इस बात को भली-भाँति जानते थे कि कब दृढ़ रहा जाए और कब झुका जाए, कब और किन वस्तुओं में सहयोग किया जाए तथा किन में असहयोग, कब प्रहार किया जाए और कब शान्त पड़ा रहा जाए।"[1] महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपनी नीति देश के सम्मुख एक राजनीतिक शास्त्र, स्वराज्य प्राप्ति के एक प्रभावशाली और सत्वर उपाय के रूप में उपस्थित की थी। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं अपनी साक्षी मिलती है, "मैं इस मत पर अटल हूँ कि मैंने अहिंसा को कांग्रेस के सम्मुख एक लाभ-प्रद उपकरण के रूप में उपस्थित कर अच्छा ही किया। यदि मुझे उसका राजनीति में समावेश करना था, तो मेरे लिए अन्य कोई चारा ही नहीं था—दक्षिण अफ्रीका में भी मैंने उसे लाभप्रद उपकरण के ही रूप में उपस्थित किया था''' यदि मैं ऐसे व्यक्तियों के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता, जो अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करते, तो उसको मानने वाला अकेला मैं ही रह जाता। चूंकि मैं स्वयं अपूर्ण हूँ अतः मैंने अपूर्ण स्त्री-पुरुषों के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया और एक अपरिचित समुद्र की यात्रा की।"

प्रवीण सेनापति—महात्मा गांधी ने अपने ५० वर्षों से अधिक के राजनीतिक जीवन से इस बात को भली-भाँति सिद्ध कर दिया कि वह राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-समर के प्रवीण सेनापति थे। प्रवीण सेनापति से यह आशा की जाती है कि वह युद्ध की प्रत्येक स्थिति को अच्छी तरह समझे और तदनुसार ही आचरण करे क्योंकि उसका एक भी गलत कदम सारे राष्ट्र को विनाश के गर्त में ढकेल सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सेनापति होने के नाते महात्मा गांधी इस कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जब उन्होंने भारत के राजनीतिक जीवन में विधिवत् प्रवेश किया, देश की स्थिति उस ज्वालामुखी के तुल्य थी जो बस फूट पड़ने वाला ही हो। रौलट एक्ट, पंजाब हत्याकाण्ड और खिलाफत-प्रश्न को लेकर देश में प्रचण्ड

---

[1] आचार्य जे० बी० कृपलानी "गांधी दि स्टेट्समैन" पृ० ६०।
हरिजन १०-८-१९४०।

असन्तोष के बादल घुमड़ रहे थे। यदि उस समय महात्मा गांधी असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ न करते, तो यह निश्चित प्रायः था कि विप्लववादी मैदान में आ जाते और सारा देश शोणित के नद में डूब जाता। इसी प्रकार जब १९२२-२३ में स्वराजवादियों व अपरिवर्तनवादियों के बीच कौंसिल प्रवेश की समस्या पर मतभेद उठ खड़ा हुआ था, महात्मा गांधी ने स्वराजवादियों को निर्वाचनों में भाग लेने और अपरिवर्तनवादियों को रचनात्मक कार्य क्रम में जुटे रहने का परामर्श देकर राष्ट्रीय शक्तियों के सम्भाव्य विघटन को रोक दिया। पुनश्च, १९२८ में कांग्रेस के अन्दर ही जवाहरलाल और सुभाष बोस के नेतृत्व में 'इण्डिपेन्डेंस' लीग की स्थापना के अनन्तर देश के राजनीतिक थर्मामीटर का तापक्रम एक बार फिर ऊँचा चढ़ा। साइमन-कमीशन की असफलता के कारण देश की जनता रोषानल से प्रदीप्त हो रही थी। परिणामस्वरूप विप्लववाद जोर पकड़ रहा था। ऐसी अवस्था में गांधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ करके देश के समस्त वर्गों—तरुणों और वृद्धों, वामपक्षियों और दक्षिणपक्षियों, उदारवादियों और उग्रवादियों को कंधे-से-कंधा मिलाकर राष्ट्र-मुक्ति संघर्ष में समान रूप से सक्रिय भाग लेने वाला सिपाही बना दिया। आचार्य जे० बी० कृपलानी के अनुसार "इतनी विभिन्न विचार-धाराओं और भावनाओं वाली विभिन्न शक्तियों को एक स्थान पर ला एकत्रित करना एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार का कार्य था।"[1] वस्तुतः महात्मा गांधी एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार थे। सत्याग्रह-आन्दोलन साल-भर तक चला। इसके उपरान्त उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। महात्मा गांधी ने इस बात को तुरन्त भाँप लिया। फलतः जैसे ही सरकार ने कांग्रेस के साथ समझौता करने की इच्छा व्यक्त की, गांधी जी ने उसे चट से मान लिया। 'गांधी-इर्विन-समझौता' इसी का फल था। इसी प्रकार जब द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के कूद पड़ने पर लड़ाई भारत के समीप आती प्रतीत हुई और क्रिप्स-मिशन का कोई फल न निकला, महात्मा गांधी ने कांग्रेस के सामने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव रखा। विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ भारतीय जनता की असहायता को देखकर गांधीजी विचलित हो गए थे। परिणाम-स्वरूप उन्होंने देश को "करो या मरो" का संदेश दिया। "यदि गांधीजी उस समय इस प्रकार का पग न उठाते, तो भारत के राष्ट्रीय संघर्ष की अन्तिम सफलता इतनी शीघ्र और अहिंसक न होती। उचित समय पर कार्यवाही करके उन्होंने इंगलैण्ड को यह विश्वास दिला दिया कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए भारत सब कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है तथा भविष्य में क्रान्तिकारी एवं विद्रोही भारत को केवल दमन और

१. जे० बी० कृपलानी—"गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ३८।

मस्त्रास्त्रों के बल से दासता में नहीं रखा जा सकता।'[1]

महान् क्रान्तिकारी—महात्मा गांधी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक विराटता के अतिरिक्त विश्व-इतिहास के सबसे महान् क्रान्तिकारी राजनीतिक नेताओं में से एक थे। "क्रान्तिकारी नेता का प्रथम चिह्न इस तथ्य को पहचानना है कि वह परिस्थिति जिसका उसे सामना करना पड़ रहा है, क्रान्तिकारी है, उसका विकासवाद की धीमी प्रक्रिया और शनैः-शनैःवाद से परिहार नहीं किया जा सकता, पश्चादुक्त समाधान समस्याओं को सुलझाए बिना स्थिति को और बिगाड़ देगा तथा क्रान्ति को जब वह अपरिहार्य बन जाती है, अधिक नृशंस, कठोर और निर्दय व अपने रोषानल की झोंक में बहुत-सी ऐसी श्रेष्ठ वस्तुओं का विध्वंसक बना देगा जिसके पुनर्निर्माण के लिए एक नूतन, अथवा एक प्रति क्रान्ति अथवा एक दीर्घ एवं पीड़ापूर्ण विकास-प्रक्रिया की आवश्यकता होगी।"[2] क्रान्तिकारी नेता के रूप में महात्मा गांधी की यह सफलता थी कि उन्होंने १६१६ में भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रवेश करते समय देश की क्रान्तिकारी परिस्थिति को ठीक-ठीक पहचान लिया और उसका एक सच्चे क्रान्तिकारी के समान प्रत्यक्ष कार्यवाही से सामना किया यद्यपि उनकी यह प्रत्यक्ष कार्यवाही थी अहिंसात्मक। वस्तुतः एक ऐसी निहत्थी जनता के लिए जो आधुनिक शस्त्रास्त्रों से पूर्णतः सज्जित शक्तिशाली विदेशी साम्राज्यशाही के विरोध में खड़ी हो, अहिंसक असहयोग सर्वाधिक उपयुक्त प्रणाली थी। दूसरे, क्रान्ति को एक-दो समुदाय अथवा व्यक्ति नहीं लाते, क्रान्ति तो जन-साधारण का आन्दोलन है। हो सकता है कि यदि वे जन-साधारण आन्दोलन से विलग रहे, लेकिन किसी-न-किसी स्थिति पर उनका आन्दोलन में सक्रिय योगदान अपरिहार्य है। क्रान्तिकारी नेता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आन्दोलन को जन-साधारण का आन्दोलन बना दे। महात्मा गांधी ने भारत में यही किया था। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन को जो उनके पूर्व मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का ही आन्दोलन था, देश के कोटि-कोटि मूक और भूखे लोक-समूह का आन्दोलन बना दिया। क्रान्तिकारी नेताओं के सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि वे सदैव 'अभी या कभी नहीं' की भावना से काम करते हैं। उनका विचार होता है कि "यदि हम वर्तमान समाज-व्यवस्था को तुरन्त नहीं बदल देंगे तो समाज विनाश के गर्त में जा गिरेगा।"[3] महात्मा गांधी ने अपने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में इसी 'अभी या कभी नहीं' की भावना से काम किया। १९२० में उन्होंने कहा था—"मुझे एक वर्ष

१ आचार्य जे० बी० कृपलानी— "गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ५६।
२ आचार्य जे० बी० कृपलानी "गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ६१।
३ आचार्य जे० बी० कृपलानी "गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ६२।

के अन्दर स्वराज चाहिए।" कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को भलीभाँति समझ सकता था कि एक वर्ष के अन्दर स्वराज को प्राप्त करने की बात पागलपन के सिवाय कुछ नहीं है। लेकिन फिर भी एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त करने का वचन देकर महात्मा गांधी ने जनता में वह प्रखर प्राणज्वाला फूंक दी कि जनता सब कुछ भूल गई और उसने आन्दोलन में इस ढंग से भाग लिया मानो उसका सम्पूर्ण जीवन ही इस स्वप्न की पूर्ति पर निर्भर हो। १६३० में उन्होंने पुनः 'अभी या कभी नहीं' का जय-घोष उच्चारित किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने आश्रम को तभी वापस लौटूंगा जब भारत स्वतन्त्र हो जाएगा। इस बार वह पुनः असफल हुए। १६४२ में उन्होंने देश को फिर एक बार 'अभी या कभी नहीं', 'करो या मरो' का सन्देश दिया। अन्ततः क्रान्तिकारी नेता अपने सम्मुख अपने ध्येय को सर्वोच्च रखता है। वह जिस काम में भी हाथ डालता है, उसका एकमात्र उद्देश्य अपने लक्ष्य की पूर्ति होती है। गांधीजी के जीवन में इस तथ्य की स्पष्ट साक्षी मिलती है। उनका प्रत्येक कार्य, उनका क्रान्तिकारी जीवन-लक्ष्य भारत की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखता था। चाहे तो हम उनका चर्खा ले लें, चाहे अछूतोद्धार, चाहे स्वदेशी ले लें, चाहे ग्रामोत्थान, अपने इन समस्त कार्यकलापों में उनका एक मात्र लक्ष्य-बिन्दु स्वराज की एकनिष्ठ साधना करना था। चर्खे को वह आर्थिक उत्पादन का एक आधार नहीं समझते थे, उसमें उन्हें स्वराज के दर्शन होते थे। अस्पृश्यता उनके लिए एक सामाजिक अभिशाप ही नहीं था, उसे वह भारत के राजनीतिक विकास के मार्ग में प्रचण्ड बाधा मानते थे। जब तक उनका नाश नहीं हो जाता, स्वराज का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। उनके लिए स्वदेशी देश की अर्थ-व्यवस्था को सम्हालने का उपायमात्र नहीं, उसे वह स्वराज के सारतत्व के रूप में ग्रहण करते थे। ग्रामोत्थान को ग्रामों की शोचनीय स्थिति सुधारने के साधनमात्र के रूप में ही नहीं देखते थे, वह उनके मत से आदर्श स्वराज-व्यवस्था तक पहुँचने का एक अनिवार्य सोपान था। और तो और महात्मा गांधी ने अपनी प्रार्थना-सभाओं तक का जनता को अनुशासित करने और राजनीतिक शिक्षा देने के लिए प्रयोग किया। उन्होंने अपनी कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ प्रार्थना सभाओं में की थी।

नव-मानवता के शिल्पी—भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता होने के साथ-साथ महात्मा गांधी नव मानवता के शिल्पी थे। उनकी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुनीत सिद्धान्त में अचल निष्ठा थी। वह कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर यह भी अनुभव करते थे कि मुझे सम्पूर्ण संसार को एक सन्देश देना है। उनका विश्वास था कि सच्चा राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं, प्रत्युत पूरक होता है। उनके मत से राष्ट्रवाद स्वयं बुराई नहीं, बुराई तो संकुचितता, स्वार्थ-भावना और वर्जनशीलता है। वे विश्व-बन्ध-

वता की वेदी पर देश का बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उन्होंने कहा था, "राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतन्त्र हो जाए, लेकिन यदि आवश्यकता पड़े, तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिए वह सारा-का-सारा नष्ट हो जाए। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी होनी चाहिए।"[१] महात्मा गांधी ऐसे भारत का स्वप्न देखते थे जो कि सम्पूर्ण संसार के लिए लाभकारी हो। वह यह सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि भारत दूसरे राष्ट्रों के ध्वंसावशेषों पर उन्नति करे। उन्हें अपने मिशन का पूरा भान था। उनका कहना था, "मेरा मिशन केवल भारतीय मानवता का भ्रातृत्व नहीं है। मेरा मिशन केवल भारत की स्वतन्त्रता नहीं है यद्यपि आज वह निस्सन्देह मेरे सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण समय को ले लेता है...मैं भारत की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के माध्यम से मानव-भ्रातृत्व के मिशन को साक्षात्कृत और हस्तगत करना चाहता हूँ।"[२] महात्मा गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि मैं भारत की सेवा करने के साथ-साथ सम्पूर्ण मानवता की सेवा कर रहा हूँ। उन्होंने भारत के समग्र राजनीतिक आन्दोलन को सत्य और अहिंसा की आत्मिक शक्ति के ऊपर आधारित किया था। उनका मत था कि जहाँ इस आन्दोलन ने भारत में अपनी उपयोगिता सिद्ध की, सम्पूर्ण संसार पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मैं लिखित और उच्चारित शब्द की अपेक्षा विचार-शक्ति में अधिक आस्था रखता हूँ। यदि इस आन्दोलन में जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ कुछ शक्ति है और उसे दैवी आशीर्वाद प्राप्त है, तो वह मेरी भौतिक उपस्थिति के बिना ही संसार के विभिन्न भागों में व्याप्त हो जाएगा।"[३] महात्मा गांधी को विश्व-शान्ति की उत्कट कामना थी और उनकी दूरदर्शी दृष्टि ने इस बात को भली-भांति देख लिया था कि मानव-कुल की महत्त्वपूर्ण एवं व्यापी ऐतिहासिक जयमाला का एकमात्र सच्चा और साध्य-लक्ष्य अन्योन्याश्रित राज्यों का विश्व संघ ही है, "विशाल राज्यों का लक्ष्य पृथक् स्वतन्त्रता नहीं अपितु स्वेच्छित अन्तर्निर्भरता है। संसार के उन्नततम व्यक्ति आज एक दूसरे से लड़ने वाले पूर्णतः स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा नहीं करते, प्रत्युत मित्रतापूर्ण एक दूसरे पर निर्भर राज्यों का संघ चाहते हैं।"[४] महात्मा गांधी ने विग्रह और अशान्ति से जर्जरित

१. निर्मल कुमार बोस—"सेलेक्शन्स फ्रॉम गांधी", पृ० ६३।

२. आर०के० प्रभु और यू०आर० राव "दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी", पृ० १६०।

३. आर०के० प्रभु और यू०आर० राव "दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी", पृ० १५६।

४. आर०के० प्रभु और यू०आर० राव "दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी", पृ० १६१।

मानवता को सत्याग्रह की अपूर्व शक्ति से दुर्धर अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने की विलक्षण युक्ति प्रदान कर भविष्य के लिए एक नूतन आलोक-पथ का निर्देश किया है।

१४७. महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन

महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन का स्वरूप—जब हम महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते हैं, हमें यह प्रारम्भ से ही समझ लेना चाहिए कि वह शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने किसी राजनीति-दर्शन का सांगोपांग और तर्क-सम्मत निरूपण नहीं किया है। महात्मा गांधी प्रारम्भ से ही असली सुधारक और कर्मयोगी पुरुष थे। उनकी स्थिति प्राचीन काल के उन पैगम्बरों और समाज-सुधारकों की भांति थी जिन्हें रोजमर्रा की व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था और जिन्होंने इसके लिए अपने आपको किन्हीं अपरिवर्तनीय प्रणालियों में न फंसाकर अपने अनुयायियों के लिए कतिपय नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर कर दिए थे। महात्मा गांधी अपने जीवन-काल में यह बार-बार कहा करते थे कि "गांधीवाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में नहीं है। मैं कोई सम्प्रदाय-प्रवर्तक नहीं हूँ। तत्त्वज्ञानी होने का मैंने कभी दावा भी नहीं किया है। मेरा यह प्रयत्न भी नहीं है।"[१] वह यह मानते थे कि "मैंने किसी नए सत्य का आविष्कार नहीं किया है, बल्कि सत्य को जैसा मैं जानता हूँ उसी के अनुसार चलने का और लोगों को बताने का प्रयत्न करता हूँ। हाँ! कतिपय प्राचीन सत्य सिद्धान्तों पर नया प्रकाश डालने का मैं दावा अवश्य करता हूँ।"[२]

राजनीति-दर्शन जीवन-दर्शन का एक भाग—महात्मा गांधी सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानते थे। उनके अनुसार जीवन को आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक आदि विविध क्षेत्रों में नहीं बांटा जा सकता। उनके लिए जीवन के सभी पहलू एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए थे। इसलिए महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन उनके जीवन-दर्शन का एक भाग था। निसर्गतः गांधी जी के राजनीति-दर्शन को समझने के लिए उनके जीवन-दर्शन को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

गांधीजी का जीवन-दर्शन—महात्मा गांधी ने एक बार श्री पोलक से कहा था, "जिन धार्मिक व्यक्तियों से मैं मिला हूँ, उनमें से अधिकांश छद्मवेश में राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन मैं जिसने राजनीतिज्ञ का छद्मवेश धारण कर रखा है, हृदय से धार्मिक व्यक्ति

१. रामनाथ सुमन—"गांधीवाणी", पृ० २४३।
२. "यंग इण्डिया, २५-८-२१", पृ० २६३।

है।"[1] वस्तुतः महात्मा गांधी की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा उनके धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर आधारित है।

(१) ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी मान्यता—महात्मा गांधी का ईश्वर और आत्मा में अटिग विश्वास था। वह कहा करते थे कि जिस व्यक्ति का ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं है, उसका पूर्णतम विकास असम्भव है। वह इस बात को कहते हुए कभी नहीं थकते थे कि "ईश्वर में आस्था रखे बिना कोई व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही नहीं हो सकता।"[2] महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित सम्पूर्ण सत्याग्रह-दर्शन इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि आत्मा सर्वंव अपराजेय है और सृष्टि के प्रथम-से-प्रथम प्राणी में कुछ-न-कुछ दैवी अंश वर्तमान है जो सत्य और प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रकट हो सकता है।

(२) सत्य—महात्मा गांधी की दृष्टि में सत्य और ईश्वर पर्याय शब्द थे। उनके शब्दों में "संसार सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है। असत्य का अर्थ असत् अर्थात् (अभाव) 'न रहना' है और सत्य का अर्थ है सत् भाव, 'जो है।' जब असत्य का भाव अर्थात् अस्तित्व ही नहीं, तब उसकी विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और सत्य का तो अर्थ ही है वह 'जो है' (जिसका अस्तित्व है) इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता।"[3] गांधीजी सत्य का अत्यन्त विशद् अर्थ करते थे। उनकी दृष्टि में सत्य का अभिप्राय था, मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य का आचरण। वह सत्य की राजनीति समवेत जीवन के समस्त क्षेत्रों में समाविष्ट मानते थे।

(३) अहिंसा—गांधीजी के अनुसार सत्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अहिंसा साधन थी। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है 'न मारना', परन्तु गांधीजी सत्य की भांति इसे भी अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण करते थे। उनके अनुसार "जब कोई आदमी अहिंसक होने का दावा करता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह उस आदमी पर भी क्रोध नहीं करेगा जिसने उसे चोट पहुँचाई हो। वह उसकी कोई बुराई नहीं चाहेगा, वह उसकी कल्याण कामना करेगा... वह गलती करने वाले द्वारा दी जाने वाली सब प्रकार की यन्त्रणा सहन करेगा... पूर्ण अहिंसा समस्त जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों तक का आलिंगन करती है।"[4]

---

१. "स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज आफ महात्मा गांधी (जी० ए० नटेसन, मद्रास, १९२२) एपेंडिक्स" पृ० ४०।

२. "हरिजन"—जून ३,३९, पृ० १४६।

३. सी० एफ० एन्ड्रूज—"महात्मा गांधी, हिज ओन स्टोरी", पृ० २२४।

४. रामनाथ सुमन—"गांधीवाणी", पृ० ३७।

महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन के मूलतत्त्व (१) धार्मिक तथा नैतिक आधार-- ऊपर महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन के स्वरूप, जीवन-दर्शन, नैतिक और धार्मिक विश्वासों का जो संक्षिप्त विवेचन किया गया है, उससे उनके राजनीति-दर्शन के मूल-तत्त्वों का सुगमतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है। महात्मा गांधी के राजनीति दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता उनके धार्मिक आधार में दिखाई देती है। जेफरसन की भांति महात्मा गांधी भी राजनीति को धार्मिक भित्त-भूमि पर आश्रित करना चाहते थे। उनके लिए धर्म और नैतिकता से शून्य राजनीति का कोई महत्त्व नहीं था। उनके अनुसार "धर्महीन राजनीति में कोई चीज नहीं। राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्म-हीन राजनीति को एक फांसी ही समझिए। वह आत्मा का नाशकर देती है।"[१] महात्मा जी यदि राजनीति में भाग लेते थे तो इसलिए कि उसने हमारे जीवन को चारों ओर से ऐसा परावृत्त कर रखा है कि हम उससे बचकर नहीं निकल सकते। गांधीजी धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष से एकान्वित नहीं करते थे। उनका धर्म तो वह धर्म था जो सब धर्मों के मूल में विद्यमान है, जो व्यक्ति को ऊँचा उठाता है, उसे पवित्रता की शिक्षा देता है। गांधी जी का धर्म तिलक लगाने और माला फेरने वाला धर्म न होकर संसार के शोषितों, दलितों और क्षुधितों की सेवा करने वाला धर्म था।

(२) साध्य और साधन का अभेद--चूंकि महात्मा गांधी का राजनीति दर्शन धार्मिक आधार-भूमि पर स्थित था, इसलिए उनकी राजनीति पद्धति में द्वैधता को कोई स्थान नहीं था। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग आवश्यक है। वह कौटिल्य और मैकियावेली के समान अच्छे साध्यों की प्राप्ति के लिए बुरे साधनों का उपयोग ठीक नहीं समझते थे।

(३) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध—महात्मा गांधी व्यक्ति और समाज में कोई विरोध न मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य मानव-समाज का मूल है स्वतन्त्रता और प्रगति का मापदण्ड है। वह इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे कि समाज के बिना मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। महात्माजी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ऊपर समाज के ऋण को स्वीकार करे और अपने भाइयों की सेवा द्वारा उसे चुकाने में प्रवृत्त हो।

(४) आदर्श की व्यावहारिकता—महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है, यद्यपि वह प्लेटो के तुल्य पक्के आदर्शवादी थे और सदैव स्वराज्य का स्वप्न देखा करते थे, फिर भी उनके राजनीति-दर्शन के व्यावहारिक होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका और भारत में अपने

१ रामनाथ सुमन--"गांधीवाणी", पृ० २३१।

राजनीति-दर्शन का सफलतापूर्वक उपयोग कर उसकी क्रियात्मकता भली प्रकार सिद्ध कर दी। उनके लिए प्रत्येक सिद्धान्त उस समय तक निष्प्रयोजन था जब तक कि उस पर आचरण नहीं किया जा सकता। महात्माजी का यह दावा था कि मेरा राजनीति-दर्शन केवल कुछ लोगों के लिए न होकर सम्पूर्ण समाज के लिए है।

(५) **स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा**—महात्मा गांधी स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ साधक थे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का वास्तविक प्रयोजन जीवन का सर्वांगीण अभ्युत्थान करना है। उनकी दृष्टि में सच्ची स्वतन्त्रता में राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक तीनों प्रकार की स्वतन्त्रताएँ समाविष्ट हैं। स्वतन्त्रता के इन तीनों पहलुओं का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था, "राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि देश पर ब्रिटिश सेनाओं का किसी भी रूप में कोई शासन न रहे। आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय ब्रिटिश पूंजीपतियों और ब्रिटिश पूंजी के साथ ही उनके प्रतिरूप भारतीय पूंजीपतियों और भारतीय पूंजी से पूर्ण छुटकारा पाना है। दूसरे शब्दों में, छोटे-से-छोटे आदमी को भी यह अनुभव करना है कि वह बड़े-से-बड़े आदमी के बराबर है''' नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ देश की सुरक्षा के लिए रखी गई सशस्त्र सेनाओं से छुटकारा पाना है। रामराज्य की मेरी कल्पना में ब्रिटिश फौजी हुकूमत की जगह राष्ट्रीय फौजी हुकूमत को बिठा देने की गुंजायश नहीं।"[1] महात्मा गांधी की स्वराज्य-कल्पना अत्यन्त उदात्त थी। अपने सपनों के भारत का चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा था, "स्वराज्य में राजा से लेकर रंक तक का एक भी अंग अविकसित रहे, ऐसा नहीं होना चाहिए। उसमें कोई किसी का शत्रु न हो, सब अपना-अपना काम करें, कोई निरक्षर न रहे, उत्तरोत्तर सबके ज्ञान की वृद्धि होती जाए, सारी प्रजा को कम-से-कम बीमारियाँ हों, कोई भी दरिद्र न हो, परिश्रम करने वाले को बराबर काम मिलता रहे, उसमें जुआ, चोरी, मद्यपान और व्यभिचार न हो, वर्ग-विग्रह न हो, धनिक अपने धन का विवेक-पूर्वक उपभोग करें''' यह नहीं होना चाहिए कि मुट्ठी-भर धनिक मीनाकारी के महलों में रहें और हजारों अथवा लाखों लोग हवा और प्रकाश-रहित कोठरियों में।"[2]

लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा—महात्मा गांधी स्वभाव से ही लोकतन्त्रवादी थे। उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में तीन बातें विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। प्रथमतः महात्मा गांधी केन्द्रीयकरण और लोकतन्त्र को एक दूसरे का विरोधी मानते थे। उनका विश्वास था कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए राजकीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। दूसरे गांधीजी के अनुसार लोकतन्त्र और हिंसा का साथ-साथ

---

1. रामनाथ सुमन—"गांधीवाणी", पृ० १८४-१८६।
2. "हरिजन सेवक, १८-१२-३६", पृ० ३६।

निर्वाह नहीं हो सकता । उन्होंने लिखा था, "लोकतन्त्र बलप्रवर्ती उपायों द्वारा विकसित नहीं हो सकता । लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती । वह तो भीतर से आती है ।"[1] चूंकि इंगलैंड घरेलू क्षेत्र में अहिंसक पर वैदेशिक क्षेत्र में हिंसक है, अतः वह सच्चा लोकतन्त्रात्मक देश नहीं है । गांधीजी का विचार था कि पश्चिमी देशों के जनतन्त्र केवल तथाकथित ही क्योंकि हैं, "इसमें ठीक जनतन्त्र के नमूने के कुछ कीटाणु व तत्त्व अवश्य हैं । मगर वह सच्चे अर्थों में जनतन्त्र तभी हो सकता है जब हिंसारहित हो जाएगा और इनमें से बदअमली व खुराफात अवश्य हो जाएँगे ।"[2] तीसरे, गांधीजी के मतानुसार आलोचना-प्रत्यालोचन लोकतन्त्र का प्राण-तत्त्व है । उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में समाज के प्रत्येक सदस्य को शासन की आलोचना करने का अधिकार है ।

राज्य सम्बन्धी धारणा— महात्मा गांधी ने अपनी रचनाओं में अहिंसक राज्य की रूपरेखा पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला है । इस सम्बन्ध में वह कार्डिनल न्यूमैन की 'One step enough for me' उक्ति के उपासक थे । फिर भी हम उनके विभिन्न भाषणों, वक्तव्यों और लेखों के अनुशीलन द्वारा उनकी राज्य-सम्बन्धी धारणा का थोड़ा-सा परिचय पा सकते हैं ।

अहिंसा के देवदूत महात्मा गांधी के लिए हिंसा के प्रतीक राज्य को विरक्ति की दृष्टि से देखना सर्वथा स्वाभाविक था । उनका विश्वास था कि राज्य की दबाव डालने की प्रवृत्ति नैतिकता की दृष्टि से घातक है क्योंकि कोई भी ऐसा कृत्य जो एच्छिक नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता । महात्माजी के विचार से आदर्श समाज-व्यवस्था राज्य-विहीन लोकतन्त्र है । "ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है । वह अपना शासन इस तरह करता है कि अपने पड़ोसी के लिए कभी विघ्न नहीं बनता ।"[3] गांधीजी की आदर्श समाज-व्यवस्था में ग्राम-संघ तथा ग्राम-समाज दोनों ही ऐच्छिक आधार पर संगठित होंगे । ऐसी समाज-व्यवस्था में राजकीय शक्ति विकेन्द्रित रहेगी ।

गांधीजी राज्य को स्वयं ही एक साध्य न मानकर जनता की अधिकतम कल्याण-साधना का एक उपाय मानते थे । वे हीगेल की इस मान्यता के विरुद्ध थे कि राज्य मानवीय संगठन का अन्तिम लक्ष्य है, अपने में ही एक साध्य है और नैतिकता-अनैतिकता की भावना से ऊपर है । उनकी दृष्टि में तो राज्य जनता की कल्याण

---

१. निर्मलकुमार बोस—"सिलेक्शन्स फ्राम गांधी", पृ. ४२

२. हरिजन सेवक ३-९-३८; पृ. २२८

३. प्रो० जी० एन० धावन द्वारा—"पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, में उद्धृत, पृ. २६६-२६७

साधना के लिए बहुत से साधनों में से एक साधन था। गांधीजी बहुत्ववादियों और अराजकतावादियों की भांति राज्य के निरंकुश प्रभुत्व-सिद्धान्त का प्रतिवाद करते थे। उनका विशुद्ध नैतिक प्राधिकार पर आधारित जनता के प्रभुत्व में विश्वास था। गांधीजी का मत था कि व्यक्ति को राज्य के आदेश उसी समय तक मानने चाहिएँ जब तक कि वे उचित और न्यायपूर्ण हों।

महात्मा गांधी राज्य के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम रखने के पक्षपाती थे। उनके अनुसार स्वराज्य का अर्थ "शासन के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने का अनवरत प्रयास"[1] है। उनके मत में राज्य के अधिकांश कृत्य ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पादित होने चाहिएँ। गांधीजी का कहना था कि अहिंसक राज्य के लिए विदेशी आक्रमणों का सामना भी, जहाँ तक हो सके, अहिंसक रीति से ही करना वाञ्छनीय है।

महात्मा गांधी और विश्व-शान्ति—आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या शान्ति की समस्या है। अब यह विश्वास दिन-प्रति-दिन बल पकड़ता जा रहा है कि यदि मनुष्य ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को युद्ध के द्वारा सुलझाना नहीं त्यागा, तो सम्पूर्ण मानव-संस्कृति और मानव-जाति का विनाश हो जाएगा। विश्व-शान्ति के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि अब तक मनुष्य ने अपनी सामूहिक समस्याओं को गलत आधार पर, हिंसा, घृणा, द्वेष और विग्रह आदि के द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। उनका मत था कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक राजनीतिक हो या आर्थिक, बुराई का परिहार बुराई से नहीं किया जा सकता, ठीक उसी तरह से जैसे कि शैतान शैतान को नहीं हटा सकता। गांधीजी कहा करते थे कि आज की अव्यवस्था का मूल कारण मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सामंजस्य का न होना है। उनके अनुसार विश्व-शान्ति की समस्या का स्थायी हल तभी निकल सकता है जबकि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सन्तुलन स्थापित हो जाए। वे नैतिक मापदण्ड जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का नियमन करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रयुक्त किए जाने चाहिएँ। यदि व्यक्तिगत जीवन में कोई मनुष्य छल, कपट और हिंसा आदि आसुरी वृत्तियों का आश्रय लेता है, तो वह निन्दा का पात्र माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी ऐसा ही क्यों न हो? गांधीजी के मत में अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त व्यक्तिगत आचरण के ही सिद्धान्त न बनकर समुदायों और राष्ट्रों के आचरण के सिद्धान्त बनने चाहिएँ।

मनुष्य ने अपने युग-युग व्यापी जययात्रा में अत्याचार और अन्याय का सामना करने के लिए अब तक हिंसा और घृणा और दण्ड का ही सहारा ढूँढ़ा लिया है।

1. "यंग इंडिया (?)," पृ. ?६?

महात्मा गांधी ने संसार को अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिए सत्याग्रह के रूप में एक अभिनव पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग कर इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भलि भांति सिद्ध कर दिया।

महात्मा गांधी का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम भी विश्व शान्ति का साधक है। आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी विकेन्द्रित उद्योगों के पक्षपाती है यदि उद्योगों का पूंजीवादी आधार पर केन्द्रीकरण होता है, तो इससे शोषण और साम्राज्यवाद बढ़ता है। यदि उद्योगों का साम्यवादी आधार पर केन्द्रीकरण किया जाता है, तो इससे नौकरशाही बढ़ती है। ऐसी स्थिति में गांधीजी का विकेन्द्रीकरण-सिद्धान्त शान्ति की दृष्टि से सर्वथा युक्तिकर है। सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी ने ऊंच और नीच के समस्त भेदभाव हटाकर शान्ति की सराहनीय साधना की है। राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी लोकतन्त्र के समर्थक थे। लेकिन उनके लोकतन्त्र में स्थानीय स्वायत्तता का बड़ा महत्त्व है। संक्षेपतः 'साधनों के अत्यधिक मान, अहिंसा और सत्य के आधार पर सामूहिक और राजनीतिक जीवन में नैतिकता का पुट देकर, विवादों का हल करने के लिए सत्याग्रह को अपनाकर, शोषण से उन्मुक्त प्रादेशिक अर्थतन्त्र तथा विकेन्द्रित उद्योगों के ऊपर अवलम्बित रचनात्मक कार्यक्रम, ग्राम पंचायतों के माध्यम से स्वस्थ और शक्तिशाली स्थानीय स्वशासन तथा सबसे बढ़कर उपयोगी कार्य में निरत व्यक्ति व समाज के योगयुक्त जीवन के द्वारा महात्मा गांधी नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में सामंजस्य तथा संश्लेषण लाना, प्रभावशाली लोकतन्त्र की स्थापना करना और विश्वशान्ति की साधना करना चाहते हैं।'[1]

क्या गांधीजी का राजनीति-दर्शन क्रान्तिकारी है?—महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन पर समाजवादी और साम्यवादी तुल्य वाम-पक्षीय आलोचकों ने यह बार-बार आक्षेप किया है वह सुधारवादी है, प्रतिक्रियावादी है और क्रान्ति का विरोधी है। गांधीजी के राजनीति-दर्शन का निष्पक्ष मूल्यांकन इस आक्षेप को निराधार सिद्ध करता है। उनके राजनीति-दर्शन के क्रान्तिकारी स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व 'क्रान्ति' शब्द पर विचार कर लेना वांछनीय है। 'क्रान्ति' का सर्वसम्मत अर्थ पूर्ण अथवा सत्वर परिवर्तन है। क्रान्ति के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन हिंसक और रक्तिम ही हो। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में क्रान्ति का अभिप्राय यह होता है कि प्राचीन जीर्णशीर्ण मान्यताएँ ध्वस्त हो जाएँ और उनका

१ आचार्य जे. बी. कृपलानी—"गांधीयन प्रिंसिपल फॉर वर्ल्डपीस," (दी हिन्दुस्तान टाइम्स; जनवरी ८, १९५३)

स्थान नूतन उच्चतर नैतिक मान्यताएँ ग्रहण करें। गांधीजी का राजनीति-दर्शन इस कसौटी पर परखे जाने पर असंदिग्ध रूप में क्रान्तिकारी ठहरता है। "यदि हम क्रान्तिकारी से किसी ऐसी वस्तु का अभिप्राय ग्रहण करें, जो जनता के दृष्टिकोण में रूपान्तर लाती है, जनता की परिवर्तित मन स्थिति और मान्यताओं का नूतन मूल्यांकन लाती है, तो गांधीजी द्वारा प्रतिपादित विचार व्यापकतम अर्थों में क्रान्तिकारी हैं।"[1] कहा जा सकता है कि गांधी के विचार मौलिक तो हैं नहीं, पुराने ही हैं, फिर वे क्रान्तिकारी कैसे हुए? इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि विचारों के क्रान्तिकारी होने के लिए उनका मौलिक होना अनिवार्य है। क्रान्ति की सच्ची कसौटी विचारों द्वारा लाए गए परिवर्तन की विशिष्टता है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने विचार-क्षेत्र में जो क्रान्ति उत्पन्न की है, वह सर्वथा अभूतपूर्व है। उसका प्रभाव भारत तक ही सीमित रहने वाला नहीं है, वह दूसरे देशों को भी अपनी ओर निश्चिततः आकृष्ट करेगा। महात्मा गांधी की संसार के राजनीति-दर्शन को देन यह नहीं है कि उन्होंने किन्हीं नए सत्यों का आविष्कार किया, प्रत्युत यह है कि उन्होंने प्राचीन सत्यों का अपने युग की समस्याओं के समाधान में प्रयोग किया। गांधी जी के सर्वोदय सत्य-दर्शन का एक व्यावहारिक प्रयोग आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ आन्दोलन में दिखाई देता है। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने अब तक जो सफलता प्राप्त की है, उससे उसकी भावी सम्भावनाएँ अत्यन्त आशापूर्ण प्रतीत होती हैं। यह देश में एक अहिंसक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर रहा है। यदि उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता मिल जाती है, तो गांधी-दर्शन मानवता के लिए अनुपम क्रान्तिकारी सिद्ध होगा।

१८८ गांधीवाद और मार्क्सवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

कभी-कभी यह समझा जाता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद में कोई आधारभूत भेद नहीं है, दोनों 'मौसेरे भाई' हैं, दोनों के चरम उद्देश्य एक हैं। यदि दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है भी, तो वह केवल साधन-प्रणाली का है। लेकिन उसे किसी भी प्रकार आधारभूत नहीं कहा जा सकता। इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि हिंसा और अहिंसा के बीच भेद की रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है क्योंकि महात्मा गांधी ने स्वयं यह लिखा था कि "जहाँ सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच किसी एक के चुनाव की बात हो, वहाँ मैं हिंसा के पक्ष में राय दूँगा।"[2] गांधीवाद और मार्क्सवाद के सम्बन्ध में

१ डा० ए.के. घोषाल—"गांधीयन पोलिटिकल फिलासफी—इज इट रिवोल्यूशनरी?" वॉल्यूम १०, नं० १ तथा २, पृ. ३०।

२. "यंग इण्डिया, ११ अगस्त, '२०", पृ० ३।

इस प्रकार का मत-विभ्रम दुर्भाग्यपूर्ण है। यह ठीक है कि दोनों के आदर्श में थोड़ी-सी समानता दिखाई पड़ती है और वह यह है कि दोनों ही समाज के दलितों और शोषितों के प्रति अत्यधिक सदय है, दोनों ही एक ऐसी समाज-व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण न हो सके और सबको बिना किसी भेदभाव के अपने विकास की समान सुविधाएं उपलब्ध हो सकें। इस सामान्य आदर्श को छोड़कर दोनों में अन्य कोई समानता नहीं है। आवश्यक है कि दोनों के दृष्टि-भेद का सही-सही मूल्यांकन किया जाए। गांधी-दर्शन के प्रकाण्ड पंडित श्री किशोरी लाल मशरूवाला ने अपनी कृति 'गांधी एण्ड मार्क्स' में गांधीवाद और साम्यवाद के दृष्टिभेद का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि "गांधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने ही भिन्न हैं जैसे कि लाल से हरा भिन्न होता है यद्यपि हम जानते है कि आंख के उस रोगी की जिसे रंगभेद की पहचान नहीं होती, दोनों समान प्रतीत हो सकते हैं।"[1] उक्त पुस्तक की भूमिका गांधीजी के प्रमुख शिष्य आचार्य विनोबा भावे ने लिखी है। उन्होंने भी गांधीवाद और साम्यवाद में दृष्टिभेद पर ऐसा ही मत व्यक्त किया है। उनके शब्दों में "दोनों विचार धाराएं बेमेल है, उनका अन्तर मूल-भूत है" और "दोनों एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।"[2]

दार्शनिक आधार—मार्क्सवाद का दार्शनिक आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। वह 'थीसिस, एण्टी थीसिस और सिन्थीसिस' की पद्धति पर आश्रित है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार जगत का जो कुछ कार्य-व्यापार हमें इन्द्रियगोचर होता है वह आत्मा-परमात्मा जैसी किसी चेतन-सत्ता की लीला नहीं है। उसका विश्वास है कि भौतिक पदार्थ ही वह आदिम बीज-सत्ता है जिसका रूपान्तर यह दृश्यमान जगत है। आचार्य नरेन्द्रदेव की शब्दावली में 'मार्क्स-वादी दर्शन जड़ और चेतन की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता द्वैतवाद नहीं मानता, वह बतलाता है कि आदिम अवस्था से अब तक पदार्थ का जो रूपान्तर हुआ है उसके क्रम से ही अवस्था विशेष में चेतन का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् चेतना विकासमान पदार्थ का एक गुण है।"[3]

गांधीवाद इससे बिलकुल उल्टा है। वह सृष्टि के नियन्ता परमेश्वर में और आत्मा की परमेष्ठता में आस्था रखता है। गांधीजी का कहना था कि "जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना नहीं चाहते, वे अपने शरीर के सिवा और किसी

१. किशोरीलाल मशरूवाला— "गांधी एण्ड मार्क्स", पृ० २८।
२. किशोरीलाल मशरूवाला—"गांधी एण्ड मार्क्स", पृ० १६-१७।
३. आचार्य नरेन्द्रदेव—'राष्ट्रीयता और समाजवाद", पृ० ४४३।

वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।"[1] अथवा "मेरा अपना अनुभव तो मुझे इसी ज्ञान पर ले जाता है कि जिसके नियमानुसार सारे विश्व का संचालन होता है, उस शाश्वत नियम में अटल विश्वास रखे बिना पूर्णतम जीवन सम्भव नहीं है। इस विश्वास से विहीन व्यक्ति तो समुद्र से अलग आ पड़ने वाली उस बूंद के समान है जो नष्ट होकर ही रहती है।"[2] मार्क्सवाद जहाँ चेतना को पदार्थ की छाया मानता है, वहाँ गांधीवाद पदार्थ को चेतना की छाया मानता है। गांधीजी के अनुसार 'मूल भूत सिद्धान्त पदार्थ नहीं, चेतना है। जिसे हम प्राणहीन पदार्थ कहते हैं, वह भी चेतना से और चेतना के द्वारा ही अपनी सत्ता रखता है। उसकी चेतना से स्वतन्त्र किंचित् कोई सत्ता नहीं है। सृष्टि चेतना से उदित होती है, चेतना में विद्यमान रहती है और चेतना में अदृश्य होती है।"[3]

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जहां मार्क्सवाद प्रधानतः भौतिकवादी है, वहां गांधीवाद प्रधानतः अध्यात्मवादी है।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त—मार्क्सवादी दर्शन की एक महत्वपूर्ण मान्यता वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। मार्क्सवाद वर्गों का उल्लेख समाज में प्रचलित उन उत्पादन सम्बन्धों को ध्यान में रखकर करता है जिन पर समाज की आर्थिक प्रणाली आश्रित होती है। बुखारिन के शब्दों में "सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो सामाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते है और उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी एक-सा ही होता है। यह एक-सा सम्बन्ध श्रम के साधनों के सम्बन्ध में भी लागू होता है।"[4] मार्क्सवाद के अनुसार आधार रूप में हर समाज में दो ही वर्ग रहते है, एक तो वे लोग जिनका स्थान समाज में मालिकों का होता है और जो उत्पादन साधनों पर एकच्छत्र आधिपत्य का उपभोग करते हैं; दूसरे वे लोग जिनका कार्य आदेश-पालन करना ही होता है और जो प्रथमोक्त वर्ग द्वारा नाना प्रकार से शोषित होते है। इन दोनों वर्गों के हित एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है और उनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनवरत संघर्ष जारी रहता है। मार्क्सवाद मानव विकास के सम्पूर्ण इतिहास को इसी वर्ग-संघर्ष की गाथा मानता है। प्राचीन काल में ये विरोधी वर्ग क्रमशः मालिक और दास के रूप में थे, मध्यकाल में सामन्त,गण और

---

1. 'हरिजन सेवक, १८ जून, १९३९', पृ० १३० ।
2. 'हरिजन सेवक, २४ अप्रैल, १९३९', पृ० ९९ ।
3. किशोरीलाल मशरूवाला – गांधी एण्ड मार्क्स, पृ० ४३-४४ ।
4. बुखारिन —"हिस्टोरिकल मैटिरियलिज्म' आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा राष्ट्रीयता और समाजवाद में उद्धृत, पृ० ४९२ ।

कृषक दास के रूप में थे और आजकल पूंजीपति व श्रमिकों के रूप में दिखाई पडते है। वैसे तो समाज में इन आधारभूत वर्गों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के वर्ग भी पाए जाते है परन्तु इन वर्गों के हित अन्ततोगत्वा इन्हीं आधारभूत वर्गों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होते हैं। मार्क्सवाद उन समस्त साधनों के उपयोग का कट्टर समर्थक है जिनके द्वारा वर्ग संघर्ष को उत्तेजना मिलती है। जो कृत्य वर्ग-संघर्ष की आग पर पानी डालते हैं, मार्क्सवाद उन्हें प्रतिक्रियावादी ठहराता है।

गांधीवाद वर्ग-संघर्ष का नहीं, प्रत्युत वर्ग-सामंजस्य का पुजारी है। वह समाज को स्थायी रूप से दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित नहीं मानता। गांधी जी के सर्वोदय-आदर्श में पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों के हितों के संरक्षण और विकास की समान व्यवस्था है। गांधीजी जिस रामराज्य का स्वप्न देखते थे उसमें वह राजाओं और भिखारियों दोनों के अधिकारों की रक्षा की बात कहते थे। वह ऊँचे और नीचे वर्गों की समस्या का वर्णाश्रम-धर्म के द्वारा सुलझाना चाहते थे। पूँजीपतियों और श्रमिकों में समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से गांधीजी कहा करते थे, "पूँजीपतियों और श्रमिकों को एक-दूसरे का पूरक बन जाना चाहिए। उन्हें एक ऐसे विशाल परिवार के समान होना चाहिए जिसमें वे एकता और सामंजस्य के साथ निवास कर सकें।"[१] उनका मत था कि "मैं किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें एक व्यक्ति दूसरे से अधिक धनी नहीं होगा। लेकिन मैं ऐसे समय की कल्पना अवश्य करता हूँ जब अमीर आदमी गरीबों का शोषण कर अमीर बनने से घृणा कर देंगे और गरीब आदमी अमीरों से घृणा करनी बन्द कर देंगे।"[२] महात्माजी पूँजीपतियों का नहीं, पूँजीवाद का ही विध्वंस चाहते थे। पूँजीपतियों के लिए परामर्श था कि आपको श्रमिकों का ट्रस्टी बन जाना चाहिए अथवा आचार्य विनोबा भावे की शब्दावली में "विश्वस्त वृत्ति से काम लेना चाहिए।"

साधन प्रणाली का भेद—गांधीवाद और मार्क्सवाद में एक प्रधान अन्तर साधन-प्रणाली के भेद को लेकर है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार यदि हमारे साध्य श्रेष्ठ है तो हम उनको प्राप्त करने के लिए कैसे भी साधनों का प्रयोग क्यों न करें, सब क्षम्य है। यही कारण है कि मार्क्सवाद के अनुयायी अपने आदर्शों की सिद्धि के लिए छल, असत्य और हिंसा आदि बुरे समझे जाने वाले उपायों का आश्रय लेना भी अवांछनीय नहीं समझते। वैसे तो मार्क्सवादी अपने उद्देश्य लाभ के लिए शान्तिपूर्ण और वैधानिक कार्यवाहियों का भी सर्वथा तिरस्कार नहीं करते, परन्तु उनका

१. "यंग इण्डिया, १९२० अगस्त, २५", पृ० २८५।
२. "यंग इण्डिया, १९२१ जुलाई", २१", पृ० २२८

विश्वास है कि सत्ता-च्युत पूंजीपति वर्ग की क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रियावादी हलचलों को नष्ट करने के लिए किसी न किसी स्तर पर रक्तपात और हिंसा का उपयोग अवश्यम्भावी है।

गांधीवाद श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का पक्षपाती है। वह अहिंसा तथा सत्य का एक निष्ठ पुजारी है और अपने कट्टर-से-कट्टर शत्रु के प्रति भी सदय व्यवहार का समर्थन करते हैं। चूंकि गांधीवाद की धारणा है कि सृष्टि के प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश है, इसलिए वह मनुष्य के हृदय-परिवर्तन में आस्था रखता है। गांधीजी का मत था कि उनके सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का सर्वत्र सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। वह कहा करते थे कि "हिंसा के ऊपर किसी भी स्थायी वस्तु का निर्माण नहीं किया जा सकता।"[1]

लोकतन्त्र की धारणा—मार्क्सवाद विद्वान लोकतन्त्र के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हैं। उनके मत में यह एक विशुद्ध पूंजीवादी धारणा है जिसका सर्वहारा वर्ग के लिए कोई उपयोग नहीं है। ट्राटस्की ने लिखा था—"लोकतन्त्र एक निकम्मा और निरर्थक स्वांग है। हम सर्वहारा वर्ग के नाम से इसका प्रतिकार करते हैं। लोकतन्त्र के द्वारा शक्ति प्राप्त करने का इरादा बिल्कुल बेकार है।"[2] मार्क्सवाद के अनुयायी 'लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। वे अपने विरोधियों को भाषण अथवा प्रेस आदि की लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रताएं प्रदान करने के लिए तनिक भी प्रस्तुत नहीं हैं। मार्क्सवादी अपने लक्ष्य-वेध की सुविधा के विचार से चुनावों में भाग भले ही ले लें पर उनकी सामान्य नीति तो भूमिगत कार्यवाहियों और सशस्त्र क्रान्ति का समर्थन करने की है। स्टालिन के शब्दों में "कौन और कहां यह कहता है कि संसदीय संघर्ष ही मजदूरों का मुख्य संघर्ष है? क्या इतिहास यह सिद्ध नहीं करता कि संसद केवल एक सहायक के रूप में हमारी क्रान्ति की साधक है और मजदूरों की समस्याएं हड़ताल व सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा ही हल हो सकती हैं?"[3] मार्क्सवादी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उस समय तक कोई महत्व नहीं देते जब तक कि उसके साथ आर्थिक सुरक्षा संयुक्त न हो।

महात्मा गांधी जन्मजात लोकतन्त्रवादी थे। उनका मत था कि "असली लोक-

---

१. "यंग इण्डिया, १५ नवम्बर, १९२८" पृ० ३८१।

२. एम० एन० अग्रवाल द्वारा "गांधीज्म एण्ड कम्यूनिज्म" लेख में उद्धृत, माडर्न रिव्यू, नवम्बर, १९५७", पृ० ३४८।

३. स्टालिन —"प्रोब्लेम्स आफ लेनिनिज्म" पृ० ४३।

तत्व तो अहिंसा की ही जात हो सकता है।"[1] वह लोकतन्त्रात्मक धारणाओं को व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यावश्यक मानते थे। उनका कहना था कि लोकतन्त्र और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अभाव में 'रामराज्य' की स्थापना असम्भव है। गांधीजी की आदर्श समाज-व्यवस्था में क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति को महतो महीयान व्यक्ति की उन्मुक्त आलोचना करने का अधिकार प्राप्त था। गांधीजी प्रत्येक मनुष्य के लिए आर्थिक सुरक्षा को बहुत आवश्यक स्वीकार करते थे, परन्तु उसकी वेदी पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण—मार्क्सवाद सर्वाधिकारवादी राज्य की मान्यता पर आधारित है। वह सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का प्रतिपादन करता है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में प्रशासनिक और औद्योगिक शक्तियों का अधिकाधिक केन्द्रोन्मुखी होना सर्वथा नैसर्गिक है। मार्क्सवाद का अन्तिम आदर्श राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है, पर इतना उच्चतः केन्द्रोन्मुखी राज्य जैसा आज रूस में देखा जा रहा है, कैसे तिरोहित हो जाएगा, यह आसानी से समझ में नहीं आता।

गांधीवाद विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन करता है। गांधीजी केन्द्रीकरण और लोकतन्त्र को एक दूसरे के बिलकुल प्रतिकूल मानते थे। उनका कहना था विकेन्द्रीकरण से हिंसा और सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण था कि महात्मा गांधी बड़े-बड़े उद्योगों, मशीनों और केन्द्रोन्मुखी राजसत्ता के विरोधी थे। रूस में जिस विशाल पैमाने पर औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण हुआ, वह गांधीजी को इष्ट नहीं था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था, "जब मैं रूस की ओर देखता हूँ जहाँ औद्योगीकरण अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है, तब मुझे वहाँ का जीवन प्रभावित नहीं करता। बाइबिल की भाषा में यदि मनुष्य अपनी आत्मा को खोकर संसार भी प्राप्त कर ले, तो उसे क्या लाभ होगा।"[2] गांधीजी अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता और विकेन्द्रित राजसत्ता सहित ग्राम पंचायतों की स्थापना का समर्थन करते थे। उनका विश्वास था कि सर्वश्रेष्ठ शासन तो वही है जो न्यूनतम शासन करता है।

१४६. भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को महात्मा गांधी की देन

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रतीक—१६१६ के पश्चात् से भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन का इतिहास महात्मा गांधी की जीवन-गाथा है। प्रायः तीस वर्षों तक भारत के राष्ट्रवादी रंगमंच पर महात्मा गांधी ने अपना एकच्छत्र आधिपत्य जमाए रखा।

---

१. निर्मल कुमार बसु—"सेलेक्शन्स फ्राम महात्मा गांधी", पृ० ४३।

२. "हरिजन सेवक, २८ जून,' ३६", पृ० ४३८।

इस सम्पूर्ण ग्रवधि में वे भारतीय राष्ट्रवाद के एकमात्र सच्चे प्रतीक, प्रणेता और प्रेरक थे। उनके एक-एक कृत्य और वक्तव्य में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र भाव से सघर्षशील भारत की ग्रात्मा बोलती थी। उनके विद्युन्मय नेतृत्व और चुम्बकमय व्यक्तित्व ने भारत के स्वातन्त्र्य-सग्राम को एक नूतन दिशा दी और उसे बीसवीं शताब्दी का एक महाकाव्य बना दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदियों की दासता-निद्रा को त्याग ग्रगड़ाई लेकर उठते हुए भारतीय राष्ट्र ने महात्मा गांधी के रूप में अपनी समस्त राष्ट्रीय ग्राकांक्षाग्रों को साकार प्रतिमूर्ति प्राप्त की।

महात्मा गांधी के पूर्व भारत की राजनीति—भारत के राष्ट्रवादी ग्रान्दोलन को महात्मा गांधी की जो महान् देन है, उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए उनसे पूर्व की भारतीय राजनीति का सक्षिप्त सिंहावलोकन ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है। *जिस समय महात्मा गांधी दक्षिण ग्रफीका के सत्याग्रह-समर में विजय प्राप्त कर भारत लौटे, उस समय यहाँ दो राजनीतिक दलों-उदारवादी दल और उग्रवादी दल की तूती बोल रही थी।* उदारवादी दल ग्रपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वैधानिक ग्रौर शान्तिपूर्ण ग्रान्दोलन में विश्वास रखता था। उसका राजनीतिक लक्ष्य उस प्रकार की शासन-प्रणाली को प्राप्त करना था जिसका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित डोमीनियन करते हैं। उग्रवादी दल ब्रिटिश शासन का कटु ग्रालोचक था। वह ग्रपने राजनीतिक लक्ष्य के सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट ग्रौर निश्चित नहीं था। उसका 'स्वराज्य' का लक्ष्य उदारवादियों के 'स्वशासन' से बहुत भिन्न नहीं था। उग्रवादियों की साधन-प्रणाली में भी ग्रस्पष्टता की झलक मिलती है। ग्राचार्य कृपलानी के शब्दों में, "वे यह ग्रनुभव करते थे कि परिस्थिति को देखते हुए कुछ क्रान्तिकारी कार्यवाही करने की ग्रावश्यकता है, परन्तु वह क्रान्तिकारी कार्यवाही क्या होनी चाहिए, इसे वे न तो जानते ही थे, न निर्धारित ही कर सकते थे।"[1] सक्षेपतः महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक रगमच पर ग्रवतरण के पूर्व देश के पास न कोई स्पष्ट कार्यक्रम था ग्रौर न कोई निश्चित राजनीतिक ध्येय। *राष्ट्रीय ग्रान्दोलन केवल कुछ मध्यवर्गीय शिक्षित जनों तक ही सीमित था ग्रौर "हमारी जनता उनसत्ता, पीड़ा ग्रौर समय से भरे हुए कुछ इने-गिने वर्षों से नहीं, बल्कि पीढ़ियों से ग्रपना खून ग्रौर पसीना बहाती ग्राई थी ग्रौर यह क्रिया भारत की रग-रग में इतनी हुई इतनी गहरी पहुँच चुकी थी कि उससे हमारे सामाजिक जीवन का एक-एक पहलू विषाक्त हो गया था, ठीक उसी भयंकर रोग की तरह जो फेफड़ों के तन्तुग्रों को खा जाता है ग्रौर मनुष्य को धीरे-धीरे*

---

१ जे० बी० कृपलानी "गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ८।

किन्तु निश्चित रूप से अन्त कर देता है।"[1]

निर्भयता का संदेश—किसी भी संग्राम के सिपाही के लिए निर्भयता अत्यन्त आवश्यक है। भारत के महान् राजनीतिक विचारक चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि लोकनायकों का सबसे बड़ा कर्तव्य जनता को अभयदान देना है। उन देशों में जहाँ राष्ट्रीय सरकारें विद्यमान है, जनसाधारण की निर्भयता भाषण-स्वातन्त्र्य में अभिव्यक्त होती है। यदि जनता सरकार की नीति को बुरा समझती है तो, उसकी निर्भय कंठ से आलोचना करती है, उसे किसी प्रकार के दण्ड की शंका नहीं होती। लेकिन उन देशों में जो पराधीनता के पाश में जकड़े होते है, जनता को भाषण की अथवा सरकार की मनचाही आलोचना करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। भारत में भी यही बात थी। यहाँ "सबसे प्रमुख भावना भय की थी—एक सर्वव्यापी, दुःखदायी और गला घोटने वाला भय—फौज का भय, पुलिस का भय, अफसरों का भय, दमनकारी कानूनों का भय, जमींदार के गुमाश्ते का भय, महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुँहबाये खड़ी रहती थी।"[2]

महात्मा गांधी ने भय के इन बादलों को तीव्र मारुत के वेग से छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने भारतीय जनता को निर्भयता का सन्देश देते हुए घोषणा की, "वह राष्ट्र महान् है जो सदा मौत को तकिया बनाकर सोता है।"[3] वाइकाउण्ड सेम्युअल के अनुसार गांधीजी ने भारत को, "अपनी कमर सीधी करना सिखाया, अपनी आँखें ऊपर उठाना सिखाया और सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियों का सामना करना।"[4] गांधीजी ने अपने निर्भय नेतृत्व से 'पूर्वीय दब्बूपन के शिकार भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिकों को जिस कठिन असिधारा-व्रत पर साहसपूर्वक चलने की प्रेरणा दी, उसमें केवल आक्रमण का ही नहीं, प्रत्युत आत्म-रक्षा का भी अधिकार वर्जित है।

आन्दोलन का नैतिक आधार—संसार के इतिहास में इस बात का एक भी उदाहरण नहीं मिलता जब कि किसी राष्ट्र ने विदेशी शासन से हिंसा और रक्तपात के बिना स्वतन्त्रता हस्तगत की हो। इटली के एकीकरण, अमेरिका के स्वातन्त्र्य-युद्ध और आयरलैण्ड के राष्ट्रीय आन्दोलन—सबसे एक ही सत्य मुखर होता है कि यदि किसी देश को विदेशी साम्राज्यशाही से मुक्ति प्राप्त करनी है, तो हिंसा और रक्तपात अपरिहार्य है। स्वयं हमारे देश में तिलक जैसे उग्रवादी नेता इस बात का समर्थन

१. जवाहरलाल नेहरू—"राष्ट्रपिता", पृ० १४।
२. जवाहरलाल नेहरू—"राष्ट्रपिता", पृ० १५-१६।
३. महात्मा गांधी—"हिन्द स्वराज्य", पृ० ७३।
४. सर्वपल्ली राधाकृष्णन—"गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ" पृ० २२८-२९।

करते थे कि साध्य के सम्मुख साधन नगण्य है। उनका कहना था कि यदि हम श्रेष्ठ आदर्शों की प्राप्ति के लिए हीन उपायों का आश्रय लेते हैं, तो बिलकुल अनुचित नहीं है।

महात्मा गांधी इस विचार के अनुयायी नहीं थे। वह साध्य और साधन में अन्योन्याश्रित-सम्बन्ध मानते थे। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होने चाहिएँ। वह भारत की स्वतन्त्रता के लिए अतीव उत्सुक थे, लेकिन इसके लिए हिंसा, छल, कपट और असत्य आदि जघन्य उपायों का आश्रय लेना उन्हें कदापि इष्ट नहीं था। उन्होंने एक बार कहा था, "मेरे जीवन-दर्शन में साध्य और साधन का अन्तर नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन ही है। मैं कहूँगा कि साधन ही तो आखिर सब कुछ है। जैसे साधन होंगे, वैसा ही साध्य होगा। हिंसक साधन हिंसक स्वराज्य देंगे। वह संसार के लिए और स्वयं भारत के लिए एक खतरा होगा।"[1] गांधीजी ने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने देशभक्ति को "पूर्ण आत्मोत्सर्ग और गहन धार्मिक उत्साह की ऊँचाई पर उठा दिया।"[2] गांधीजी के नैतिक दृष्टिकोण का ही, जिसका उन्होंने राजनीति में अडिग भाव से पालन किया, यह फल था कि जहाँ उनसे कोई बड़ी भूल हुई, उन्होंने उसे निस्संकोच भाव से सार्वजनिक रूप से अपनी 'हिमालय-तुल्य भूल' कहकर स्वीकार किया, दूसरों के दोषों को भी अपने शीश पर लेने से कभी आगा-पीछा नहीं सोचा, वार करने से पूर्व शत्रु को सर्दैव चेतावनी दी और कठोर-से-कठोर संकट की घड़ी में भी अपने विरोधी का अपकार नहीं चाहा। उन्हें अपनी दुर्बलताओं और बुराइयों को भी जनता के सामने खोलकर रख देने में हिचक नहीं होती थी। वह ईसा और बुद्ध की भांति पाप से घृणा करते थे, पापी से नहीं, अन्याय से घृणा करते थे, अन्यायी से नहीं। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सिपाहियों को सर्दैव यही उपदेश दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी बनें, ब्रिटिश जाति के नहीं। उनका कहना था, "मैं अंग्रेजी के विरुद्ध नहीं हूँ, अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं हूँ, सरकार के विरुद्ध नहीं हूँ, लेकिन असत्य के विरुद्ध हूँ, पाखण्ड के विरुद्ध हूँ, अन्याय के विरुद्ध हूँ।"[3]

जनता का आन्दोलन—भारतीय राजनीति में गांधीजी के शुभागमन के पूर्व हमारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम केवल कुछ मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित

१. "यंग इण्डिया—२६ दिसम्बर, १९२४", पृ० ४२४।

२. नगेन्द्रनाथ गुप्त—"गांधी एण्ड गांधीज्म", पृ० ८।

३. आर० के० प्रभु और यू० आर० राव—"दी माइण्ड आफ महात्मा गांधी", पृ० १३५।

था। जन-साधारण से उसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं था। भारतीय राष्ट्रवाद की वाहन कांग्रेस अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों की संस्था थी। उनकी सम्पूर्ण कार्यवाही अंग्रेजी में संचालित होती थी। उसके समस्त उद्देश्य शिक्षित वर्गों के अधिकारों से सम्बन्ध रखते थे। वह शासन के ऊँचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की माँग करती थी, पर भारतीयों से उसका आशय अंग्रेजीदां शिक्षित भारतीय वर्ग ही होता था। राष्ट्रवादी नेता भारत के औद्योगिक पुनरुत्थान की बात अवश्य करते थे, लेकिन इस औद्योगिक पुनरुत्थान का आर्थिक आधार क्या हो, इस सम्बन्ध में उनकी कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। उन्हें भारतीयों की निर्धनता का ज्ञान अवश्य था, लेकिन यह ज्ञान उन्होंने पुस्तकों से प्राप्त किया था। वे "उन्नीस सौ मील लम्बे और पन्द्रह सौ मील चौड़े भू-तल पर छाए सात लाख गांवों में जगह-जगह बिखरे पड़े करोड़ों अधभूखों" की ज्वलंत समस्याओं और कठिनाइयों से व्यवहारतः बिलकुल ही अपरिचित थे। संक्षेपतः "उन दिनों की सम्पूर्ण कांग्रेस राजनीति भावनामय और अयथार्थ थी।"[1]

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते ही उक्त सारी स्थिति को बदल डाला। वह सच्चे अर्थों में जनता के नेता थे। उनकी घुटनों तक की धोती भारत की निर्धनता की साक्षात् प्रतीक थी। उन्हें भारत की ग्राम-समस्याओं का ठीक परिचय था। उनके गतिशील नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन जनता का आन्दोलन बन गया। गांधी जी ने कांग्रेस के संविधान में इस प्रकार संशोधन किया जिससे वह जनता की संस्था बन सके। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दुस्तानी में होने लगी। गांधीजी ने कहा कि असली भारत तो गाँवों में बसा हुआ है। उन्होंने कांग्रेस के स्वयंसेवकों को गाँव-गाँव जाकर काम करने का परामर्श दिया। इस तरह भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम की आवाज एक-एक गाँव में, एक-एक घर में पहुंच गई। गांधीजी ने जनता को आन्दोलन के लक्ष्य का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—"मेरा स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य है। जीवन की आवश्यकताएँ नरेशों तथा धनिकों के साथ-साथ आपको भी मिलनी चाहिएँ··· मैं इस सम्बन्ध में नतसन्देह हूँ कि स्वराज्य उस समय तक पूर्ण स्वराज्य नहीं है जब तक आपकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।"[2] गांधीजी ने अपने प्राणवान् नेतृत्व से उस "पतित, कायर और निराश जनता को जिसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीड़ित और पददलित करते आए थे और जिसमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी, ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो

१. जे० बी० कृपलानी—"गांधी दी स्टेट्समैन", पृ० ७७
२. "यंग इण्डिया, २६ मार्च, १९३१", पृ ४६।

अत्याचार का विरोध करने लगी और जिनमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गई।"[1]

क्रान्तिकारी आन्दोलन—महात्मा गांधी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को लोक-आन्दोलन ही नहीं बनाया, प्रत्युत उसे "क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में भी बदल दिया।"[2] उनसे पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन विशुद्ध वैधानिकवाद तक ही सीमित था। राष्ट्रवादी नेता प्रस्ताव पास करते थे, लेख लिखते थे, धुआंधार भाषण देते थे, कभी-कभी सरकार की हलकी-फुलकी निरर्थक आलोचना भी कर बैठते थे। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ठोस कार्यवाही करने का उन्हें कोई विचार नहीं सूझता था। गांधीजी दूसरी धातु के बने हुए थे। उनकी "आवाज शान्त और धीमी आवाज थी, लेकिन वह जनता की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, लेकिन उसमें कहीं-न-कहीं फौलादी स्वर छिपा हुआ था।"[3] गांधी जी ने जनता को सन्देश दिया कि "यदि हम स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषों की भांति रह नहीं सकते, तो हमें मरने में सन्तोष-लाभ करना चाहिए।"[4] उनका कहना था, "स्वराज्य एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के लिए दान कदापि नहीं है। यह वह निधि है जिसे राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ रक्त से खरीदा जाता है।"[5] उन्होंने जनता से यह दो टूक बात कह दी थी कि "स्वराज्य की जययात्रा में हमें जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड जैसे अन्यायों की बारम्बार आवृत्तियों के लिए तैयार रहना चाहिए।"[6] गांधीजी की राजनीति ने अपने पूर्ववर्ती नेताओं की राजनीति से प्रयाण चिह्नित किया। उनकी राजनीति आराम की नहीं, कष्ट की, पलायन की नहीं, जूझने की, बात की नहीं, काम की राजनीति थी।

१५०. महात्मा गांधी और समाज-सुधार

पृष्ठ भूमि—प्राय. पिछले एक सहस्र वर्षों से भारतीय समाज ऐसी अनेक भीषण सामाजिक कुरीतियों से पीड़ित रहा है जिन्होंने उसकी उन्नति के मार्ग में अनुल्लंघनीय रोड़े अटकाए हैं। इस बीच में समय-समय पर भारत-भूमि में ऐसे बहुत-

---

१. जवाहरलाल नेहरू—"राष्ट्रपिता", पृ० ३८।
२. कूपलैण्ड—"इण्डिया, ए रिस्टेटमेण्ट", पृ० १२६।
३. जवाहरलाल नेहरू—"राष्ट्रपिता", पृ० ४
४. "यंग इण्डिया—५ जनवरी, १९२२", पृ० [illegible]।
५. "यंग इण्डिया—५ जनवरी, १९२२", पृ० [illegible]।
६. "यंग इण्डिया—१८ फरवरी, १९२०", पृ० १००।

से समाज-सुधारकों का प्रादुर्भाव होता रहा है जिन्होंने इन सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की प्राणपण से चेष्टा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्हें थोड़ी बहुत सफलता भी मिली, पर समग्रतः सामाजिक कुरीतियों ने भारतीय जनता का पिण्ड नहीं छोड़ा। जिस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, वहाँ कन्या-वध, बाल-विवाह, शिशु-हत्या, दास-प्रथा, सती-प्रथा और अस्पृश्यता जैसी घातक सामाजिक कुरीतियाँ अपने निकृष्टतम रूप में विद्यमान थीं। ब्रिटिश शासकों ने हमें दो सौ वर्षों तक अपने पराधीनता-पाश में जकड़े रखा। इसके लिए हम उन्हें चाहे कितना ही पानी पी-पीकर कोसें, हमें इस बात के लिए उनका हृदय से आभार मानना ही चाहिए कि उन्होंने हमारे सामाजिक जीवन का सुधार करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों में नूतन जागृति उत्पन्न हुई और उन्होंने सत्वर सामाजिक-सुधारों की आवश्यकता का अनुभव किया। लार्ड विलियम बैंटिक ने सती-प्रथा, बाल-वध और ठगी का, लार्ड एलेनबरो ने दास-प्रथा का और लॉर्ड डलहौजी ने धार्मिक पूजा के स्थानों पर नर-बलि का अन्त किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और रामकृष्ण मिशन प्रभृति जो विविध धार्मिक आन्दोलन उठे, उनका भी भारतीय समाज सुधार के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है। गांधीजी ने अपने शतधार व्यक्तित्व से जहाँ राजनीति-क्षेत्र को आलोकित किया, वहाँ समाज-सुधार का क्षेत्र भी उनकी प्रतिभा के प्रकाश से जगमगा उठा। उनके हाथों भारतीय समाज-सुधार की दीपशिखा अपने उज्ज्वलतम रूप में प्रकट हुई।

उग्र सुधारक—महात्मा गांधी ने समाज-सुधार के प्रश्न को साधारण मिश्नरी की भांति नहीं, प्रत्युत उग्र सुधारक की भांति हल किया। उन्होंने जनता के मन में यह बात बैठा दी कि जिन्हें हम सामाजिक कुरीतियां कहते हैं, वे केवल सामाजिक विघ्न नहीं हैं, प्रत्युत राजनीतिक विघ्न हैं, जब तक हम उनका निवारण नहीं करते, हमारे राष्ट्रीय जीवन का कोई उत्थान नहीं हो सकता। उन्होंने ६ अगस्त, १६२१ को 'यंग इण्डिया' में लिखा था, "मेरा समाज-सुधार का कार्य मेरे राजनीतिक कार्य से किसी भी प्रकार कम या हीन नहीं था। तथ्य यह है कि जब मैंने देखा कि मेरा समाज सुधार का कार्य राजनीतिक कार्य की सहायता बिना नहीं चल सकता, मैंने राजनीतिक कार्य को अपने हाथ में लिया और उसी सीमा तक जहाँ तक उसने समाज-सुधार के कार्य में सहायता दी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे समाज या इस प्रकार की अन्तःशुद्धि राजनीतिक कार्य की अपेक्षा सौगुनी अधिक प्रिय है।"[1] गांधीजी का विश्वास था कि जितनी शीघ्र हम यह समझ लेंगे कि हमारी बहुत-सी सामाजिक

१. आचार्य कृपलानी द्वारा "गांधी दी स्टेट्स मैन" में उद्धृत पृ०, २७।

कुरीतियाँ हमारी यात्रा को अवरुद्ध करती है, उतनी ही शीघ्रता से हम अपने प्रिय लक्ष्य की ओर पग बढ़ाने में समर्थ होंगे। वह कहा करते थे कि समाज-सुधार को स्वराज्य-प्राप्ति के काल तक स्थगित करना स्वराज्य का अर्थ न जानना है।

अन्तर्साम्प्रदायिक एकता—अपने सामाजिक कार्यक्रम में गांधीजी अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की स्थापना को सबसे उपयोगी मार्ग समझते थे। देश में शान्ति और सुव्यवस्था के लिए साम्प्रदायिक एकता की महत्ता को जितना उन्होंने समझा था, शायद ही और किसी ने समझा हो। वे साम्प्रदायिक एकता को राजनीतिक दृष्टि से ही आवश्यक नहीं मानते थे वह भारत की साम्प्रदायिक एकता को मानवता के लिए एक मिसाल बना देने के आकांक्षी थे। गांधीजी ने इस तथ्य को अच्छी तरह से हृदयंगम कर लिया था कि भारतवर्ष नाना धर्मों, जातियों और साधनाओं का देश है, जब तक उनमें परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव नहीं रहेगा, देश उन्नति नहीं कर सकता। गांधीजी विभिन्न धर्मों के दीर्घ मनन और अनुभव के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे, "(१) सभी धर्म सच्चे है, (२) सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ गलती है, (३) सभी धर्म मुझे हिन्दू धर्म की भांति प्रिय है।"[1]

महात्मा गांधी की अहर्निश यही कामना रहती थी कि उनके सपनों का भारत एक ऐसे मनोहर उपवन के तुल्य बने जिसमें विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय सुवासित पुष्पों की भांति सुरक्षित हों। इस आदर्श की सिद्धि के लिए उन्होंने जीवन-भर कोशिश की। वह साम्प्रदायिक एकता का अर्थ हृदय की वह सच्ची एकता मानते थे जो तोड़ने से भी न टूट सके। उनके मन में इस एकता को स्थापित करने की सर्वप्रथम शर्त यह थी कि "हर एक कांग्रेसजन, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो, अपने आप में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जरथुस्ती, यहूदी आदि का, यानी एक शब्द में हर एक हिन्दू और गैर हिन्दू का प्रतिनिधि बने ......इसके लिए हर एक कांग्रेसजन को दूसरे धर्म के व्यक्तियों के साथ व्यक्तिगत मित्रता कायम करनी और बढ़ानी चाहिए। उसे दूसरे धर्मों के प्रति उतना ही आदर रखना चाहिए जितना कि अपने धर्म के प्रति।"[2] भारतीय राजनीति में जिस विषाक्त साम्प्रदायिक त्रिभुज का विकास हुआ, उसके लिए गांधीजी मुख्य रूप से ब्रिटिश शासकों को ही दोषी ठहराते थे।

महात्मा गांधी भारतवर्ष को एक पक्षी तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को उसके दो पर बताया करते थे। सन् १९२४ में उन्होंने कहा था, "आज ये दोनों पर अलग हो गए है और पक्षी आकाश में उड़कर स्वतन्त्रता का आशीर्वाद व शुद्ध हवा लेने में असमर्थ

१ निर्मलकुमार बसु —"सिलेक्शन्स फ्राम गांधी", पृ० २२६-२२७।
२ रामनाथ सुमन —"गांधी-वाणी", पृ० २२८।

है।"[1] स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जब सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिक उपद्रवों की ज्वाला से भस्मीभूत होने लगा था, गांधीजी को मर्मान्तक वेदना पहुची थी और उन्होंने अपनी ढलती आयु और स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों (बिहार और नोआखाली) की पैदल यात्रा की तथा साम्प्रदायिक आग पर पानी डालने का प्रयास किया। गांधीजी ने अपने जीवन का अन्तिम उपवास (१३ जनवरी, '४८ से १८ जनवरी,' ४८ तक) साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के ही लिए किया था। यह उनके सार्वभौम व्यक्तित्व का ही फल था कि कांग्रेस देश में धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्र की नींव डालने में समर्थ हुई।

अस्पृश्यता निवारण—महात्मा गाधी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए जो प्रचण्ड सघर्ष किया, वह उनके राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी सबसे प्रभावशाली कार्यों मे से एक है। गाधी जी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कोढ़ मानते थे। उनकी कट्टरवादियों को चेतावनी थी कि यदि अछूतो के साथ होने वाले अन्यायों का प्रतिकार न किया गया, तो हिन्दुओं का नाश हो जाएगा। भारत के अछूतों को जिस सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था, उन्हे निम्न से निम्न कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता था, उन्हे मन्दिर-प्रवेश, कुएं से पानी भरने और सार्वजनिक स्थानों के स्वच्छन्द प्रयोग जैसे मानवीय अधिकारो से वंचित कर दिया गया था, यह सब गांधी जी सहन नहीं कर सकते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से अस्पृश्यता आर्यों की भारत-विजय का सामाजिक फल था। आर्यों ने इस देश पर विजय प्राप्त करने के बाद बहुत से विजितों को अपने गुट मे मिला लिया। विजितो मे से जो सबसे पिछड़े हुए लोग थे, वे अछूत रह गए।[2] कालान्तर मे अस्पृश्यता प्रथा को धार्मिक सम्मोदन प्राप्त हो गया। बुद्ध, रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम और दयानन्द, प्रभृति लोकनायकों ने समय-समय पर इस प्रथा को पानी कर देने की चेष्टा की, पर वे अपने लक्ष्य मे पूर्ण सफल न हो सके।

महात्मा गाधी अस्पृश्यता-निवारण के लिए कितने आतुर थे, वह इस तथ्य से जाना जा सकता है कि यद्यपि धर्म उनके लिए सब कुछ था, फिर भी वह यह कहते हुए नहीं थकते थे कि यदि कोई यह सिद्ध कर दे कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अंग है, तो मै हिन्दू धर्म को त्याग दूंगा। वह कहा करते थे कि यदि मारन दूसरे देशों

१. हिन्दी नवजीवन—२-११-१९२४", पृ० ६५।

२. ए० आर० देसाई—"सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म", पृ० २४१।

के द्वारा पददलित किया जा रहा है, तो इसका मूल कारण यही है कि भारत ने अछूतों के रूप में अपनी पंचमांश जनसंख्या को पददलित कर रखा है। जब तक हम उन्हें उनकी हीनावस्था से मुक्त नहीं करते, स्वतन्त्रता असम्भव है। उन्हें यह कहते हुए संकोच नहीं होता था कि "यदि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को नहीं त्यागा, तो उसका मर जाना ही श्रेयस्कर है।"[1] दलित जनों के प्रति उनके हृदय में जो प्रगाढ़ प्रेम था निम्न उद्धरण उसका एक परिचय देता है, "मैं फिर से जन्म लेना नहीं चाहता, लेकिन यदि मुझे फिर से जन्म लेना ही पड़े, तो मैं एक अछूत के रूप में जन्म ग्रहण करना चाहूँगा ताकि मैं उनके क्लेशों, कष्टों तथा अपमानों में भाग ले सकूँ और इन दयनीय परिस्थितियों से स्वयं अपने को तथा उन्हें उबार सकूँ। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि यदि मुझे फिर से जन्म ग्रहण करना पड़े तो मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के रूप में नहीं, प्रत्युत अति शूद्र के रूप में जन्म मिलना चाहिए।"[2]

महात्मा गांधी ने अछूतों के लिए 'हरिजन' अर्थात् 'ईश्वर के जन' शब्द गढ़ा था। १९३२ में जब भारत का नया संविधान बनाते समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने निर्वाचन के लिए अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का कुचक्र रचा, गांधीजी ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर पूना पैक्ट द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के इस कुप्रयत्न को विफल कर दिया। गांधीजी द्वारा संस्थापित हरिजन सेवक संघ ने अछूतोद्धार की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है। हर्ष की बात है कि भारत के नए संविधान ने अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है।

नारी-जागृति—अर्वाचीन भारतीय इतिहास की एक दृष्टव्य विशेषता नारियों की अभूतपूर्व जागृति है। *ब्रिटिश पूर्व भारत में सुल्तान रजिया, चाँद बीबी, नूरजहाँ* और अहिल्याबाई होल्कर आदि कुछ इनी-गिनी राजमहिलाओं को छोड़कर स्त्रियाँ साधारणतः घर की चहारदीवारी में ही बन्द रहती थीं। आज भारतीय नारियों में जिस अभूतपूर्व जागरण के दर्शन हो रहे हैं, वे सहस्रों की संख्या में राजनीति में भाग लेतीं, उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करतीं और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पुरुष भाइयों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ती दिखाई दे रही हैं, उसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी को प्राप्त है।

महात्मा गांधी ने भारतीय नारियों की उन्नति के लिए अकथनीय चेष्टा की। नारी जाति के प्रति उनके हृदय में अपार सम्मान की भावना थी। वह नारी को पुरुष की दासी नहीं, साथिन मानते थे। उनका विश्वास था कि मानसिक क्षमता की दृष्टि

---

1. "यंग इण्डिया", २५ मई, २१-पृ० [illegible]।
2. "यंग इण्डिया", ४ मई, २१, पृ० [illegible]।

से नारी नर से किसी प्रकार घटकर नहीं है। वह इस बात का दृढ़ समर्थन करते थे कि नारी को नर के समान ही आत्मविकास के समस्त अवसर सुलभ होने चाहिएँ। उनके अनुसार "स्त्री अहिंसा की मूर्ति है। अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और उसका अर्थ है कष्ट सहने की अनन्त शक्ति। पुरुष की माता, स्त्री से बढ़कर इस शक्ति का परिचय अधिक-से-अधिक मात्रा में और कहाँ मिल सकता है?……युद्ध में फंसी हुई दुनिया आज शान्ति का अमृतपान करने के लिए तड़प रही है। यह शान्ति-कला सिखाने का काम भगवान् ने स्त्री को ही दिया।"[1]

महात्मा गांधी चाहते थे कि स्त्रियाँ स्वयं को अबला कहना छोड़ दें और अपने सम्मुख सीता, मैत्रेयी, अनुसुइया तथा दमयन्ती जैसी उदात्त सतियों के महनीय आदर्श रखें। उनका कहना था कि "वह स्त्री जो दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसके सतीत्व की सर्वोच्च ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है। ऐसी स्त्री के तेजमात्र से परपुरुष चौंधिया जाएगा और लाज से गड़ जाएगा।"[2] गांधी जी नारी जाति को जिस प्रकार श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, निम्न अवतरण उस पर समुचित प्रकाश डालता है, "स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है। उसे अबला कहकर पुरुष उसके साथ अन्याय करता है। यदि शक्ति का अभिप्राय पाशविक शक्ति है, तो निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कम पशुता है। परन्तु यदि इसका अभिप्राय नैतिक शक्ति है, तो निश्चिततः पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक शक्तिशालिनी है। यदि अहिंसा हमारे जीवन का मूलमन्त्र है, तो कहना होगा कि इस देश का भविष्य स्त्रियों के हाथ में है।"[3]

महात्मा गांधी को हिन्दू-विधवाओं की दयनीय दशा देखकर अपार वेदना होती थी। यद्यपि वह आत्मसंयत और मनोनिग्रह के घोर पक्षपाती थे, परन्तु उन्हें विधवा विवाह अथवा विवाह-विच्छेद पर कोई आपत्ति नहीं होती थी। वह बाल विधवाओं को कुमारियाँ ही मानते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में बाल-विवाह कोई विवाह ही नहीं था। उन्होंने दहेज-प्रथा के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई थी और लिखा था, "जब वर कन्या के पिता से, विवाह करने की दया के लिए दण्ड लेता है तब नीचता की हद हो जाती है। पैसे के लालच से किया गया विवाह विवाह नहीं है, एक नीच सौदा है।"[4] गांधीजी परदे की भी भर्त्सना करते थे। उनका मत था कि पवित्रता परदे की आड़

१. "हरिजन सेवक," २४-२-४०, पृ० १६।
२. "हरिजन सेवक," १३-३-४२, पृ० ६७।
३. "हिन्दी नवजीवन," १०-४-३०, पृ० ३७७।
४. "हिन्दी नवजीवन," ६-६-२८, पृ० २४।

में रखने से नहीं पनप सकती, वह तो मन को शुद्ध रखने में पनपती है। गांधीजी अपनी पतित बहनों को भी नहीं भूल सके। उन्होंने उन्हें पवित्र जीवन-यापन की प्रेरणा दी। वह मानते थे कि वेश्यावृत्ति उतनी ही पुरातन है जितनी यह दुनियां, पर यह आजकल की तरह नगर-जीवन का नियमित अंग शायद ही कभी रही हो। उन्होंने भविष्यवाणी की थी, "इस हालत में वह समय आए बिना नहीं रह सकता जब कि मानव-जाति इस पाप के विरुद्ध आवाज उठाएगी और वेश्यावृत्ति को भूतकाल की वस्तु बना देगी।"[1]

शिक्षा-पुनर्गठन—महात्मा गांधी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के कटु आलोचक थे। भारतीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में उनका विचार था कि इनमें "विश्व-विद्यालयों जैसी कोई विशेषता नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल-भर है। यदि हम उन्हें पश्चिमी सभ्यता का स्याहीसोख मान कहें, तो शायद बेजा न होगा।"[2] गांधीजी भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को तीन कारणों से सदोष मानते थे—(१) यह देशी संस्कृति की पूर्ण उपेक्षा कर विदेशी संस्कृति पर आधारित है, (२) यह हृदय और हाथ की शिक्षा पर ध्यान नहीं देती तथा अपने को केवल मस्तिष्क की शिक्षा तक ही सीमित रखती है।"[3]

महात्मा गांधी की दृष्टि में शिक्षा का सच्चा अर्थ मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास है। वह शिक्षा का परम लक्ष्य व्यक्ति का चरित्र-गठन मानते थे। उनका विश्वास था कि "साहित्यिक शिक्षा व्यक्ति की नैतिक ऊंचाई में एक इंच की भी वृद्धि नहीं करती और चरित्र-निर्माण साहित्यिक शिक्षा से स्वतन्त्र होता है।"[4] गांधीजी ने जनसाधारण के सांस्कृतिक जागरण के लिए बुनियादी तालीम अथवा वर्धा-शिक्षा-योजना की नींव डाली। उनका मत था कि असली शिक्षा तो तभी आ सकती है जबकि शरीर के अवयवों हाथ, कान, नाक आदि से इतर काम लिया जाए। वर्धा-शिक्षा-योजना में इस सिद्धान्त का अच्छी तरह से समावेश है। इस शिक्षा-योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह छात्रों को आर्थिक आत्म-निर्भरता प्रदान करती है।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति देशी भाषाओं के विकास के प्रति उदासीन है। गांधीजी को यह इष्ट नहीं था। उनका कहना था कि हमें अपनी देशी भाषाओं के उत्थान की

१. "हिन्दी नवजीवन," २८-५-२५, पृ० ३३८।
२. "हरिजन सेवक, २१-१-४०", पृ० ६१।
३. "यंग इण्डिया, १-६-२१", पृ० २३६।
४. "यंग इण्डिया, १-६-२१", पृ० १७०।

और ध्यान देने की प्रचुर आवश्यकता है। उन्होंने लिखा था, "यह स्पष्ट है कि जब तक हम इस काम को आगे नहीं बढ़ाते, हम अपने स्त्री-पुरुषों के बीच और अपने वर्गों तथा जनता के बीच बढ़ती हुई बौद्धिक और सांस्कृतिक खाई को दूर नहीं कर सकेंगे। यह भी निश्चित है कि देशी भाषाओं का माध्यम ही अधिक-से-अधिक लोगों में मौलिक विचारधारा उत्पन्न कर सकता है।"[1] लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं था कि गांधीजी दूसरी भाषाओं और संस्कृतियों के अनुशील को वर्जित करना चाहते थे। वह तो इस सिद्धान्त के उपासक थे कि, "मैं यह नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खड़ी हों और मेरी खिड़कियां बन्द हों। मैं चाहता हूँ कि सब देशों की संस्कृतियाँ मेरे घर के आसपास यथासम्भव स्वतन्त्रतापूर्वक बहें, परन्तु उनमें से कोई भी मेरे पैरों को उखाड़ दे, यह मैं अस्वीकार करता हूँ।"[2] गांधीजी कहा करते थे कि उच्च कोटि के विद्वान पुरुषों को अंग्रेजी भाषा का ही क्या, अन्यान्य समृद्ध विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन कर उनकी चुनी हुई पुस्तकों का देशी भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करना चाहिए।

हमारे वर्तमान शिक्षा-संगठन में एक भारी त्रुटि यह है कि इसमें छात्रों को नैतिक शिक्षा देने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं की गई है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि आज के युग में राजनीतिक और सामाजिक जीवन के प्रासाद को नैतिक आधार पर खड़ा करना अतीव आवश्यक है। गांधीजी इस त्रुटि को दूर करने के लिए विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के पक्षपाती थे। धार्मिक शिक्षा से उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि बच्चों को धर्म विशेष की रूढ़ियों का ज्ञान कराया जाए। धार्मिक शिक्षा से उनका मन्तव्य यही था कि छात्रों को सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि उन सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान कराया जाए जो सब धर्मों के मूल में समान रूप से विद्यमान हैं।

मद्य-निषेध—महात्मा गांधी शराब, अफीम, गांजा आदि मादक द्रव्यों के घोर विरोधी थे। उनकी इच्छा थी कि लोग शराब पीना छोड़ दें क्योंकि मद्यपान विषपान से भी अधिक घातक है। विष तो शरीर की हत्या करता है पर मद्य आत्मा को मार डालता है और मनुष्य को पशु बना देता है। गांधीजी मद्यपान को दुर्गुण की अपेक्षा बीमारी अधिक मानते थे। उनका कहना था, "मैं ऐसे बहुत से व्यक्तियों को जानता हूँ जो यदि शराब को छोड़ सकते, तो सहर्ष छोड़ सकते। मैं कुछ ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने कहा था कि यदि हमसे मद्यपान का लालच दूर कर दिया जाए, तो हम मद्यपान को अवश्य छोड़ देंगे। मद्यपान का लालच उनसे दूर किया गया फिर भी वे

१. "यंग इण्डिया, २५-४-२०", पृ० ४६५।
२. "यंग इण्डिया, १-६-२१", पृ० १७०।

छुप-छिपकर मद्यपान करते हैं······रोगी व्यक्तियों को स्वयं अपने ही विरुद्ध उपचार की आवश्यकता है।"[1] गांधीजी का सरकार के लिए परामर्श था कि वह ऐसे विश्रान्ति-गृह खोले, जहाँ थके-मांदे मजदूरों को विश्राम मिले और उनके लायक खेल खेलने का अच्छा प्रबन्ध हो। इस योजना का आचरण लोगों को स्वतः मद्यनिषेध की ओर प्रवृत्त करेगा। गांधीजी का विश्वास था कि मद्यनिषेध में जनता का शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार का कल्याण होगा। गांधीजी द्वारा प्रवर्तित असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में शराब की दुकानों पर धरना देना एक जरूरी कार्यक्रम रहता था। १९३७ में जब भारत के ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई, उन्होंने गांधीजी के इंगत पर आर्थिक हानि को सहते हुए भी कई स्थानों पर मद्यनिषेध की योजना को कार्यान्वित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यों की कांग्रेस सरकारें मद्यनिषेध के कार्यक्रम को यथासम्भव पूरा करने का प्रयास कर रही हैं।

१५१. गांधीजी की आर्थिक विचारधारा

एक विशिष्ट 'स्कूल'—जिस अर्थ में हम ऐडम स्मिथ और मार्शल को अर्थशास्त्री कहते हैं, महात्मा गांधी उस अर्थ में अर्थशास्त्री नहीं थे, फिर भी उनके समीप अपने निर्धन देशवासियों की सहायता करने के लिए एक व्यावहारिक आर्थिक कार्यक्रम था। यद्यपि महात्मा गांधी ने अर्थशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र पोथी नहीं लिखी है, पर जब हम उनकी अनेकों रचनाओं का अनुशीलन करते हैं, हमारे सम्मुख उनकी आर्थिक विचारधारा का एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। महात्मा गांधी ने शास्त्रीय दृष्टि से अर्थशास्त्री न होते हुए भी भारतीय अर्थशास्त्र पर व्यापक प्रभाव डाला है और "धीरे-धीरे हम देखते हैं कि सेवाग्राम की विनीत वेदी में अर्थशास्त्र का एक ऐसा विशिष्ट 'स्कूल' पनपता जा रहा है जो गांधीजी के आर्थिक विचारों को क्रमबद्ध करने और एक वैज्ञानिक आधार देने में प्रयत्नरत है।"[2] यह ठीक है कि गांधीवादी अर्थशास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है और समय-समय पर उसकी 'अग्नि-परीक्षा' भी होती रही है। इतने पर भी भारत के आर्थिक जीवन में उसका जो महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया है, उसे प्रचलित नपे-तुले आर्थिक सिद्धान्तों की शब्दावली द्वारा नहीं नापा जा सकता क्योंकि वह इन प्रचलित नपे-तुले आर्थिक सिद्धान्तों की मूलभूत धारणाओं को ही खुली चुनौती देता है।

अर्थशास्त्र और नैतिकता—महात्मा गांधी की अर्थशास्त्र सम्बन्धी मान्यता

---

१. "यंग इण्डिया, ६-७-२१", पृ० २१०।

२. डॉ० एच० जे० पी० श्रीवास्तव "थोट्स ऑन गांधियन कांसेप्ट ऑफ इकनोमिक्स (अमृत बाजार, ११-५-५३)"।

पश्चिम के 'क्लासिकल' कहे जाने वाले अर्थशास्त्रियों से बिलकुल अलग थी। वह अर्थ-शास्त्र को न तो मार्शल की भाँति "जीवन के सामान्य व्यवहार में मानव जाति का अध्ययन" मानते थे और न प्रो० केनन की तरह "उन साधारण कारणों की जिन पर मानव प्राणियों का भौतिक कल्याण निर्भर है, व्याख्या" ही स्वीकार करते थे। महात्मा गांधी की दृष्टि में तो अर्थशास्त्र जीवन के अन्यान्य सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि पहलुओं से संयुक्त था। उनकी आर्थिक विचारधारा का मूलाधार उनकी नैतिक सम्बन्धी भावना है। वह अर्थशास्त्र और नैतिकता के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींचते थे। उनका विचार था कि वह अर्थशास्त्र जिससे किसी व्यक्ति या राष्ट्र की नैतिकता को धक्का पहुंचता है, अत्यंत त्याज्य है। अर्थशास्त्र और नैतिकता के प्रगाढ़ सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था, "वह अर्थशास्त्र जो नैतिक मूल्य की उपेक्षा और अवहेलना करता है, झूठा है।"[1] उनके मत से "सच्चा अर्थशास्त्र नैतिक मापदण्डों के कभी विरुद्ध नहीं होता ठीक उसी प्रकार जैसे कि समस्त सच्चे नीतिशास्त्र का श्रेष्ठ अर्थशास्त्र होना भी आवश्यक है। वह अर्थशास्त्र जो कुबेर की उपासना सिखाता है और दुर्बल के मूल्य पर सबल को धन बटोरने में समर्थ करता है, एक झूठा और हीन विज्ञान है। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय का प्रतिपादन करता है, दुर्बलतम व्यक्ति के सहित सबका समान रूप से भला चाहता है और ऊँचे जीवन के लिए अपरिहार्य है।"[2]

आर्थिक आदर्श—यद्यपि महात्मा गांधी अपने लिए निर्धनता को ही श्रेयस्कर मानते थे, पर उनकी यह अहर्निश इच्छा रहती थी कि जन-साधारण का दारिद्रय मिटे। वह इसके लिए कठिन श्रम भी करते थे। आज समाज में धन का जो विषम विभाजन है, महात्मा गांधी उसे एक गहरी सामाजिक बुराई के रूप में देखते थे। उनके अनुसार "किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक महान सामाजिक अपराध या रोग है जिसका इलाज अवश्य होना चाहिए।"[3] महात्मा गांधी आर्थिक समानता को अहिंसक स्वतन्त्रता की गुरुकुंजी मानते थे। उन्होंने लिखा था, "आर्थिक समानता के प्रयत्न के माने पूंजी और श्रम के शाश्वत विरोध का परिहार करना है। उसके माने ये हैं कि एक तरफ से जिन मुट्ठी-भर धनाढ्यों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश एकत्रित हो गया है, वे नीचे को उतरें, और जो करोड़ों नंगे और भूखे हैं, उनकी भूमिका ऊँची उठे। जब

१ "यंग इण्डिया—२६ दिसम्बर, १६२४", पृ० ४२१।
२. "हरिजन—६ अक्टूबर, १६३७", पृ० २६२।
३. 'हरिजन सेवक—८ जून, १६४०", पृ० १३८।

तक मालदार और भूखी जनता के बीच यह चौड़ी खाई मौजूद है, तब तक अहिंसक राज्य-पद्धति सर्वथा असम्भव है***अगर सम्पत्ति का और सम्पत्ति से होने वाली सत्ता का खुशी से त्याग नहीं किया जाएगा और सार्वजनिक हित के लिए उनका सविभाग नहीं किया जाएगा, तो हिंसक क्रान्ति और रक्तपात अवश्यम्भावी है।"[1] महात्मा गांधी ने भारत के आदर्श आर्थिक संगठन का चित्र खींचते हुए कहा था कि "उसमें भोजन और कपड़े की किसी को कमी नहीं रहेगी।"[2] उनका विचार था कि यदि उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर जनता का नियन्त्रण हो जाए, तो ये आदर्श सर्वत्र प्राप्त किए जा सकते हैं। वह कहा करते थे, "ये वस्तुएँ सबको ठीक उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिएँ जिस प्रकार कि ईश्वर की वायु और पानी सबको प्राप्य है अथवा होने चाहिएँ। उन्हें दूसरों के शोषण का साधन बना लेना उचित नहीं है।"[3] महात्मा गांधी के मन में उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर किसी देश, जाति या जनसमूह का एकाधिकार सर्वथा अन्याययुक्त है।

'गांवों की ओर चलो'—भारत जैसे महादेश के लिए जिसकी ९० %जनसंख्या गांवों में बसती है, गांवों की उपेक्षा की दृष्टि से देखना आत्मघात के समान ही है। प्राचीन काल में भारतीय गांव जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं में स्वाश्रयी होते थे, पंचायती-प्रथा के द्वारा अपना शासन आप करते थे और देश के आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन के मेरुदण्ड बने हुए थे। महात्मा गांधी का ब्रिटिश शासन पर एक गम्भीर आक्षेप यह था कि उसने भारत के सात लाख गांवों को मरणासन्न स्थिति में पहुँचा दिया है। उन्होंने देशवासियों को 'है अपना हिन्दुस्तान कहाँ, वह बसा हमारे गांवों में' पाठ बार-बार पढ़ाया। उनका सन्देश था कि देश के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर घरबार से वियुक्त एक जगह पड़े रहने वाले मजदूर वर्ग का नहीं, अर्थ-पिशाच महाजन या व्यापारी समाज का नहीं, प्रत्युत सरल स्वभाव ग्रामीण जनता का प्रभुत्व होना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने 'गांवों की ओर चलो' का नारा उठाया था। भारत के गांव अशिक्षा-तम-मद्य-पान और सकीर्ण दृष्टिकोण जैसी असाध्य व्याधियों से पीड़ित है। गांधीजी ने लोगों को बताया कि वे सम्वेदनामय हृदय लेकर गांवों में जाएँ, वहां के निवासियों के सुख दुःख में एकरस होकर घुलें-मिलें, उनकी समस्याओं को सहानुभूति से समझें और उनके समाधान में प्रवृत्त हों। गांधी जी का यह विश्वास था कि यदि गांव नष्ट हो गए

---

१ गांधीजी—"कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम इट्स मीनिंग एण्ड प्लेस", पृ० १८।

२ "यंग इण्डिया, १५ नवम्बर, १९२८", पृ० ३८१।

३. "यंग इण्डिया, १५ नवम्बर, १९२८", पृ० ३८१।

भारत नष्ट हो जाएगा, भारत के अस्तित्व के लिए ग्रामों का उत्थान अतीव आवश्यक है। वह कहा करते थे, "अब तक हमें जीवित रखने के लिए सहस्रों गाँव मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। अब हमें उनको जीवित रखने के लिए मृत्यु को प्राप्त होना चाहिए।" [१] उनकी ग्राम-स्वराज की मान्यता ऐसे पूर्ण गणराज्य की मान्यता थी जो अपनी बड़ी-बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पड़ोसियों से स्वतन्त्र हो, लेकिन ऐसी बहुत-सी वस्तुओं में जिनमें अन्योन्याश्रित होना आवश्यक है, अन्योन्याश्रित भी हो।

मशीनों का विरोध—मशीनें जो आधुनिक सभ्यता की केन्द्रबिन्दु हैं, गांधीजी की दृष्टि में महापाप हैं, क्योंकि वे "सांप के बिल हैं जिनके भीतर एक नहीं सैंकड़ों सांप होते हैं। एक के पीछे दूसरा निकलता ही आता है। जहाँ कल-कारखाने होंगे, वहाँ बड़े शहर होंगे ही। जहाँ शहर हों वहाँ रेल और ट्राम होनी ही चाहिए। बिजली की रोशनी की जरूरत भी वहीं होती है। आप सच्चे वैद्य-डाक्टर से पूछें तो वे आपको बताएँगे कि जहाँ रेल, ट्रामें आदि बढ़ी हैं, लोगों की तन्दुरुस्ती बिगड़ गई है।" [२]

भारत की आर्थिक अधोगति में कल-कारखानों की मार का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मांचेस्टर की मार ने भारत को जो हानि पहुँचाई है, उसकी कोई हद नहीं। भारत के हस्तकला-कौशल जो प्रायः समाप्त हो गए, यह मांचेस्टर की ही कृपा है। गांधीजी के अनुसार भारत में मिलें खड़ी करने से यह अधिक अच्छा होगा कि हम मैंचेस्टर को पैसा दें और उसका रद्दी-राद्दी माल इस्तेमाल करें क्योंकि "उसका कपड़ा काम में लाने से तो हमारा केवल पैसा ही जाएगा" जबकि "हिन्दुस्तान में मांचेस्टर बनाने से हमारा पैसा तो हिन्दुस्तान में रहेगा पर वह हमारा खून लेगा क्योंकि वह हमारे चरित्र का नाश करेगा...यह मानना नासमझी ही होगा कि अमेरिका के राकफेलर से हिन्दुस्तान का राकफेलर अच्छा होगा।" [३]

मशीनों के ऊपर गांधीजी का मुख्य आक्षेप यह है कि "वे श्रम की इतनी बचत कर डालती हैं कि हजारों को भूखों मरना पड़ता है और उन्हें तन ढकने तक को कुछ नहीं मिलता।" [४] समय और परिश्रम का बचाव गांधी जी भी चाहते थे लेकिन "वह मुट्ठी-भर आदमियों के लिए नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के लिए...आज यन्त्रों के कारण लाखों की पीठ पर मुट्ठी-भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उन्हें सता रहे

१. "यंग इंडिया: १७ अप्रैल", २४, पृ. १३०।

२. गांधी जी—"हिन्द स्वराज्य" (हिन्दी, सस्ता साहित्य मण्डल,' ४७) पृ.१०९-११०।

३. गांधी जी, हिन्द स्वराज्य" पृ. १०७।

४ "हिन्दी नवजीवन, २ नवम्बर, २४", पृ. ९०।

है क्योंकि इन यन्त्रों के चलाने के मूल में लोभ है, धनतृष्णा है, जन-कल्याण की भावना नहीं।"[1]

लेकिन गांधीजी यन्त्रमात्र के विरोधी नहीं थे क्योंकि "मैं जानता हूँ मेरा शरीर ही एक बड़ा नाज़ुक यन्त्र है। मेरा विरोध यन्त्रों के सम्बन्ध में फैले दीवानपन के साथ है, यन्त्रों के साथ नहीं।"[2] गांधीजी सिंगर की मशीन जैसी उपयोगी मशीनों का कोई विरोध नहीं करते थे। उनका कहना था कि हमें उन घरेलू मशीनों में जिनका प्रयोग लाखों स्त्री-पुरुष कर सकें, हर प्रकार के सुधार का स्वागत करना चाहिए।

कुटीर-उद्योगों का जीर्णोद्धार—गांधीजी की आर्थिक विचारधारा में कुटीर उद्योगों के जीर्णोद्धार को बहुत आवश्यक स्थान प्राप्त है। उनके अनुसार अहिंसा और केन्द्रित उद्योगों का एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता। विशाल पैदावार प्रकृति और मनुष्य दोनों का शोषण करता है। फलतः गांधीजी भारत के औद्योगीकरण के विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह स्पष्ट लिखा था, जब भारत का उद्योगीकरण हो जाता है और वह दूसरे राष्ट्रों का शोषण प्रारम्भ कर देता है जैसा कि उसके औद्योगीकरण पर अवश्यम्भावी ही है, तब वह दूसरे राष्ट्रों के लिए एक अभिशाप, संसार के लिए एक खतरा बन जाएगा। क्या आप स्थिति की यह दुर्घटना नहीं देखते हैं कि हम अपने तीस लाख बेकार लोगों के लिए काम पा सकते हैं लेकिन इंगलैण्ड अपने तीन लाख बेकार लोगों के लिए काम नहीं पा सकता और एक ऐसी समस्या में घिरा हुआ है कि जिसके समाधान में वहां के बड़े-बड़े बौद्धिक दिग्गजों की बुद्धि हैरान है...यदि उद्योगीकरण का भविष्य पश्चिम के लिए अन्धकारमय है, तो क्या वह भारत के लिए और अधिक अन्धकारमय नहीं होगा।"[3]

गांधी जी भारत में खादी और चरखे के प्रचार को अत्यधिक महत्व देते थे। वे खादी को मुक्तिदाता और चरखे को स्वराज्य का सबसे बड़ा हथियार कहा करते थे। चरखा उनके अहिंसक समाज की बुनियादी ईंट था। गांधीजी की दृष्टि में चरखा उनके रचनात्मक कार्यक्रम के ग्रहमण्डल में सूर्य के सदृश था। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार भारत के किसान अपने पेट के लिए अनाज पैदा करके स्वावलम्बी बने हुए हैं, उसी तरह वे अपने खेतों में पैदा की हुई कपास को अवकाश में कातकर कपड़ा तैयार कर सकते हैं और विदेशों में जाने वाले करोड़ों रुपयों को बचा सकते हैं। मनुष्य की दो ही बड़ी आवश्यकताएँ हैं, रोटी और कपड़ा। जब वे उसे स्वतः प्राप्त हो जाएँगी

१ "हिन्दी नवजीवन, २ नवम्बर, २४", पृ. ८०।

२ "हिन्दी नवजीवन, २ नवम्बर, २४," पृ. ८०।

३ "यंग इंडिया, १२ नवम्बर, ३४", पृ. ३८६।

उसे दूसरों के मुँह की ओर न ताकना पड़ेगा, वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जाएगा। खादी के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी, "स्वराज्य के समान खादी भी राष्ट्रीय जीवन के लिए श्वास जितनी ही आवश्यक है। जिस तरह हम स्वराज को नहीं छोड़ सकते, उसी तरह खादी को भी नहीं छोड़ सकते। खादी छोड़ देने के माने होंगे भारत की जनता को बेच देना, भारत की आत्मा को बेच देना।"[1] महात्मा गांधी ने खादी और चरखे के प्रचार के लिए चरखा संघ की स्थापना की थी। चरखा संघ की शाखाओं-प्रशाखाओं ने सारे भारत में फैलकर लाखों लोगों को खादी-चरखे का भक्त बनाया।

श्रम और पूंजी—महात्मा गांधी साम्यवादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास न रखकर वर्ग-सहयोग और वर्ग-सामंजस्य के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्हें श्रमिकों द्वारा पूँजीपतियों का उन्मूलन इष्ट नहीं था क्योंकि उनकी धरणा थी कि पूंजीपतियों का भी, चाहे वे कितनी ही शोषक-वृत्ति के क्यों न हों, हृदय परिवर्तन हो सकता है। गांधीजी के मत से यदि पूंजीपति श्रमिकों के प्रति पितृात्मक भाव अपना लें और उन्हें अपने धनोपभोग में सहभागी बना लें तो वे भी समाज के प्रति अपूर्व उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा था, "श्रमिकों को पैदावार के साधनों का सेवक होने के स्थान पर, जैसा कि वे आजकल हैं, स्वामी होना चाहिए। पूंजी को श्रम का दास होना चाहिए, स्वामी नहीं।"[2] गांधीजी की श्रमिकों और पूंजीपतियों दोनों के लिए यह सलाह उचित ही थी कि उन्हें एक ओर तो एक दूसरे का तथा दूसरी ओर उप-भोक्ताओं का ट्रस्टी बन जाना चाहिए। यदि वे ऐसा कर सकें, तो उनके आपसी विवाद नाममात्र को ही रह जाएंगे।

महात्मा गांधी का विचार था कि श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध और नियमन में भाग लेने का, उचित अवकाश, अच्छा वेतन पाने का अधिकार मिलना चाहिए। वर्तमान काल में श्रमिकों की जो दयनीय स्थिति है, उससे उन्हें अपार क्षोभ होता था और उनका यह बार-बार कहना था कि श्रमिकों के नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए भगीरथ कोशिश करने की प्रचण्ड आवश्यकता है। यदि पूंजीपति श्रमिकों की न्याययुक्त माँगों को पूरा करने के लिए किसी भी प्रकार तैयार न हों, तो गांधीजी के अनुसार श्रमिकों को अहिंसक हड़ताल करने का पूरा अधिकार है।

---

१ "हिन्दी नवजीवन—१९ जनवरी, २८", पृ. १७३।

२ डा० धावन द्वारा उद्धृत—"पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी" पृष्ट २३६।

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थों की सूची

BIBLIOGRAPHY

Adhikari, G. : Pakistan and National Unity

Ahmad, J. : The Indian Constitutional Tangle

Aiyer, Sir P. S. S. : Indian Constitutional Problems

Ali, C. Rahmat : The Millat and the Mission

" : Pakistan

Ambedkar, B. R. : Thoughts on Pakistan

" : Pakistan

Anantanarayan, P. K. : India, Bound and Free

Ashraf, K. M. (Ed.) : Pakistan

Ashraf, Mohammad : Cabinet Mission and After

Bannerjee, A. C. : Indian Constitutional Documents 3 vols.

" : The Constitution of the Indian Republic

Bannerjee, A. K. : Study of the New Constitution of India

Bannerjee, D. N. : Some Aspects of the New Constitution

Bannerjee, H. N. : India's New Constitution

Bannerjee, Surendranath : A Nation in Making

Basu, B.D. : India Under the British Crown

" : Rise of Christian Power in India

Besant, Annie : How India Wrought for Freedom

Beverley, Nicholas : Verdict on India

Bose, Subhas C. : The Indian Struggle

Bose, N. K. : Selections from Gandhi

Bowen, H. C. : Mohammadenism in India

Brailsford, H. N. : Rebel India

" : Subject India

Brockway, A. Fenner : A Week in India

Buch, M. A. : Rise of Indian Nationalism

Casey, R C. : An Australian in India

Chakravarti, A. : Call it Politics?

" : Hindus and Mussalmans in India

Chatterjee, A C. : India's Struggle for Freedom

Chintamani, C. Y. : Indian Politics Since the Mutiny

Chintamani and Masani : Indian Constitution at Work

Chirol V. : Indian Unrest

Coatman, J.:	The Indian Riddle
"	The Years of Destiny
Cobban, A.:	National State and Self-determination
Cotton, H.:	New India
Coupland, R.:	The Indian Problem 1833-1935
"	Indian Politics 1836-42
"	The Future of India
"	India, A Restatement
Dalal Sir A.:	An Alternative to Pakistan
Datta, K. K.:	India's March to Freedom
Desai, A. R.	Social Background to Indian Nationalism
Dhawan, G. N.:	The Political Philosophy of Mahatma Gandhi
Durrani, F. M.:	The Meaning of Pakistan
Dutt, R. P.:	India Today
Edib, Hilde:	Inside India
Fischer, Louis:	Imperialism
"	A Week with Gandhi
"	The Life of Mahatma Gandhi
Friedmann, W.:	The Crisis of National State
Fox, Ralph:	Colonial Policy of British Imperialism
Gadgil, D. R.:	The Industrial Development of India in Recent Times
Gandhi, M. K.:	My Experiments with Truth
"	Hind Swaraj
"	Satyagraha
"	To the Protagonists of Pakistan
"	Delhi Diary
Garrat, G. T.:	An Indian Commentary
Hamza, El.:	Pakistan a Nation
Hoyland, J. S.:	Indian Dawn
"	Gopal Krishna Gokhale, His Life & Speeches
Hunter, Sir W.:	The Indian Mussalmans
Iqbal, Sir Mohd.:	Letters of Jinnah
Irwan, Lord:	Some Aspects of the Indian Problem
Jinnah, M. A.	Speeches and Writings
Jones, G. E.	Tumult in India
Joshi, G. N.:	The Constitution of India
Kabir, Hamayun:	Muslim Politics 1905-42
Khan, The Aga:	India in Transition
Khan, Sir Sikandar Hayat:	Outlines of a Scheme of Indian Federation
Keith, A.B.:	A Constitutional History of India

Krishna, K. B. : The Problem of Minorities
Lajpat Rai : Young India
Latif, S. A. : The Muslim Problem in India
Lele, R. P. : Constituent Assembly
Lovett, V. : History of the Indian Nationalist Movement
Macartney, C. A. : National States and National Minorities
Macdonald, J. Ramsay : The Awakening of India
Macnicol, N. : The Making of Modern India
Majumdar, B. : Indian Political Thought from Ram Mohan to Dayanand
Manshardt, C. : The Hindu Muslim Problem
Mazumdar, A. C. : Indian National Evolution
Mehta and Patwardhan : The Communal Triangle in India
Mitchell, Kate : India, an American View
Moon, P. : Strangers in India
Mukherjee, Radha Kamal : An Economist Looks at Pakistan
Mukherjee, Radha Kumud : A New Approach to the Communal Problem
Munshi, K. M. : I Follow the Mahatma
" The Changing Shape of Indian Politics
Narain, Jai Prakash : Towards Struggle
Naik, V. N. : Indian Liberalism
Nehru, Jawaharlal : Autobiography
" Unity of India
" Discovery of India
" Independence and After (Speeches)
Noaman, M. : Muslim India
Pal, B. C. : The New Spirit
" Memories of My Life and Tin
Palande, M. R. : Indian Administration
Paranjpye, R P. : The Crux of the Indian Proble
Payne, Robert : The Revolt of Asia
Phillip, H C. : India
Pithwala, M. A. : An Introduction to Pakistan
Polak, Brailsford and Pethick-Lawrence : Mahatma Gandhi
Prabhu, R. K. Lobo : The Mind of Mahatma Gandhi
Pradhan, R. C. : India's Struggle for Swaraj
Prasad, Beni : India's Hindu-Muslim Proble
Prasad, Rajendra : India Divided
" खंडित भारत
" Pakistan
"Punjabi, A" : The Confederacy of India

Punniah, K. M. : India's Constitutional History
Rai, Ganpat (Ed.) : Pakistan X-ra} ed
Rajput, A. B. : The Muslim League
Run, K. S. : The Crisis in India
Rezul Karim : Pakistan Examined
Raghuvanshi, V. P. S : Indian National Movement and Thought
Ramaswami, M. : The Constitution of Indian Republic
Santhanam, K. : The Constitution of India
Sayyid, H. M. : Mohammad Ali Jinnah
Sen, D K. : Revolution by Consent ?
Shah, K T. : Why Pakistan, Why Not ?
Sharma, Sri Ram : The Constitutional History of India
Shevlankar : The Problem of India
Shukla, V. N. : The Constitution of India
Singh, Gurmukh Nihal : Landmarks in Indian Constitution and National Development
,, भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास
Sitaramayya, P. : The History of the Indian National Congress—2 vols
,, कांग्रेस का इतिहास
,, The History of the Nationalist Movement of India
Smith, Robert A. : Divided India
Smith, W. C. : Modern Islam in India
Smith, W. R. : Nationalism and Reform in India
Spear, Percival : India, Pakistan and the World
Spratt, Phillip : Gandhism
Symonds, R : The Making of Pakistan
Thompson, E. : The Other Side of the Medal
,, The Reconstruction of India
,, Enlist India for Freedom
Topa, I. N. : The Growth and Development of Nationalist Thought in India
Venkataraman, T. S. : A Treatise on Secular State
Williams, Rushbrooke : What about India ?
Zacharias, H. C. E. : Renascent India
Zimmaern, A. E : Nationality and Government